

संस्कृतिका

समय-समाज के संदर्भों की शोध-पत्रिका

संपादक

डा. वज कुमार पाण्डेय

डा. दीपक कुमार राय

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I

दिल्ली-110091

वर्ष : 2 अंक : 3 □ अगस्त 2009

सैद्धान्तिकी

सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

संरक्षक:	डा. नवल किशोर डा. पी. एन. सिंह डा. एस. त्रिपाठी
परामर्श:	डा. गिरीश मिश्र डा. आर. एन. कुमार डा. जी. पी. ओझा राम लोचन सिंह
संपादक मंडल:	डा. शशिकांत राय डा. कृष्ण कुमार सिंह डा. अनिल कुमार सिंह
प्रबंध संपादक:	राम मुरारी
साज-सज्जा :	मो. सलीम अंसारी

संपादकीय सम्पर्क:

120, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-43015270, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com

मूल्य : रूपये 150.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट :

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

शिक्षा के मूल अधिकार विधेयक के झुल

विगत पांच वर्षों से संशोधनों, परिवर्द्धनों एवं वैश्विक निहितार्थों की अग्निपरीक्षा के पश्चात् “अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का अधिकार विधेयक-2008” अंततः लोकसभा से पारित होकर अधिनियम बन गया। अर्थात् 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए यह मूल अधिकार के हिस्से में शामिल हो गया। उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (केब) द्वारा नवम्बर 2004 में निर्मित विधेयक की यात्रा बेहद कठिन एवं दुखद है। लोकसभा चुनावों से ठीक पहले राज्य सभा में उपस्थापित यह विधेयक लगातार संशोधनों एवं परिवर्द्धनों के कारण अपने मूल स्वरूप से बिल्कुल भिन्न हो गया था। केब कमिटी ने विधेयक बनाते समय 1993 में उच्चतम न्यायालय के उन्नीकृष्णन फैसले, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 (मूल अधिकार के तहत जीने का अधिकार), राज्य के नीति निर्देशक तत्व में वर्णित धारा 45 और कोठारी आयोग की समान स्कूली प्रणाली के तहत पड़ोस विद्यालय पद्धति की मूल भावनाओं का भरपूर कद्र किया था। कहना न होगा कि केब कमिटी द्वारा निर्मित विधेयक शिक्षा के क्षेत्र में नये झरोखों को खोलने वाला था। परन्तु, केब कमिटी की इस उपसमिति के तत्कालीन अध्यक्ष वर्तमान में भारत के मानव संसाधन विकास मंत्री श्री कपिल सिब्बल को रास नहीं आया। स्मरण करें, पिछली यू.पी.ए. सरकार ने इसमें परिवर्तन करके मॉडल शिक्षा का अधिकार विधेयक को राज्यों को विधि बनाने के लिए विवश किया था और सर्व शिक्षा अभियान की राशि में कटौती का भय भी दिखाया था।

उस वक्त लगभग सभी राज्यों ने इसे केन्द्र सरकार की जवाबदेही मानकर वापस कर दिया था। पूरे देश में उक्त मॉडल विधेयक की काफी आलोचनाएँ हुई थीं- बहरहाल, लगभग उसी विधेयक को यू.पी.ए. की नई सरकार ने अपने नव उदारवादी नीतियों की प्रतिपूर्ति के लिए शिक्षा को निजीकरण एवं व्यावसायीकरण के गर्त में ढकेलने के उद्देश्य से संसद में पेश किया जो आज अधिनियम बन गया है। इस नये अधिनियम द्वारा सरकार सिर्फ 6 से 14 वर्ष के बच्चों को ही अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा देने के लिए बाध्य है। अर्थात् शून्य से 6 एवं 15 से 18 वर्ष तक के बच्चों का भविष्य भारत का भविष्य नहीं है। तात्पर्य यह कि इस अधिनियम के माध्यम से सरकार ने शिक्षा को पूर्णतः बहुपरती, भेदभावकारी एवं कॉर्पोरेट घरानों के हाथों में समर्पित करते हुए देश के साढ़े दस लाख सरकारी स्कूलों के प्रति जनता की विश्वसनीयता को खत्म करने की साजिश रच दी है। यह सच है कि सरकार के इस नवउदारवादी एजेंडे में शामिल शिक्षा व्यवस्था के खिलाफ न्यायालय के दरवाजे बंद किये जा चुके हैं। लेकिन, यह देश लोकतांत्रिक है। जन दबावों के आगे सरकारों को झुकना पड़ता है। अतः आज जरूरी है कि अलग-अलग क्षेत्रों में काम करने वाले बुद्धिजीवी, देश के पढ़े-लिखे नागरिक एवं आम जनता इस मुद्दे पर गंभीर हों और सरकार की नवउदारवादी एजेंडे के खिलाफ उठ खड़े होंगे।

—ब्रज कुमार पांडेय

इश अंक में

मनोविज्ञान समाजिक वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में किशोर अभियोजन : डॉ. अफरोज	7
इतिहास अपने शुरुआती दौर में द्वितीय विश्व युद्ध : कुमारी स्मृति चन्द्र	11
इतिहास भारत छोड़ो आन्दोलन के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पक्ष का विश्लेषणात्मक अध्ययन : संजय कुमार	15
इतिहास डॉ. अम्बेडकर और रूढ़िवादी हिन्दू-एक विश्लेषण : डॉ. सुबोध कुमार चौधरी	18
हिन्दी साहित्य राष्ट्रीय चेतना और भोजपुरी लोकगीत : डॉ. राम बालक यादव	20
हिन्दी साहित्य मानव-मुक्ति और वैचारिक प्रतिबद्धता ही है कविता: सुधीर कुमार	22
हिन्दी साहित्य आधुनिक साहित्य में स्त्री चिंतन की परंपरा : शिप्रा प्रभा	25
हिन्दी साहित्य हरिवंश राय बच्चन-हालावाद नहीं पालाबाद, एक समीक्षात्मक अध्ययन : मनीष कुमार	28
भूगोल भारत की जनसंख्या वृद्धि-समस्या एवं समाधान : एक समीक्षात्मक अध्ययन : डॉ. अर्चना	35
राजनीति विज्ञान इक्कीसवीं सदी में 'हिन्द स्वराज' : अखलाख अहमद	39
राजनीति विज्ञान गाँधी जी का 'ग्राम-स्वराज्य' और उसकी प्रासंगिकता : डा. प्रो. एस. डी. सिंह एवं डा. पूनम कुमारी	45
राजनीति विज्ञान नक्सलवाद-एक सामाजिक-आर्थिक समस्या : डा० पंकज कुमार	50
राजनीति विज्ञान गाँधी दर्शन में 'स्वराज्य' की अवधारणा : विनोद कुमार	53
राजनीति विज्ञान भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की समस्या : डॉ. अजय कुमार	56
संस्कृत साहित्य 'वर्तमान मानव हेतु श्रीमद्भागवद्गीता की प्रासंगिकता' : डॉ. प्रसून दत्त सिंह	60
संस्कृत साहित्य भाव स्वरूप साधना : डॉ. इन्दु कुमारी	63
संस्कृत साहित्य य ष व अनुस्वारस्य '-' च उच्चारणे यजुर्वेदस्य प्रभावः डा० बबुनन्दन मिश्रः (मधवापुरम)	67
समाज शास्त्र दहेज प्रथा एक ज्वलंत समस्या का समाजशास्त्रीय अध्ययन : विजय कुमार	68
समाज शास्त्र स्वतंत्रयोत्तर भारत में महिला शिक्षा की समस्या-एक विश्लेषणात्मक विवेचन : सुभाष चन्द्र प्रभात	72
समाज शास्त्र भारत में बाल-श्रमिकों की वर्तमान स्थिति, एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण : विकाश वर्मा	82
समाज शास्त्र बालश्रम एक सामाजिक समस्या-एक समाजशास्त्रीय अध्ययन : मो० इरशाद अली	88

समाज शास्त्र महिला सशक्तिकरण एवं पंचायतीराज—एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण बिहार के सन्दर्भ में : कुन्दन कुमार सुमन एवं डॉ० गिरीश गौरव	92
समाज शास्त्र बिहार में पंचायतीराज एवं महिला सशक्तिकरण—एक समाजशास्त्रीय अध्ययन : डॉ. बी. पी. मंडल एवं गजनपर आलम	96
समाज शास्त्र सूचना प्रौद्योगिकी—महिला सशक्तिकरण का सशक्त माध्यम—एक विवेचन : डॉ. अफरोज एकबाल	99
समाज शास्त्र रूढ़िवाद, साम्प्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता : विकास चन्द्र रंजन	103
समाज शास्त्र धर्म एवं आर्थिक व्यवस्था : रणवीर कुमार	106
समाज शास्त्र धर्म के प्रकार्यवादी सिद्धांत : नीलम कुमारी	109
समाज शास्त्र धार्मिक पर्वों का सामाजिक महत्व : सुजीत कुमार बसंत	112
समाज शास्त्र जीवन चक्रीय संस्कार—मृत्यु : देवेन्द्र कुमार	116
दर्शन शास्त्र डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार : शैलेन्द्र कुमार	119
Geography Global Warming and Natural Climate Change in the Past : Sanjay Kumar	122
Geography Mapmaking and its History : Dr. Mahesh Kumar	124
Geography Developments in Communication and Information Technology and their Impacts on Economy and Society : Binod Kumar Rajak	128
MSW Role of NGO and Government in Struggling Discrimination against Girl Child : Syed Azfar Hassan	131
Sanskrit Life with Secularism : Dr. Prasoon Dutta Singh	136
Economics Sectoral Trends and British Regional Economic Growth – A Spatial Econometric Perspective : Suresh Prasad	140
Economics Tribal and their Economic Situation (A study on North India Tribals) : Dr. Ajay Kumar Singh	143
Economics Health and Economical Problem of the Elder's in Rural Areas : Dr. Chandra Kant Singh	146
Economics Trends of Cost and Profitability of Banks : Dr. Gagandeo Pd. Yadava and Shri Ganesh Ray	149
Education Impact of Computer Aided Instructional Material for the Growth and Development of Learning behaviour in the Rural Area of Patna District : Rajesh Verma, and Kumari Nutan	154
Commerce WTO and Indian Agriculture : Vijay Kumar Jha	158
Commerce Food Security, Farming, and the WTO and CAFTA : Dr. Niteshwar Prasad	161

Home Science		
The Role of Parents in the Development of Peer Group Competence : <i>Shingla Prabha</i>		166
Home Science		
Political Empowerment of Women in India : <i>Rashmi Kumari</i>		168
Psychology		
Decision-Making and Decision-Making Processes : <i>Rashmi Singh & Dr. Sujeet Kr. Dubey</i>		171
Psychology		
Abraham Maslow's Hierarchy of Human Needs : <i>Dr. Asha Kumari</i>		174
Psychology		
Decision Making and its Theory : <i>Manoranjan Kumar Rai</i>		175
Political Science		
International Politics on Climate Change : <i>Raghwendra Kishor</i>		178
Political Science		
Geoeconomics in the Rise of the Super Trading Blocs and the Accent on Free Trade Regimes : <i>Pankaj Kumar</i>		181
Political Science		
The Gender Debate: An International Relations Perspective : <i>Dr. Arun Kumar Singh and Sri Gautam Kumar</i>		186
Environmental Studies		
Environment and Sustainable Development : <i>Nripendra Kr. Singh, Punam Kumari</i>		191
Philosophy		
The Will of the People : <i>Dr. Rita Kumari</i>		195
Philosophy		
Religion and Morality in the Twentieth Century : <i>Dr. Sanjay Kumar</i>		198
History		
Sources of Revenue Under Firoz Shah Tughluq : <i>Moon Arif Rahman</i>		201
History		
Techniques of Wood Carving in Ancient India : <i>Dr. Lalit Kishore</i>		205
History		
Contacts with the Hellenistic world in Maurya Empire : <i>Raj Kumar Prasad</i>		208
History		
Gupta and Harsha the Classical Age : <i>Om Rajput</i>		211
History		
Immigrations of Indo-Aryan Speaking Tribes : <i>Dilip Kumar Yadav</i>		213
History		
Middle Kingdoms of India : <i>Dr. Sunil Kumar</i>		216
History		
Famines, Epidemics, and Public Health in the British Raj: <i>Dr. Birendra Kumar Singh</i>		219
History		
History of Arabs in Afghanistan : <i>Adarsh Kumar</i>		225
History		
Farmers' Movements in India: <i>Dr. Rajeev Kumar</i>		227
History		
Muslim Conquest in the Indian Subcontinent : <i>Nand Kishore Ram</i>		232
History		
Science and Technology in Ancient India: <i>Dharmendra Dhari Singh</i>		235
History		
Revolutionary Movement for Indian independence: <i>Deepak Kumar Rajak</i>		239
Prakrit & Jainism History		
Karma in Jainism : <i>Lakhindra Kumar</i>		244

समाजिक वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में किशोर अभियोजन

डॉ. अफरोज

अभियोजन शब्द अपने आप में एक ऐसा विषय है कि जिसका सामना मनुष्य जन्म से लेकर जीवन के अन्तिम साँस तक करता रहता है। जो इंसान अभियोजन की कला सीख लेता है वह इस संसार में सफल कहलाता है अन्यथा उसे प्रत्येक क्षेत्र में असफलता ही हाथ लगती है। अर्थात् कहा जा सकता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्धारण अभियोजन की सफलता एवं विफलता पर ही निर्भर करता है। इसकी बुनियाद जन्म के समय ही पड़ती है जो निरन्तर गतिशील रहती है और इस पर अनेकों कारक अपना प्रभाव डालते हैं। एडलर के अनुसार श्रेष्ठता प्राप्त करने की इच्छा जन्म जात होती है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शरीर के विकास के साथ-साथ चलती रहती है। सफल होने की इच्छा मानव जीवन, संस्कृति और सभ्यता का परम सत्य है। एडलर ने व्यक्तित्व निर्माण में जीवन के प्रारम्भिक वर्षों की महत्वपूर्ण भूमिका मानी है। उनके अनुसार यदि माता-पिता समझदार हों तो बच्चा अपनी कमजोरियों को मजबुतियों में बदल सकता है। बच्चों को अत्यधिक लाड-प्यार और अत्यधिक तिरस्कार दोनों ही जीवन के अभियोजन में बाधक होते हैं। अमीर माँ बाप अपना साम्राज्य फैलाने में इतना व्यस्त रहते हैं कि अपने ही बच्चों के लिए उनके पास समय नहीं होता। आया और मैनेजर की निगरानी में पले उनके बच्चों को जरूरी मार्ग दर्शन नहीं मिल पाता जिससे जिन्दगी को लेकर उनमें कुछ मान्यताएँ पनप सकें। बच्चों में अमूमन जीवन के पहले तीन चार वर्षों में ही विश्वास और लगाव की भावना विकसित होती है, इसी उम्र में दुसरों के प्रति स्नेह और सहनुभूति के भाव भी घर जमाते हैं। दिल्ली की बाल मनोविज्ञानी 'गुरभीत कौर कहती हैं जिन बच्चों के माँ बाप उन्हें समय नहीं देते उनमें से कई गलत लोगों के साथ संगत कर लेते हैं, माँग पूरी नहीं होने पर उनमें हिंसक मनोवृत्ति विकसित होती है। अकूत पैसा और कम

निगरानी से घातक परिणाम सामने आ सकते हैं। जैसे कुछ दिन पूर्व दिल्ली के एक अमीर बिल्डर के बेटे ने महज अपनी बात साबित करने के लिए ("मैं लोगों को इस तरह मारता हूँ") अपने दोस्त के फार्म हाउस पर अपनी पिस्तौल निकाल कर एक माली को मार डाला। जिसकी परिणति तिहाड़ जेल की सजा होती है।

इस प्रकार हमारे समाज का एक वर्ग धनोपार्जन की भाग दौड़ में अपने बच्चों पर समय नहीं देते परिणाम स्वरूप उनके बच्चों में अभियोजन की क्षमता का समुचित विकास नहीं हो पाता है। दूसरी तरफ समाज का दूसरा तबका जीविकोपार्जन की भाग दौड़ में अपने बच्चों पर समय नहीं दे पाता है। समाज के निम्न श्रेणी के लोग परिवार के लिए दो जून की रोटी के जुगाड़ में अपना सारा समय गंवा देते हैं। मजदूरी करने के चक्कर में उनके पास इतना समय ही नहीं बचता है कि वे अपने को दे पाये। परिणाम स्वरूप उनके बच्चों में आपराधिक प्रवृत्ति विकसित होती है अर्थात् अभियोजन की क्षमता का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। इसलिए माता-पिता को आत्मावलोकन करने की जरूरत है, क्योंकि उनके बच्चे उन्हीं के प्रतिरूप होते हैं। हाल में हुए एक अध्ययन का कहना है कि शिशु के जन्म लेने से पहले ही उसकी बुद्धिमत्ता का विकास हो जाता है। "पर्थ" के "तेलेथान इन्स्टीट्यूट फार चाइल्ड हेल्थ रिसर्च" के नेतृत्व में हुए एक अध्ययन में कहा गया है कि जिन बच्चों का गर्भ में अच्छा विकास होता है उनमें प्राथमिक विद्यालय में गणना और शैक्षिक दक्षता के बीच सीधा सम्बन्ध पाया गया। दूसरी तरफ प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक "वाटसन" ने बच्चों के व्यक्तित्व एवं चरित्र निर्माण में केवल वातावरण के प्रभाव को ही माना है। बच्चा एक पूर्व निर्धारित वातावरण में जन्म लेता है। तत्पश्चात् उस पर वातावरण का घात प्रतिघात शुरू हो जाता है, जो एक-एक अनुभव के रूप में बच्चे के मस्तिष्क को प्रभावित करता है। समाजिक एवं पारिवारिक परिवेश बच्चों को हमेशा एक जैसा अवसर प्रदान नहीं कर सकते हैं। जिसके बहुत से कारण हो सकते हैं, जिनमें समाजिक, पारिवारिक, आर्थिक यदि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक सामान्य बच्चा अपने अभियोजन की कला तभी सीख सकता है, जब उसे सहानुभूतिपूर्वक, अभावरहित माहौल मिलता रहे। समुचित वातावरण के अभाव में उसके

भीतर हर पल हीनता की भावना विकसित होती है जो अभियोजन का प्रबल शत्रु है। अतः जो समाज उसके मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ढंग से नहीं कर पाता उस समाज में पलने वाले व्यक्ति का न तो सामान्य व्यक्तित्व हो पाता है और न ही उसके व्यवहार ही सामान्य रह पाते हैं।

इस प्रकार देखा जाये तो किशोर अभियोजन में समाजिक वातावरण अर्थात् समाजिक ढाँचे की महत्वपूर्ण भूमिका है। क्योंकि जैसा समाज होगा वैसा ही हम होंगे और जैसे हम होंगे वैसा ही हमारा बच्चा होगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अभियोजन की प्रक्रिया को सही ढंग से समझने के लिए समाजिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हुए अभियोजन के साथ इसके संबंध का विश्लेषण किया जाये। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य इसी बिन्दु पर आधारित है कि हमारा समाजिक ढाँचा अर्थात् वर्ण व्यवस्था किशोर अभियोजन को किस रूप में प्रभावित करता है।

परिवार का सामाजिक स्तर :

भारतीय समाज वैदिक काल से ही सामाजिक दृष्टिकोण से अनेक समाज वर्णों में विभाजित है यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। कालक्रम में इस सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों का सामाजिक स्तर भी एक समान नहीं रहा। समाज में ब्राह्मण और शूद्र का समान स्तर कभी नहीं हो पाया। चाण्डालों से स्पर्श तक वर्जित था। गाँधी युग के पश्चात् इस स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य आया किन्तु, स्वतंत्रता प्राप्ति के 62 वर्ष बाद भी वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज का मौलिक ढाँचा

आमूलचूल परिवर्तित नहीं हो सका। आज भी निम्न एवं पिछड़ी जातियों को वह सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है जो उच्चवर्ण जातियों को प्राप्त है। वर्ण व्यवस्था पर आधारित प्रतिवेदन को पूर्ण प्रमाणिक मानते हुए सरकार ने 1990 ई० में मंडल आयोग की सिफारिशों का कार्यान्वयन किया। नौकरियों में आरक्षण विषयक सरकारी आदेश के प्रति पक्ष-विपक्ष में चलाए जा रहे आन्दोलनों से यह प्रमाणित होता है कि आज के तथा कथित प्रगतिशील भारतीय समाज में भी विभिन्न वर्णों को समान प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हैं अतः यह मानना तर्क संगत है कि सामाजिक स्तर किशोर अभियोजन को प्रभावित करता है अतः -यह प्राक् कल्पना की जाती है कि उच्च पारिवारिक सामाजिक स्तर में उच्च स्व मध्यम तथा निम्न पारिवारिक-सामाजिक स्तर से निम्न किशोर अभियोजन पाया जायेगा।

विधि:- जन संख्या में सामाजिक स्तर एवं किशोर अभियोजन के मापन हेतु किशोर समायोजनक विश्लेषक पाण्डेय, 1980 का प्रयोग किया जायेगा।

क्षेत्र:- मुजफ्फरपुर तथा वैशाली के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के किशोरों पर अध्ययन किया जायेगा।

प्रतिदर्श:- मुजफ्फरपुर तथा वैशाली के शहर एवं ग्रामीण क्षेत्रों से तीन सौ किशोर को अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया तथा तीनों ही वर्ण समूहों के आधार पर तीन समूह का निर्माण किया गया और यह देखा गया कि सामाजिक स्थिति का किशोर समायोजन पर प्रभाव पड़ता है या नहीं।

संयंत्र या मापनी:- वर्तमान अध्ययन

के लिए गए प्रयोज्यों की सामाजिक स्थिति को मापने के लिए व्यक्तिगत सूचना पत्र प्रेषित किया गया जिसमें प्रयोज्यों से निम्नलिखित प्रश्न पूछा गया आप की जाति क्या है ? (आप पर जो लागू हो टिक चिन्ह लगावें।)

- (क) उच्चवर्ण जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ, शेख, सैयद, पठान इत्यादि
- (ख) मध्यवर्ण जैसे यादव, कुर्मी, हजाम, लोहार इत्यादि।
- (ग) निम्नवर्ण जैसे हरिजन, अनुसूचित जाति एवं जनजाति, आदिवासी इत्यादि।

भारतीय समाज आदिकाल से ही अनेक जातियों में विभक्त है आधुनिक परिवेश में भी वर्तमान भारत सरकार ने जाति के आधार पर उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्णों में समाज को विभाजित कर दिया। आज के परिवेश में यह जाति प्रथा उतरोत्तर दुर्बल होती जा रही थी किन्तु वर्तमान राजनैतिक उथल-पुथल के कारण वर्ण भावना प्रत्येक जन मानस को एकबार फिर उद्वेलित करने लगी है अब तो यह समस्या बहु आयामी हो गयी है। प्रत्येक वर्ण एक दूसरे पर प्रबल होने की चेष्टा कर रहा है। यह राजनीति केवल सत्ता-प्रतिष्ठान पर ही आक्रमण करने की नहीं है अपितु उन सभी क्षेत्रों पर आघात करने की है जिसमें दलितों, पिछड़ों को उनके उचित भाग से अब तक वंचित रखा गया है इस प्रक्रिया के दबाव अभी पूरे भारत में देखे जा सकते हैं। समाज शास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों की यह तर्कना है कियह सुसंस्कृत होने तथा आर्थिक प्रगति की निशानी है। संभव है यह सत्य भी हो परन्तु अधिक सत्यता इस तथ्य में है कि

यह वर्ण अपने-अपने ढंग से प्रत्येक क्षेत्र में अस्तित्व रक्षा तथा नेतृत्व की तैयारी कर रहा है। आज पिछड़े वर्ण अधिक सुविधा की स्थिति में है। विभिन्न विकास योजनाओं के माध्यम से सरकारी अनुदान का अच्छा खासा हिस्सा पिछड़ी जातियों के पास पहुँचता है। इन वर्णों में पूँजी का संचय तीव्र गति से हुआ है तथा गाँवों के साथ-साथ शहरों में भी इन्होंने नये आर्थिक आधारों का निर्माण किया है।

इस सामाजिक परिवर्तन की स्थिति में भी रुढ़िगत जाति प्रथा, ग्रामीण क्षेत्रों में वैचारिक स्तर पर अपना प्रभाव डालती आ रही है। आज भी उच्च वर्ण समाज में प्रतिष्ठित माने जाते हैं और निम्नवर्ग अपमान, भर्त्सना, तिरस्कार तथा उपेक्षा से संतुष्ट हो रहा है। इसी आधार पर इन वर्णों के सदस्यों की मनोवृत्ति व्यवहार प्रणाली तथा अभियोजन प्रणाली को प्रभावित करती रही है।

सामाजिक स्थिति एवं किशोर अभियोजन

विभिन्न सामाजिक वर्णों को निर्धारित करने के लिए किशोरों के प्रतिदर्श (संख्या तीन सौ) जिसका पूर्ण विवरण पूर्व में किया जा चुका है पर व्यक्तिगत सूचना पत्र में उनकी जाति के बारे में प्रश्न पूछा गया। प्रयोज्यों की प्रतिक्रिया के आधार पर पूर्ण प्रतिदर्श तीन वर्णों में विभाजित हुआ। इसे ही सामाजिक स्तर का द्योतक माना गया।

इन तीनों ही वर्णों के आधार पर यह प्राक्कल्पना की गयी थी कि उच्च पारिवारिक सामाजिक स्तर (उच्च वर्ण) में उच्च और मध्यम तथा निम्न पारिवारिक सामाजिक स्तर (निम्नवर्ण) में निम्न

किशोर अभियोजन पाया जायेगा। सम्पूर्ण प्रतिदर्श को वर्ण के आधार पर तीनों समूहों को क्रमशः उच्च वर्ण, मध्यम वर्ण समूह तथा निम्न वर्ण समूह माना गया। तीनों ही समूहों में प्रयोज्यों की संख्या एक सौ रखी गयी।

इन तीनों समूहों के प्राप्तांकों पर आधारित विभिन्न सांख्यिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन तथा समूहों की अन्तर्क्रिया को जानने के लिए प्रसरण विश्लेषण विधि का प्रयोग किया गया, जिसका परिणाम सारिणी संख्या एक में द्रष्टव्य है।

सारिणी संख्या एक

उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्ण समूहों के किशोर अभियोजन का प्रसरण विश्लेषण

प्रसरण के स्रोत	डी०एफ०	वर्णों का योग	प्रसरण	एफ.अनुपात	सार्थकता स्तर
लघु समूह प्रसरण	2	410232.36	205116.13	55.5	.01
वृहत्त समूह प्रसरण	297	1107628.30	3729.42		

सारिणी संख्या एक से यह स्पष्ट है कि वर्ण समूहों पर आधारित एफ० अनुपात विश्वसनीयता के .01 स्तर पर सार्थक सिद्ध हो रहा है। यह परिणाम प्रभावित करता है कि वर्णों पर आधारित ये तीनों समूह निश्चय ही किशोर अभियोजन के क्षेत्र में सार्थक रूप से भिन्न है। अतः यह प्रयोगात्मक परिणाम वर्णित प्राक्कल्पना को लगभग प्रभावित कर रही है।

प्रसरण विश्लेषण क यह परिणाम इन तीनों ही समूहों के पृथक-पृथक सांख्यिकीय परिणामों के अन्तर्गत् की सार्थकता जानने को प्रेरित करता है। इस उद्देश्य से तीनों ही समूहों में “टी०परीक्षण” का प्रयोग किया गया जिसका तुलनात्मक परिणाम सारिणी संख्या दो में द्रष्टव्य है।

सारिणी संख्या- दो

विभिन्न वर्ण समूहों के कि० अभियोजन परिणामों का तुलनात्मक विवेचना।

समूह	संख्या	मध्यमान	प्रा०वि० क	री०अनुपात ख	सार्थकता स्तर
(क) उच्चवर्ण	100	36.75	5.84		.01
(ख) मध्यवर्ण	100	48.16	10.55	ख ग	.01
(ग) निम्नवर्ण	100	40.35		क ग	3.70
				1.96	असार्थक

प्रयुक्त तीनों ही वर्ण समूहों के छात्रों के किशोर अभियोजन के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्ष से यह स्पष्ट हो रहा है कि उच्च वर्ण समाज का किशोर अभियोजन प्राप्तांक मध्यमान 36.75 तथा मध्यम आय समूह के किशोर अभियोजन प्राप्तांक मध्यमान 48.16 है। इन दोनों ही मध्यमानों के अन्तर्गत् का ‘टी अनुपात’ 5.84 विश्वसनीयता के .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। उच्च वर्ण समूह तथा

निम्न वर्ण समूह के किशोर अभियोजन प्राप्तांकों का मध्यमान क्रमशः 36.75 तथा 40.35 है जिसका टी अनुपात 1.96 विश्वसनीयता के किसी भी स्तर पर सार्थक प्रमाणित नहीं हो रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि उच्च वर्ण समूह तथा निम्न वर्ण समूह के किशोर अभियोजन में सार्थक अन्तर नहीं है। जहाँ तक मध्यम वर्ण एवं निम्न वर्ण समूहों के किशोर अभियोजन का प्रश्न है मध्यम वर्ण समूह तथा निम्न वर्ण समूह के किशोर अभियोजन प्राप्तांकों का मध्यमान क्रमशः 48.16 तथा 40.35 है तथा इन दोनों ही समूहों के मध्यमानों का अन्तर का टी० अनुपात 3.70 विश्वसनीयता के .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है उपर्युक्त तीनों ही वर्ण समूहों के किशोर अभियोजन के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हैं :-

- (क) उच्च पारिवारिक-सामाजिक स्तर की अपेक्षा मध्यम पारिवारिक-सामाजिक स्तर में उच्च किशोर अभियोजन प्रमाणित होता है।
- (ख) निम्न पारिवारिक-सामाजिक स्तर की अपेक्षा मध्यम पारिवारिक-सामाजिक स्तर में उच्च किशोर अभियोजन पाया जाता है।
- (ग) उच्च एवं निम्न सामाजिक-पारिवारिक स्तरों(चर्णों) के किशोर अभियोजन में सार्थक अन्तर नहीं पाया गया है।

इस आधार पर ऊपर वर्णित प्राक्कल्पना प्रमाणित होती है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष :-

किशोरों के वर्ण स्तर एवं उनका, अभियोजन के निर्धारण तत्व के रूप में अध्ययन करना इस अध्ययन का विषय

रहा है। इस संदर्भ में वर्ण या जाति को उनके सामाजिक, पारिवारिक स्तर का द्योतक माना गया है। वर्णों के आधार पर पूर्ण प्रतिदर्श को, प्रारम्भ से ही उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्ण समूह भेद से तीन भागों में विभाजित किया गया है। त्रिविध समूहों में प्रतिसमूह प्रयोज्यों की संख्या एक सौ थी।

वर्ण समूह के अध्ययन की पृष्ठभूमि में यह विचार क्रियाशील रहा कि उच्च वर्ण परंपरा से सुविधाभोगी हैं किन्तु निम्न वर्ण समाज का उपेक्षित वर्ण रहता आया है। इन्हें अस्पृश्य माना जाता रहा है। यह वर्ण सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन अथवा शिक्षा प्राप्ति के अधिकार से भी वंचित रहा है। अतः इस संदर्भ में यह अनुमान किया गया कि जातिगत संस्कार से किशोर अभियोजन निश्चय ही प्रभावित होता है। उच्च वर्ण में उच्च अभियोजन तथा निम्न वर्ण में निम्न वर्ण में निम्न अभियोजन की प्राक्कल्पना की गयी थी। किन्तु परिणाम जो प्राप्त हुआ है वह एक नयी दिशा निर्धारित करता है। प्रयोग परिणाम है कि मध्यम वर्ण समूह में उच्च किशोर अभियोजन प्रमाणित होता है तथा उच्च एवं निम्न में निम्न किशोर अभियोजन प्रमाणित होता है।

सम्भवतः उक्त परिणाम की प्राप्ति में अद्योलिखित विचार प्रक्रिया सक्रिय रही है उच्च वर्ण सदैव सुविधाभोगी रहा है तथा निम्न वर्ण समाज का तिरस्कृत वर्ण रहा है। आज के बदलते परिवेश में जबकि समाज की सारी मान्यताएँ विखण्डित हो रही हैं, युवक युवतियों दिशाहीनता की ओर बढ़ रहे हैं। युवकों के समस्त व्यवहार निष्प्रयोजन दिख रहे

हैं उनकी पढ़ाई -लिखाई एवं चिन्तन दिशा भी निरर्थक ही प्रतीत हो रही है। इस संदर्भ में मध्यवर्ण जो दोनों ही अति वर्ण सीमाओं के बीच में पड़ता है, सम्भवतः अपने को समायोजित रखने की चेष्टा में सफल हो रहा है। अतः यह परिणाम यथार्थ के समीप है।

References:

1. Brown F.d.- The Psychodynamics of Abnormal behaviour, New York, 1920 Mc. grow Hill.
2. Copper J.B.- Two Scales for parent evaluation Journal of genetic psycholog 108, 49-53
3. Freud (1850-1939)-Three contribution to the theory of sex Nervous and 1930 mental disease publishing co-Washington.
4. Garrette H.E.- 1955-Satisfaction in Psychology and education (fourth edition) long man green and co-Newyork.
5. Guilford J.P.- fundamental Statistics in Psychology and education third edition Me-Grow Hill Book Company INC New York.
6. Mehta A.P.- 1969- Achievement motive in High School Boys NCERT New Delhi, 1969
7. Pandey Dr. A.- 1980- Manual of Adolescent Adjustment Analyzer. Indian Psychological corporation Shanti Sadan, Rai behari lal Road Lucknow- 226007
8. Watson J.B.- 1920- Condition emotional Reactions J. Exoer, Psychol. 3, 1-14
9. Thakur Lakshameshwar- A Study of women liberation in relation to Socio Economic conditoyion and some personality varibales, Bihar University, Thesis, 1989.

एम.ए., पी.-एच.डी., (मनोविज्ञान)

मुजफ्फरपुर।

अपने शुरुआती दौर में द्वितीय विश्व युद्ध

कुमारी स्मृति चन्द्र

पहले साम्राज्यवादी महायुद्ध (1914-18) में राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों को छोड़कर बाकी सभी राजनीतिक दलों ने ब्रिटिश साम्राज्यों का समर्थन किया था। तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल जैसे उग्रवादी नेताओं और सर फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, मोहनदास करमचंद गाँधी, मुहम्मद अली जिन्ना जैसे नरमदली और वैधानिकतावादी नेताओं ने एक सुर से ब्रिटिश साम्राज्यों की विजय की कामना की थी और अपनी सारी सेवाएँ उन्हें समर्पित की थी।

क्या दूसरे साम्राज्यवादी महायुद्ध (1939-41) के बारे में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं का वही रुख था ? 1914 ही की तरह जब ब्रिटिश साम्राज्यों ने 1939 में भी भारतीय जनता के प्रतिनिधियों की राय लिए बगैर भारत को साम्राज्यवादी युद्ध में शामिल कर लिया तो क्या राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने इसे चुपचाप स्वीकार कर लिया और ब्रिटिश शासकों की सेवा करने को तैयार हो गए ? नहीं। 1914-39 के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन के दृष्टिकोण और चेतना में बहुत अन्तर आ चुका था। शक्ति चेतना और व्यापकता के लिहाज से 1939 का राष्ट्रीय आन्दोलन वही न था जो 1914 का राष्ट्रीय आन्दोलन था।

साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध :-

प्रथम महायुद्ध के अंत में रूस में सफल समाजवादी क्रांति, उसके बाद सर्वहारा के प्रथम राज्य का गला घोट देने के लिए दुनिया के बड़े-बड़े साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप की पूर्ण पराजय, सोवियत संघ की सफलता विभिन्न देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना तथा साम्यवादी आन्दोलन के उदय ने पराधीन देशों के स्वाधीनता संग्राम को शक्तिशाली बनाने और उसके दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन में बड़ी सहायता की थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी ये परिवर्तन आए थे और वे कानपुर बोल्शेविक षड्यंत्र केस के बाद ही दिखाई पड़ने लगे थे। मजदूर आन्दोलन और साम्यवादी

आन्दोलन ने भारतवासियों की साम्राज्यवाद विरोधी भावना बढ़ाने में बड़ी मदद की। राष्ट्रीय आन्दोलन का दृष्टिकोण भी व्यापक हुआ। उसने सिर्फ अपने ही देश में नहीं, किसी भी देश में साम्राज्यवादी कुचक्रों के खिलाफ आवाज उठानी शुरू की। उसने साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और युद्धों का विरोध करना शुरू किया। विश्व की श्रमजीवी और पराधीन जनता की लड़ाई को उसने अपनी लड़ाई समझना शुरू किया।

1925-27 के दौरान चीन की राष्ट्रीय क्रांति की अग्रगति ने भारतवासियों में बड़ा जोश पैदा किया था। इस क्रांति के विरुद्ध इस्तेमाल के लिए ब्रिटिश साम्राज्यों ने भारतीय सेना शंघाई भेजी थी। 1927 में इंडियन नेशनल कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन ने इसके विरुद्ध प्रतिवाद जाहिर करते हुए एक प्रस्ताव पास किया था। उसी अधिवेशन में साम्राज्यवादी युद्ध के खतरे के खिलाफ भी प्रस्ताव पास किया था और साम्राज्यवाद विरोधी लीग से कांग्रेस को संबद्ध करने का फैसला हुआ था। कांग्रेस के इस अधिवेशन के पहले उसी साल ब्रसेल्स में साम्राज्यवाद के विरुद्ध उत्पीड़ित जनता की अंतरराष्ट्रीय लीग (इंटरनेशनल लीग ऑफ दि आप्रेरड पीपुल्स अर्गेंस्ट इंपीरियलिज्म) की स्थापना की गई थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ से उसमें जवाहरलाल नेहरू और वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने भाग लिया था। जवाहरलाल इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय कम्युनिस्टों का।

इटली के फासिस्टों ने 1935-36 में अबीसीनिया पर आक्रमण किया तो इंडियन नेशनल कांग्रेस ने अबीसीनियाई जनता का पक्ष लिया और मुसोलिनी के फासिस्ट गिरोह की निंदा की। सितम्बर 1936 में ब्रसेल्स में विश्व शांति सम्मेलन (वर्ल्ड पीस कांग्रेस) हुई तो उसमें भी इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रतिनिधि शामिल हुआ तथा वह इंटरनेशनल पीस कांग्रेस से संबद्ध हुई। 1936 के मध्य में स्पेन के गणतंत्र के विरुद्ध फासिस्ट फ्रैंको के नेतृत्व में विद्रोह शुरू हुआ और इटली तथा जर्मनी के फासिस्टों ने उसकी मदद की। उनका लक्ष्य स्पेन में जनमोर्चे की विजय को और फ्रांस के जनमोर्चे के साथ उसकी मित्रता को नष्ट करना तथा स्पेन को अपने भावी आक्रामणात्मक युद्ध का अड्डा बनाना था। उस समय जब ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारें 'हस्तक्षेप न करने' की नीति की

आड़ में दुनिया की जनवादी शक्तियों की मदद स्पेन न पहुँचने दे रही थी, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने स्पेन के गणतंत्र के पक्ष में अपनी आवाज बुलंद की थी। कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन (दिसम्बर 1936) ने घोषणा की थी।

फासिस्ट आक्रमण बढ़ गया है। फासिस्ट शक्तियाँ यूरोप और दुनिया पर हावी हो जाने तथा राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता को कुचल देने के इरादे से युद्ध के लिए गठजोड़ कर रही है और अपने गुट बना रही है। कांग्रेस पूरी तरह जानती है कि दुनिया के प्रगतिशील राष्ट्रों और लोगों के साथ मिलकर इस विश्वव्यापी खतरे का सामना करने की जरूरत है।²

कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन (फरवरी 1938) ने फासिस्ट आक्रमण के साथ साठ गांठ की ब्रिटेन, फ्रांस वगैरह की सरकारों की नीति की निंदा की तथा 'सामूहिक सुरक्षा' के नारे का समर्थन किया। जुलाई 1937 में जापानी साम्राज्यवादियों ने चीन पर पूर्ण विजय के लिए आक्रमण आरंभ किया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने चीन के साथ हमदर्दी जाहिर की और 1938 में जापानी माल के बायकाट का नारा दिया। जर्मन फासिस्टों को संतुष्ट करने के लिए फ्रांस और ब्रिटेन की सरकारों ने हिटलर और मुसोलिनी के साथ मिलकर म्युनिख में जो गद्दारी की थी और जनतांत्रिक चेकोस्लोवाकिया की पीठ में छुरा भोंका था। कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन ने उसकी निन्दा की थी और ब्रिटेन की विदेश नीति से अपने को बिल्कुल अलग कर दिया था। उसके प्रस्ताव में कहा गया था।

कांग्रेस ब्रिटिश विदेश नीति के साथ

अपनी पूर्ण असहमति प्रकट करती है। इस विदेश नीति का परिणाम म्युनिख समझौता, इंग्लैंड-इटली का समझौता और विद्रोही स्पेन को मान्यता देना हुआ है। यह नीति जनतंत्र के प्रति जानबूझकर विश्वासघात की, वादों की, बार तोड़ने की, सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के अंत की और ऐसी सरकारों के साथ सहयोग की नीति रही है जो जनतंत्र और स्वतंत्रता की कट्टर दुश्मन है। कांग्रेस अपने को ब्रिटिश विदेश नीति से पूर्णतः अलग करती है जिसने बराबर फासिस्ट शक्तियों की सहायता की है और जनतांत्रिक देशों को नष्ट करने में मदद दी है।³

अतः जब ब्रिटेन ने 3 सितम्बर, 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और उसके चंद घंटे बाद ही वाइसराय ने भारतीय जनता के प्रतिनिधियों से राय लिए बिना ही भारत को युद्ध में शामिल कर दिया, ब्रिटिश पार्लियामेंट ने ग्यारह मिनट के अंदर, 'भारत सरकार संशोधन कानून' पास कर प्रांतों में भी संविधान को ताक पर रख देने का पूरा अधिकार वाइसराय को दे दिया तथा वाइसराय ने भी भारत रक्षा कानून लगा कर सिर्फ फरमानों के जरिए सारे देश पर राज करने, किसी को भी बिना वारंट गिरफ्तार करने, और मुकदमा चलाए बिना आजीवन निर्वासन तथा मौत तक की सजा देने का अधिकार ले लिया तो राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता चुप न रह सके। उन्होंने ब्रिटिश शासकों के कदमों का विरोध किया, युद्ध को साम्राज्यवादी बताया और कहा कि उसके साथ उनका कोई संबंध नहीं हो सकता। लेकिन आरंभ से ही कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेतृत्व और वामपंथियों के बीच अन्तर स्पष्ट

दिखाई पड़ने लगा। वामपंथी इस साम्राज्यवादी युद्ध को भारत के मुक्ति युद्ध में बदल देना चाहते थे लेकिन दक्षिणपंथी नेता इससे फायदा उठाकर दबाव डालकर ब्रिटिश शासकों से ज्यादा से ज्यादा अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते थे। उनके रवैये से भारतीय बुर्जुआवर्ग का दोहरा चरित्र सामने आ गया।

युद्ध शुरू होने के बाद एक साल के अन्दर कांग्रेस वर्किंग कमेटी और कांग्रेस महासमिति की कितनी ही बैठकें हुईं और उन्होंने युद्ध के संबंध में अपनी नीति स्पष्ट की। युद्ध के बाद कांग्रेस वर्किंग कमेटी की पहली बैठक वर्धा में हुई और 14 सितम्बर, 1939 को उसने अपना पहला बयान जारी किया। कांग्रेस महासमिति की 9-10 अक्टूबर, 1939 की वर्धा बैठक ने वर्किंग कमेटी के प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया। इसके बाद युद्ध संकट पर विचार करने के लिए वर्किंग कमेटी की बैठकें 22-23 अक्टूबर (वर्धा), 19-23 नवम्बर (इलाहाबाद), 18-22 दिसम्बर (वर्धा), 19-22 जनवरी 1940 (वर्धा) और 28 फरवरी-1 मार्च (पटना) को हुईं। उसके 14 सितम्बर, 1939 के बयान की मुख्य बात यह थी कि ब्रिटिश शासकों ने भारतीय जनता की राय लिए बिना ही भारत को युद्धरत देश घोषित किया है, अतः भारत युद्ध के संचालन में ब्रिटेन का साथ नहीं दे सकता। यह बात इसके बाद पास किए गए प्रस्तावों में दोहराई गई थी। उक्त बयान में ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह 'जनतंत्र और साम्राज्यवाद के बारे में' अपने युद्ध के लक्ष्यों की घोषणा करे। वह खासकर स्पष्ट बताए कि ये लक्ष्य भारत के बारे में कैसे लागू होने जा रहे

है। उसमें जोर देकर कहा गया था कि भारत ऐसे युद्ध में शामिल नहीं हो सकता जो कहने को तो जनतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए लड़ा जा रहा है लेकिन उसी स्वतंत्रता से भारतीयों को वंचित रखा जा रहा है। इतना सब कहने के बावजूद कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने उस समय कोई अंतिम निर्णय न करने का फैसला किया ताकि सारे प्रश्नों का उत्तर पूरी तरह से मिल सके, युद्ध के वास्तविक उद्देश्य सामने आ जाए और यह भी स्पष्ट हो जाए कि तत्काल भविष्य में भारत की स्थिति क्या होगी। कांग्रेस महासमिति की 9-10 अक्टूबर की बैठक ने इसका समर्थन किया। फैसला किया कि खासकर भारत के बारे में अपने युद्ध और शांति के लक्ष्यों को स्पष्ट करने का पूरा मौका ब्रिटिश सरकार को दिए बिना वह कोई भी अंतिम निर्णय न करेगी। वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने इसके उत्तर में 17 अक्टूबर को बयान दिया। इसमें उन्होंने कहा कि भारत में डोमीनियन स्टेट्स स्थापित करना ब्रिटिश नीति का लक्ष्य है; लेकिन फिलहाल 1935 का भारत सरकार कानून लागू रहेगा। भारतीयों को युद्ध संचालन में शामिल करने के लिए उन्होंने 'ब्रिटिश भारत की सब बड़ी राजनीतिक पार्टियों के और भारतीय राजाओं के प्रतिनिधियों को लेकर एक सलाहकार समिति की स्थापना' का प्रस्ताव किया।

अपनी अक्टूबर की बैठक में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने वाइसराय के बयान को 'पुरानी साम्राज्यवादी नीति का स्पष्ट शब्दों में दोहराया जाना' बताया और कहा कि ऐसी हालत में कांग्रेस ब्रिटिश शासकों को युद्ध के संचालन में कोई भी सहयोग नहीं दे सकती क्योंकि ब्रिटेन

का समर्थन करने का अर्थ : 'साम्राज्यवादी नीति का समर्थन' होगा जिसके अंत के लिए वह बराबर लड़ती रही है। भारत सचिव सर सैमुएल होर और वाइसराय ने प्रशासन में भारतीयों को ज्यादा अधिकार देकर कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की। 26 अक्टूबर को होर वाइसराय की कार्यकारिणी में ज्यादा भारतीय लेने को तैयार हो गए लेकिन कांग्रेस सिर्फ इतने से संतुष्ट कैसे होती ? नवम्बर 1939 की बैठक में कांग्रेस वर्किंग कमेटी का रुख और भी कठोर हुआ। उसने आरोप लगाया कि भारत के बारे में ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं से लगता है कि वर्तमान युद्ध साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए चलाया जा रहा है। दिसम्बर की बैठक में उसने कहा कि ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध के उद्देश्य स्पष्ट करने में असफल रही है। वर्किंग कमेटी की पटना बैठक ने कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन के लिए प्रस्ताव का जो मसौदा तैयार किया उसमें उसने स्पष्ट कहा कि ग्रेट ब्रिटेन 'मूलतः साम्राज्यवादी उद्देश्यों' के लिए और अपना साम्राज्य बनाए रखने तथा उसे मजबूत करने के लिए युद्ध कर रहा है। इसमें और भी स्पष्ट शब्दों में भारत को युद्ध में शामिल करने तथा उसके धन-जन का युद्ध में इस्तेमाल करने का विरोध किया गया।

कांग्रेस नेता युद्ध में ब्रिटेन की मदद करने के लिए किन बातों की मांग कर रहे थे ? सितम्बर 1939 के वक्तव्य में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने मांग की थी कि ब्रिटेन को भारत में पूर्ण जनतंत्र स्थापित करना होगा और भारतीयों को आत्मनिर्णय का तथा बाह्य हस्तक्षेप के बिना विधान निर्मात्री परिषद् के जरिए

अपना संविधान बनाने का अधिकार देना होगा। इस मांग का स्पष्टीकरण करते हुए कांग्रेस महासमिति ने कहा कि 'भारत को स्वाधीन राष्ट्र घोषित किया जाए तथा जहाँ तक संभव है उसके साथ ऐसा ही बर्ताव किया जाए।' नवम्बर और दिसम्बर के प्रस्तावों में वर्किंग कमेटी ने इन्हीं बातों की दोहराया। पटना के प्रस्ताव में कांग्रेस वर्किंग कमेटी में अपनी मांग को और भी स्पष्ट किया। उसने कहा कि भारतीय स्वतंत्रता का कोई भी अस्तित्व साम्राज्यवाद की परिधि के अंदर नहीं हो सकता। डोमीनियन स्टेट्स (अधिराज्य) या 'साम्राज्यवादी ढाँचे के अन्दर अन्य कोई भी स्टेट्स' भारत के बारे में लागू नहीं किया जा सकता। प्रस्ताव में एक बार फिर स्पष्ट किया गया कि भारत के संविधान का आधार 'स्वाधीनता जनतंत्र और राष्ट्रीय एकता' ही होगा, कुछ और नहीं।

इस साम्राज्यवादी युद्ध से असहयोग के कौन-कौन से कदम कांग्रेस ने रामगढ़ अधिवेशन (19 मार्च, 1950) के पहले उठाए ? युद्ध की घोषणा के पहले ही अगस्त, 1939 में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने केन्द्रीय विधानसभा के ग्रीष्म अधिवेशन से अनुपस्थित रहने का आदेश दिया था। अक्टूबर, 1939 की बैठक में वर्किंग कमेटी ने सब कांग्रेसी प्रांतीय सरकारों को इस्तीफा देने का आदेश दिया। इस आदेश के मुताबिक सभी प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने 27 अक्टूबर और 15 नवम्बर, 1939 के बीच इस्तीफा दे दिया। साथ ही उसने पहली बार सविनय अवज्ञा, राजनीतिक हड़ताल जैसा कोई भी काम जल्दबाजी में न करें। नवम्बर में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने खुशी जाहिर की कि जरूरत पड़ने पर कांग्रेसजन सविनय

अवज्ञा आन्दोलन आरंभ करने के लिए तैयार है लेकिन याद दिलाया कि कठोर अनुशासन तथा गाँधीजी का चार सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम मानकर चलना कार्यवाही की पहली शर्त है। उसने आदेश दिया कि कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसजन रचनात्मक कार्यक्रम को बढ़ाकर अपने को आगे की कार्यवाही के लिए तैयार करें। वर्किंग कमेटी की पटना बैठक के प्रस्ताव में कहा गया कि कांग्रेस बेहिचक उस वक्त सत्याग्रह आरंभ कर देगी जब वह देखेगी कि कांग्रेस संगठन उसके लिए काफी तैयार है या हालात संकटपूर्ण है। लेकिन यह सब कहते वक्त कांग्रेसजनों को बार-बार सलाह दी गई कि वे गाँधीजी के नेतृत्व में पूर्ण विश्वास रखें और उनके रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा कर अपने को सत्याग्रह के योग्य बनाएँ।

ऐसे समय भारतीय राष्ट्रीय बुर्जुआवर्ग और सुधारवादी दक्षिणपंथियों के सबसे बड़े नेता गाँधीजी की भूमिका क्या थी ? वह देश के सबसे बड़े नेता थे। उनकी जय कहकर करोड़ों देशवासी आजादी की लड़ाई में उतर पड़ने को तैयार थे। लेकिन उनके वक्तव्यों से स्पष्ट था कि वह कोई भी बड़ा आन्दोलन ब्रिटिश शासकों के खिलाफ चलाने को तैयार न थे। उनके वक्तव्य तो कभी-कभी ऐसे अजीब-गरीब थे कि खुद कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य उन्हें मानने को तैयार न थे। युद्ध आरंभ होने पर गाँधीजी की सबसे पहली प्रतिक्रिया यह थी कि भारत की पूरी और बिना शर्त हमदर्दी इंग्लैंड और फ्रांस के प्रति होनी चाहिए। 4 सितम्बर 1939 को वाइसराय से उनकी मुलाकात हुई थी। इस मुलाकात के दौरान बातचीत का वर्णन करते हुए 5 सितम्बर को गाँधीजी ने लिखा :-

मैंने महामहिम से कहा कि विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण से खुद मेरी हमदर्दी इंग्लैंड और फ्रांस के साथ है। मैंने उनसे कहा कि जब मैं लंदन के, जो अब तक अभेद्य समझा जाता था, नष्ट होने की बात सोचता हूँ, तो मेरा मन कांप उठता है। और जब मैं उनके सामने हाउस ऑफ पार्लमेंट तथा वेस्टमिंस्टर एब्बी और उनके संभावित विनष्ट होने का चित्र खींच रहा था, मेरा गला रूँध जाता है। अतः मैं इस समय भारत की मुक्ति की बात नहीं सोच रहा हूँ।⁴

कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लॉक, तीनों वामपंथी पार्टियाँ थी, तीनों ब्रिटिश शासकों को किसी भी तरह युद्ध में सहयोग देने की विरोधी थी; लेकिन युद्ध में चरित्र की समझ और युद्ध के विरोध के कार्यक्रम के बारे में उनमें फर्क था। कम्युनिस्ट युद्ध विरोधी इसलिए थे कि वह साम्राज्यवादी था; ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली वगैरह साम्राज्यवादी दो गुटों में बँटकर दुनिया के फिर से बंटवारे के लिए युद्ध कर रहे थे। इसलिए न तो ब्रिटिश साम्राज्यों को मदद देने का प्रश्न उठता था और न जर्मन फासिस्टों के साथ हमदर्दी दिखाने का उसका ख्याल था कि इस युद्ध में साम्राज्यवादियों की मदद करना साम्राज्यवाद को बनाए रखना और फासिज्म को मजबूत करना है।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लॉक का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न था। वे किसी भी तरह ब्रिटेन की हार चाहते थे क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य के ध्वस्त होने के बाद ही वे भारत की स्वतंत्रता की आशा करते थे। स्वभावतः 'दुश्मन का दुश्मन हमारा दोस्त' की भावना से वे मुक्त न थे। कम्युनिस्ट

पार्टी तथा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फॉरवर्ड ब्लॉक की समझ के बीच यही अंतर युद्ध के दूसरे दौर में उनके अलगाव का, अलग अलग रास्तों पर जाने का कारण बना।

एक रास्ता एम. एन. राय का था। वह युद्ध प्रयास के समर्थक थे। राय का विश्वास था कि भारतीय बुर्जुआवर्ग पूरी तरह साम्राज्यवाद के साथ मिल गया है। इसलिए युद्ध काल भर धैर्य के साथ इंतजार करो। बुर्जुआ नेतृत्व का पर्दाफाश एक दिन होकर रहेगा, तब वह दिन आएगा जब राय का वैकल्पिक नेतृत्व राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का पद प्रदर्शन करेगा। इस रास्ते की दीवालिया समझ की कोई भी आलोचना अनावश्यक है।

इस साम्राज्यवादी युद्ध के प्रति मुस्लिम लीग का क्या रुख था ? 18 सितम्बर, 1939 को उसने एक प्रस्ताव पास कर ब्रिटिश साम्राज्यों का समर्थन करने का वादा इस शर्त पर किया कि मुस्लिम लीग की मंजूरी के बिना भारत में संविधान संबंधी कोई भी अगला कदम न उठाया जाए। उसने दावा किया कि वही 'एकमात्र ऐसा संगठन है जो मुस्लिम भारत की तरफ से बोल सकता है।'⁵

संदर्भ :-

1. पट्टाभि सीतारैम्या : हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, पृ. 538।
2. रजनी पाम दत्त : इंडिया टुडे, पृ. 551।
3. वही, पृ. 5, 51-52।
4. होम। पोला। 1940, एफ 4/17; सुबोध राय, कम्युनिज्म इन इंडिया, अनपब्लिशड डाकूमेंट्स 1935-1945, पृ. 163।
5. भारत का मुक्ति संग्राम - अयोध्या सिंह, पृ. 678-679।

ग्राम + पो. - जहडुआ
जिला - वैशाली।

भारत छोड़ो आन्दोलन के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पक्ष का विश्लेषणात्मक अध्ययन

संजय कुमार

Abstract:

क्रिप्स प्रस्ताव की असफलता और क्रिप्स का एकाएक भारत छोड़ जाना बड़े नाटकीय ढंग से हुआ। इससे भारतीयों को निराशा और हतोत्साह की लहर फैल गई। देश में निष्क्रियता आ गई। अतः महात्मा गाँधी ने जनता की निष्क्रियता की भावना को विद्रोह की भावना में बदल देना उचित समझा अन्यथा जनता ने दासतत्व की भावना फैल जाती और भारतीयों का अद्यःपतन होने लगता। इसलिए उन्होंने 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा दिया। गाँधी जी ब्रिटिश साम्राज्य का रक्तहीन अन्त कर नये युग की आकांक्षा करते थे। 9 जून 1942 को लुई फिशर से महात्मा गाँधी ने कहा था, भारत छोड़ने और नहीं छोड़ने के बीच दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इस प्रकार गाँधी जी ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का शंखनाद किया।

प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से इस आन्दोलन के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा। दूसरी ओर यह भी जानने का प्रयास किया जायेगा कि इस आन्दोलन के प्रमुख कारण क्या थे? एवं इस आन्दोलन के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों पर क्या प्रभाव पड़े।

परिचय :-

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में 1942 ई0 की अगस्त क्रांति एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस क्रांति ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव हिला दी और यह सिद्ध कर दिया कि स्वाधीनता के चमकीले प्रकाश के लिए भारतवासी मर-मिटने को तैयार है। संघर्ष अपरिहार्य इसलिए भी होता जा रहा था कि युद्ध के कारण बढ़ती कीमतों और जरूरी वस्तुओं के अभाव से जन-साधारण बेहद असंतोष की स्थिति से गुजर रहा था। सिंचाई की नहरों का कहीं जापानी जल-परिवहन के लिए इस्तेमाल न कर ले, यह सोच कर नहरों का पानी बहा

दिया गया। जिससे खेती सूखने लगी। मकानों और मोटर-गाड़ियों पर भी सेना ने कब्जा कर लिया था। नतीजतन जनता को संघर्ष के लिए मजबूर होना पड़ा।

उद्देश्य :-

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित इस प्रकार है-

1. शोध-पत्र द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इस आन्दोलन हेतु सामाजिक-आर्थिक कारक किस प्रकार जिम्मेवार थे।
2. इस शोध-पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार नेतृत्वविहीन जनता ने आन्दोलन को सफल बनाया।
3. इस आन्दोलन के पीछे विदेशों के पड़ने वाले प्रभावों की भी समीक्षा की गयी है।
4. द्वितीय विश्वयुद्ध के नाम पर सरकार देश में साम्राज्यवाद की स्थापना करना चाह रही थी। देश में भ्रष्टाचार एवं कालाबाजारी का बाजार गर्म था। इन सभी बिन्दुओं पर भी प्रकाश डाला गया है।
4. इस शोध-पत्र में यह खोजने का प्रयत्न किया गया है कि 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़े आदि।

विश्लेषण

क्रिप्स मिशन की असफलता एवं द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न गंभीर संकट को देखते हुए कांग्रेस ने अब फैसला किया कि अंग्रेजों से भारतीय स्वाधीनता की माँग मनवाने के लिए सक्रिय उपाय किए जाएं। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा 8 अगस्त, 1942 को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किए जाने के साथ ही इसकी तैयारी पूरी हो गई। 8 अगस्त की रात में कांग्रेसी प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए गाँधी जी ने कहा "अगर हो सके तो तत्काल, इसी रात प्रभात से पहले स्वाधीनता चाहता हूँ मैं पूर्ण स्वाधीनता से कम किसी चीज से सन्तुष्ट होने वाला नहीं हूँ। हम या तो भारत को स्वतंत्र करायेंगे या इस प्रयास में मारे जायेंगे, मगर हम अपनी पराधीनता को जारी रहते देखने के लिए जीवित नहीं रहेंगे।"

लेकिन 9 अगस्त को सुबह ही गाँधी जी और कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को डिफेंस ऑफ इंडिया एक्ट के तहत बंदी बना लिया गया और कांग्रेस को फिर एक बार गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। अपने गिरफ्तारी के समय गाँधी जी ने

राष्ट्र के नाम एक संदेश प्रसारित कर लोगों से अपील की थी कि “लोग अपने को आजाद समझे, पूर्ण हड़ताल तथा अन्य अहिंसात्मक तरीकों से सरकारी प्रशासन को ठप कर दे तथा मर कर भी राष्ट्र को जिंदा रखें।” 1942 की इस अनूठी जनक्रांति के लिए उत्तरदायी शक्तियाँ 1934 के बाद के घटना क्रम में देखी जा सकती हैं। 1935 में ब्रिटिश सांसद ने संघवाद एवं स्वायत्तता के सिद्धान्त पर आधारित कानून पारित किया। वायसराय लिनलिथगो के अनुसार इसके तीन मुख्य उद्देश्य थे।—

1. भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व को बनाये रखना।
2. उदारपंथियों को संतुष्ट करना।
3. कांग्रेस के अन्दर मतभेद एवं कलह पैदा करना।

इसका प्रभाव 1937 के चुनाव में दिखायी दिया। जब चुनाव जीतने के बाद सरकार बनाने एवं न बनाने के प्रश्न पर कांग्रेस के वामपंथ एवं दक्षिण पंथ आमने-सामने आ गये। प्रान्तीय गवर्नरों को अत्यधिक शक्तियों से सुशोभित करना, केन्द्र में द्वैध शासन लागू करना, साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को कायम रखना, दोषपूर्ण संघ व्यवस्था एवं मूल अधिकारों का अभाव आदि इस अधिनियम के प्रमुख दोष थे। जिन्होंने भारतीय जन-मानस को उद्वेलित कर दिया।

1940 के मध्य युद्ध में इंग्लैंड की स्थिति संकटापन्न हो गयी। परन्तु गाँधी जी व कांग्रेस हार्दिकमान ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष परेशानियाँ पैदा न करके कोई समझौता करने का प्रयास किया, जिसकी न्यूनतम दो शर्तें थी। —

1. युद्ध के पश्चात् भारत को स्वतंत्र करने का वचन।
2. तात्कालिक तौर पर केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

कांग्रेस के इतना झुक जाने के बावजूद चर्चिल की सरकार टस से मस नहीं

हुई। सरकार छोटी-मोटी रियायतें देने के लिए तैयार थी, परन्तु शासन की स्वाधीन सत्ता भारतीयों को सौंपने के लिए तैयार नहीं थी। भारतीय जनमानस में असंतोष की लहर फैल गयी। इसके बावजूद गाँधी जी सरकार से समझौता के पक्षधर थे, क्योंकि गाँधी जी कहना था कि “मैं ब्रिटेन की बर्बादी पर भारत की स्वतंत्रता नहीं चाहता हूँ।” परन्तु सरकार अपनी शर्तों पर समझौता चाहती थी जो लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव 8 अगस्त 1940 के रूप में सामने आयी। अगस्त प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य नहीं था, क्योंकि इसमें पूर्ण स्वराज का वचन नहीं था, तथा बहुसंख्यकों के हितों को अल्पसंख्यकों के इच्छा पर छोड़ दिया गया था। फलतः इसे अस्वीकार कर दिया गया एवं सरकार पर दबाव बनाने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का मार्ग अपनाया गया जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे।—

1. भारतीय जनता की उग्र राजनीतिक चेतना को व्यक्त करना।
2. भारतीयों की मांग मानने के लिए सरकार को एक और अवसर देना ।

मार्च 1942 में संवैधानिक गतिरोध दूर करने के लिए क्रिप्स मिशन भारत भेजा गया जो 23 मार्च 1942 को दिल्ली पहुँचा। मिशन योजना एक मजबूरी थी, जबकि प्रधानमंत्री चर्चिल, विदेश मंत्री एमरी, वायसराय लिनलिथगो, कमांडर-इन-चीफ वेबेल आदि भारतीयों से किसी समझौते के पक्ष में नहीं थे। इसलिए मिशन के माध्यम से ऐसे प्रस्ताव रखे गए जो भारतीय नेतृत्व को स्वीकार नहीं थे।

कांग्रेस अंग्रेजों से देश की समस्या का हल चाहती थी और हल था देश की आजादी, परन्तु ब्रिटिश सरकार भारत को तत्काल स्वतंत्र करने के पक्ष में नहीं थी। दूसरी ओर भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति जापान को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित कर रही थी। इसीलिए गाँधी जी ने अंग्रेजों से कहा कि “भारत

को जापान के लिए मत छोड़ो, वरन् उसे भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ।”

उपर्युक्त कारणों से अतिरिक्त 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के लिए कुछ अन्य कारण भी उत्तरदायी थे जैसे—

1. पूर्वी बंगाल के बिना मुआवजा दिए लोगों को उनकी जमीनों से बेदखल करना।
2. वर्मा पर जापानी अधिकार के बाद वहाँ से भारत आने के लिए अंग्रेजों एवं भारतीयों के लिए अलग-अलग रास्ते निर्धारित करना।
3. देश में आर्थिक असंतोष तथा कीमतों में बेतहाशा वृद्धि।
4. विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की लगातार हार एवं
5. भारत की स्वतंत्रता के प्रति रूजवेल्ट, च्यांगकाई शेक एवं लेबर पार्टी की सहानुभूति।

इन्हीं सब कारणों से 05 जुलाई 1942 को कांग्रेस कार्य समिति की वर्षा में बैठक हुई और कांग्रेस कार्यसमिति ने 14 जुलाई 1942 गाँधी जी के “भारत छोड़ो” प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी। आंदोलन की सार्वजनिक घोषणा के पूर्व 01 अगस्त, 1942 को इलाहाबाद में तिलक दिवस के अवसर पर पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा “हम आग से खेलने जा रहे हैं, हम दुधारी तलवार का प्रयोग करने जा रहे हैं जिसकी चोट उल्टे हमारे ऊपर भी पड़ सकती है।” सरदार पटेल ने बम्बई से वक्तव्य दिया कि “इस बार का आन्दोलन थोड़े दिनों का किन्तु भयानक होगा।” इस प्रकार कांग्रेस ने जनता को एक भीषण आन्दोलन के लिए तैयार रहने का संकेत दिया।

7 अगस्त 1942 को मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में कांग्रेस महासमिति का बम्बई के ग्वालियर टैंक मैदान में अधिवेशन हुआ, जिस पर समस्त विश्व की आँखें लगी हुई थी। 8

अगस्त को प्रस्ताव पारित होते हुए ही 9 अगस्त को तड़के गाँधी जी एवं कांग्रेस के कार्यसमिति के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। गाँधी जी एवं सरोजिनी नायडू को पूना के आगा खॉ पैलेस में, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को पटना के बाँकीपुर तथा जयप्रकाश नारायण को हजारीबाग जेल में रखा गया। शेष नेता अहमदनगर जेल में रखे गये। जयप्रकाश नारायण ने 9 नवम्बर, 1942 को जेल से भाग कर केन्द्रीय एक्शन कमिटी का गठन कर नेपाल को अपना अड्डा बनाया एवं आजाद दस्तों का गठन किया। नेताओं की गिरफ्तारी के औचित्य को सिद्ध करने के लिए सरकार ने कांग्रेस के तथाकथित कार्यो को समाचार पत्रों में छपवाया जिसमें संचार माध्यमों को ध्वस्त करना, ब्रिटिश संस्थाओं पर हमला एवं हिंसक गतिविधियों को कांग्रेस के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का अंग बताया गया था। नेतृत्व विहीन जनता ने इसे ही कांग्रेस का कार्यक्रम समझा एवं स्वतःस्फूर्त आन्दोलन प्रारंभ कर दिया, कुछ स्थानों पर इसका नेतृत्व समाजवादियों द्वारा किया गया। जिसमें—जयप्रकाश नारायण, उषा मेहता, अरुणा आसफ अली एवं राम मनोहर लोहिया आदि प्रमुख थे।

प्रारंभ में यह आन्दोलन शहरों तक ही सीमित रहा परन्तु जैसे ही यह ग्रामीण क्षेत्रों में फैला तो ऐसा जन-विस्फोट हुआ कि उसे देखकर ब्रिटिश सरकार चकित रह गयी एवं यह नहीं समझ सकी कि किसानों ने क्यों विद्रोह कर दिया। आन्दोलन के दौरान ही तमलुक (मिदनापुर, बिहार), तलचर (उड़ीसा), सतारा (महाराष्ट्र) एवं बलिया (संयुक्त प्रांत) में समानता सरकार का गठन किया गया। जिनमें तमलुक की सरकार सतीश सावंत के नेतृत्व में सर्वाधिक समय तक कार्य करती रही। यह आन्दोलन उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्य प्रांत एवं महाराष्ट्र में चरम सीमा पर रहा। यह आन्दोलन इतना विकराल था कि इसे दबाने के लिए पहली बार

सेना का प्रयोग किया गया। जिस अहिंसा के पुजारी ने 1922 में चौरी-चौरा कांड की थोड़ी सी हिंसा के कारण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचे असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया था, उसी अहिंसा के पुजारी ने 1942 के आन्दोलन में हुई व्यापक हिंसा को नजरअंदाज कर दिया। एक अहिंसक विचारधारा द्वारा हिंसक विचारधारा को दिए गए इस मूक समर्थन से इस बात का सहज अंदाज लगाया जा सकता था कि भारतीयों का धैर्य एवं असंतोष किस सीमा तक पहुँच गया था।

परिणाम

1. 1857 के बाद यह सबसे बड़ी बगावत थी, जिसने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जन असंतोष की व्यापकता को स्पष्ट कर दिया।
2. इस आन्दोलन के बाद पूर्ण स्वतंत्रता पहली मांग बन गयी अब इसके पीछे नहीं लौटा जा सकता था।
3. भारतीय स्वतंत्रता के मुद्दे के अन्तर्राष्ट्रीयकरण एवं मित्र राष्ट्रों के नैतिक समर्थन ने स्वतंत्रता के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी।
4. इस आन्दोलन के बाद सरकार को यह स्पष्ट हो गया था कि भारत को अब अधिक दिनों तक गुलाम नहीं रखा जा सकता है।
5. 1942 के बाद अंग्रेजी साम्राज्य का दुर्भेद्य किला टूटता दिखायी देने लगा।
6. जनता को अपनी शक्ति का अहसास हो गया और वे पूर्ण स्वतंत्रता की मांग अंत तक मांगते रहे आदि।

निष्कर्ष

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि 1757 में पलासी

के युद्ध के साथ ही भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की आधारशिला रखी गई। 100 वर्षों तक अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ भारतीय जनता का असंतोष भी सामानान्तर क्रम में बंटता गया जिसकी परिणति 1857 के विद्रोह के रूप में सामने आयी। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन एक दिशा एवं दशा प्राप्त हुई जिसका चरमोत्कर्ष 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के रूप में दिखायी दिया। इस आन्दोलन के पीछे सामाजिक-आर्थिक तत्व भी मौजूद थे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष – विपिन चन्द्र, नई दिल्ली – 2003, P.N. : 366 - 370।
2. वही – पृष्ठ संख्या – 372 – 376
3. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आन्दोलन – बी. एल. ग्रोवर, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली – 2001।
4. आधुनिक भारत (1885-1947) – सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-1999, पृष्ठ सं. – 408-414।
5. वही – पृष्ठ संख्या – 417-419।
6. वही – पृष्ठ संख्या – 426-428।
7. काँग्रेस रिवैलियन इन आजमगढ़, इलाहाबाद एच. आर. निबलेट, – 1957 – पृष्ठ संख्या – 29 – 51।
8. वही – पृष्ठ संख्या – 24, 26, 40
9. The Quit India Movement, 1942 in A centenary History of India national Congress.
10. Spontaneous Revolution - The Quit India Movement, New Delhi, 1973 - Francis Hutchins.
11. Fight for freedom :Autobiography, Delhi - 1968 - N.G. Ranga.
12. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा संवैधानिक विकास – ग्रोवर एवं यशपाल – पृष्ठ संख्या – 283-287
13. वही – पृष्ठ संख्या – 291-293।
14. क्विट इंडिया मूवमेंट – दिल्ली, 1979-वाई. बी. माथुर।
15. क्विट इंडिया मूवमेंट : ब्रिटिश सेक्रेट रिपोर्ट्स (फरीदाबाद – 1976)

नेट (यू0जी0सी0), A.I. & A.S., M.U.

डॉ. अम्बेडकर और रूढ़िवादी हिन्दू: एक विश्लेषण

डॉ. सुबोध कुमार चौधरी

डॉ. बी० आर० अम्बेडकर (14.04.1891 - 06.12.1956) अस्पृश्य मानी जानेवाली 'महार' जाति में पैदा हुए थे। वे बहुआयामी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। उन्होंने पारम्परिक वर्णव्यवस्था और उसके पोषक रूढ़िवादियों को झकझोरते हुए एक नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। यद्यपि हिन्दू वर्णव्यवस्था की संकीर्णताओं पर यह कोई पहला आक्रमण नहीं था। पूर्व में बुद्ध और महावीर के दार्शनिक धार्मिक आन्दोलनों के अतिरिक्त तात्कालीन वर्णाधारित सामाजिक विभाजन के विरुद्ध उठाये गये आन्दोलन, विशेषकर महाराष्ट्र में कम नहीं थे। किन्तु डॉ. अम्बेडकर ने जिस निष्ठा से इस आन्दोलन को खड़ा किया, उसके फलस्वरूप विश्व की सामाजिक क्रांति के इतिहास में इसने एक विशिष्ट स्थान ग्रहण किया।

निम्न जाति में पैदा होने की पीड़ा को उन्होंने संवेदना के स्तर पर बहुत दूर तक महसूस किया था इसलिए उन्होंने दलित-चेतना को नई ऊर्जा देते हुए पारम्परिक वर्णव्यवस्था और रूढ़िवादियों के विरुद्ध युद्ध का ऐलान कर दिया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने अनुयायियों को धर्म परिवर्तन करने की न सिर्फ प्रेरणा दी वरन् घोषित किया कि "भारत को आजादी मिलने के पहले दलितों को आजादी मिले। दोनों के पीछे एक ही उद्देश्य है - स्वतंत्रता की कामना।" डॉ. अम्बेडकर मानवता के झुलसते प्राणों को अभयदान करना चाहते थे। हिन्दू समाज व धर्म तब अंध व रूढ़ परम्पराओं से बेतरह आवृत्त था और उसमें विवेक की दीपशिखा जाग्रत करने वाले को पागल व धर्मविरोधी समझा जाता था।

डॉ. अम्बेडकर चाहते थे कि वर्ग-धर्म का उन्मूलन हो, जबकि रूढ़िवादी मनुस्मृति के आधार को स्वीकार करते थे। वर्णाश्रम व्यवस्था को उससे बल मिलता है। वे प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों की गुलामी से मुक्ति चाहते थे। शास्त्रानुमोदित हानिप्रद विचारों से उनके मन को मुक्त कराया

जाये और निर्भीक होकर परस्पर शादी-विवाह तथा खान-पान कर सके।' स्वामी दयानन्द सरस्वती वर्णधर्म के पक्षधर थे। केवल वह उसमें गुणधर्म सिद्धांत को अपनाने पर जोर देते थे, जो संभव नहीं हो सकता था। डॉ. भगवान दास ने मनु के विधान द्वारा मानव-जीवन की व्यवस्था का सर्वोपरि मार्ग सिद्ध किया था। उनकी दृष्टि में वर्गविहीन समाज की अपेक्षा वर्गाधृत समाज अधिक श्रेष्ठ और मानवोपयोगी था।²

स्वामी विवेकानन्द भी जाति-व्यवस्था के न केवल प्रशंसक थे बल्कि सशक्त पक्षधर भी थे। उन्होंने कहा था- "मैं जाति के लिए पैदा हुआ हूँ, मैं जाति के लिए जीवित हूँ; जाति में पैदा होने के नाते सम्पूर्ण जीवन जातिगत नियमानुसार जिया जाना चाहिए।" निष्कर्षतः सभी युगपुरुष व महात्मा 'मनुस्मृति' और उसमें वर्णित वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर थे। डॉ. अम्बेडकर इनके विरोधी थे। उनका निष्कर्ष कि बिना जाति वे वर्ण-व्यवस्था को समाप्त किये हिन्दू धर्म व समाज छूआ-छूत, भेदभाव आदि के दुर्गुणों से मुक्त नहीं हो सकता है। चूँकि डॉ. अम्बेडकर की 'मनुस्मृति' व वर्ण-व्यवस्था में कोई आस्था नहीं थी, फलतः डॉ. अम्बेडकर का विरोध होना अवश्यभावी था। तमाम हिन्दू उनके पीछे पड़ गये और उन्हें धर्म विरोधी व भारतीय संस्कृति का विध्वंसक घोषित कर दिया गया।³

गांधीजी स्वयं वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर थे क्योंकि उनकी दृष्टि में "वर्णाश्रम धर्म पृथ्वी पर मनुष्य के मिशन को, शरीर और आत्मा की एकता के लक्ष्य को लेकर परिभाषित करता है।" गांधीजी ने इस व्यवस्था की तुलना न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम से करते हुए कहा कि जिस प्रकार वह नियम न्यूटन की खोज से पूर्व भी था उसी प्रकार वर्णाश्रम प्रकृति नियम है, जो उसकी खोज से पूर्व (गुरुत्वाकर्षण नियम) क्रियाशील था। उससे हिन्दू धर्म की रक्षा हुई है। वह "आनंद तथा वास्तविक धार्मिक अनुसरण के लिए सबसे उत्तम सुरक्षा का मार्ग है।"⁵ फलतः उनमें व गांधीजी में विरोध होना स्वाभाविक था। हालांकि गांधीजी छूआ-छूत के विरोधी थे, परन्तु वे उससे दूर करने के लिए प्रयत्नशील नहीं थे। डॉ. अम्बेडकर छूआ-छूत को जड़ से मिटाना चाहते थे, फलतः वे हिन्दू धर्म की समीक्षा करते हुए उस 'मनुस्मृति' आश्रित व्यवस्था से अपना विरोध जताते थे। उनकी दृष्टि में गांधीजी द्वारा अछूतों को 'हरिजन' संज्ञा अनुचित तथा अवैज्ञानिक थी जबकि वे अछूत सत्ता के अस्तित्व को हिन्दू धर्म से मिटा देना चाहते थे। अछूत का अस्तित्व 'हरिजन' नाम देने से नहीं मिटेगा, यह उनकी दृढ़ मान्यता थी।⁴

वह गांधीजी जैसे व्यक्ति को अपना विरोधी पाकर यह कहते थे कि उनकी जगह कोई सामान्य व्यक्ति उनका विरोध करता तो वह कदापि उस ओर ध्यान नहीं देते; गांधीजी का

जनता पर गहरा प्रभाव होने के कारण उनके विरोध का प्रत्युत्तर नहीं देना स्पष्ट कर देता कि गांधीजी अपनी जगह पर ठीक हैं। इस ठीक होने का आशय है कि अछूत अछूत बने रहें या सवर्णों की दया पर रहें। डॉ. अम्बेडकर को मूर्तिभंजक, धर्म का शत्रु तथा अराष्ट्रीय कहा गया क्योंकि वह समाज-सुधार को राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे।²

डॉ. अम्बेडकर वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणवाद के घोर विरोधी थे। उन्होंने स्पष्टतः कहा कि समस्त ब्राह्मण अछूतों के दुश्मन हैं। ब्राह्मणवाद से उनका तात्पर्य स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व की भावना का निषेध करने वाली शक्तियों से था। उनका कहना था कि यह ब्राह्मणवाद सभी वर्गों में व्याप्त है और मात्र ब्राह्मणों तक सीमित नहीं है, हालांकि यही लोग उसके जन्मदाता रहे हैं ; जो समाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अधिकारों को अपने में केन्द्रीभूत किये हुए हैं। वस्तुतः ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था का मूल कारण है। ये दोनों ही शास्त्रों की देन है अतः शास्त्रों से धर्म को मुक्त करना होगा। वर्णवाद ब्राह्मणवाद के द्वारा ही फलीभूत हुआ है। अतः उसको भी हटाना होगा।³

रूढ़िवादि हिन्दुओं के प्रति उन्होंने बहुत कुछ कहा; वे चाहते थे कि हिन्दू धर्म अपने सनातन रूप को ग्रहण करे। उनकी दृढ़ मान्यता थी : “वे दुख, जिनसे अछूत पीड़ित हैं, यद्यपि उनका इतना प्रचार नहीं हुआ है जितना कि यहूदियों का, तो भी किसी तरह कम यथार्थ नहीं है। न ही दमन के वे साधन व पद्धतियाँ, जिनका हिन्दुओं ने अछूतों के प्रति प्रयोग किया, इसलिए कम प्रभावशाली हैं कि वे उन तरीकों से कम भयंकर हैं जिनका प्रयोग नाजियों ने यहूदियों के विरुद्ध किया। यह यहूदियों के विरुद्ध नाजियों का एन्टी-सीमेटिज्म, विचार एवं प्रभाव में अछूतों के विरुद्ध हिन्दुओं के सनातनवाद से किसी तरह

भी भिन्न नहीं है।”⁴ इतना ही नहीं उन्होंने मनुवादी व्यवस्थाओं के प्रति जो सफल एवं ऐतिहासिक विद्रोह किया उसकी झलक हमें डॉ. अम्बेडकर द्वारा संसद में पारित ‘हिन्दू कोड बिल’ में मिलती है, उसे देखते हुए उन्हें भारतीय नारी का उद्धारक कहा जा सकता है। उन्होंने भारतीय समाज में नारियों को पुनः प्रतिस्थापित करने के लिए हिन्दू समाज में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक असमानताओं के खिलाफ इस बिल को प्रस्तुत किया था। यह बिल मूलतः नारियों की दासता मुक्ति का शंखनाद था। इस बिल में नारियों को पिता की सम्पत्ति में पुत्र के समान अधिकार, विधवा विवाह का अधिकार, अपनी इच्छा से विवाह करने का अधिकार, पति की प्रताड़ना से त्रस्त होने पर तलाक लेने का अधिकार, बच्चों को गोद लेने का अधिकार आदि की व्यवस्था थी। इस बिल का मुख्य उद्देश्य था हिन्दू ब्राह्मणवादी परम्परा पर आधारित सामाजिक, आर्थिक, भेदभाव व अत्याचारपूर्ण मान्यताओं को जड़ से उन्मूलन कर समताधारित समाज का निर्माण करना। भारतीय इतिहास में यह काला अध्याय है कि हिन्दू धर्मावलम्बियों ने इसे संसद में पारित नहीं होने दिया। यहाँ तक की नेहरू जैसे प्रगतिशील प्रधानमंत्री ने भी इसे संसद में पारित कराने में सकारात्मक सहयोग नहीं दिया। अंततः डॉ. अम्बेडकर ने मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। डॉ. अम्बेडकर जैसे अछूत की बात सवर्ण जाति के युगपुरुष कैसे स्वीकार कर लेते? फिर एक अछूत का नाम उनसे उपर नहीं आ जाता !

निष्कर्षतः डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता से क्षुब्ध हो उठे थे। उन्होंने प्रयास किया था कि अछूतों को हिन्दू धर्म में सवर्णों जैसा सम्मान मिले। परन्तु वहाँ भी अछूतों को सम्मान के स्थान पर ‘हरिजन’ एक नया शब्द मिला।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार हरिजन तो सब ही हैं फिर अछूतों को यह नाम क्यों दिया गया ? यह भी अछूतों के लिए भ्रम जाल था। उन्होंने नारियों की मुक्ति के लिए जो उपाय सुझाये थे, वे भी सवर्ण रूढ़िवादियों को नागवार लगा। फलतः उन्होंने जितना प्रयत्न सम्मान हिन्दू धर्म में बने रहने का किया वे उतने निराश होते गये। इसी का यह फल है कि उनको यह कहना पड़ा— “यद्यपि मैंने अभी तक अपना धर्म नहीं बदला किन्तु मैं शपथपूर्वक आपसे कहना चाहता हूँ कि मैं एक हिन्दू के रूप में नहीं मरूँगा।”² 14 अक्टूबर 1956 को उन्होंने अंत में बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपनी शपथ को पूरा किया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- कीर, धनंजय, डॉ अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन; पोपुलर प्रकाशन, बंबई, 1987.
- अम्बेडकर, बी. आर. : एनहिलेशन ऑफ कॉस्ट, भीमपत्रिका प्रकाशन जालंधर.
- भटनागर, राजेन्द्र मोहन, डॉ. अम्बेडकर : जीवन और दर्शन, किताब घर गांधीनगर, दिल्ली.
- सोशललिष्ट थॉट इन मॉडर्न इण्डिया.
- यंग इण्डिया : 24 नवम्बर 1927
- कुबेर, डबल्यू. एन., बी.आर.अम्बेडकर : बिल्डर्स ऑफ मॉडर्न इण्डिया, पब्लिकेशन्स डिविजन, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, फरवरी 1987.
- दास भगवान, दस स्पोक अम्बेडकर, वाल्यूम I (स्पीच, 1956)
- कुबेर, डबल्यू. एन., डॉ. अम्बेडकर -ए क्रिटिकल स्टडी, पी.पी. हाउस, नई दिल्ली, 1973.
- जाटव, आर., द सोशल फिलॉसफी ऑफ अम्बेडकर, 1965.
- जाटव, आर., द पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ अम्बेडकर.
- अम्बेडकर्स एसेज ऑन द राइज एण्ड फॉल ऑफ द हिन्दू वूमैन, महाबोधि पत्रिका.

इतिहास विभाग, एल.एस.कॉलेज,
मुजफ्फरपुर

राष्ट्रीय चेतना और भोजपुरी लोकगीत

डॉ. राम बालक यादव

लोकगीत सहज उद्भूत संगीतात्मक शब्द योजना है। श्रुति साहित्य की भाषा परंपरा का सबसे प्रामाणिक भाष्य है। यह और सच पूछा जाय तो साहित्य और संस्कृति की सभ्यता का आकलन बिना वाचिक परंपरा के संभव नहीं। लोक और शास्त्र के बीच संबंध का इतिहास पुराना है। कालिदास ने शिव-पार्वती के विवाह के अवसर पर ऐसा संकेत दिया है कि सरस्वती ने दो प्रकार के वांग्मय का प्रयोग किया था।

लोकसाहित्य की समानता उपनिषदों से भी की जा सकती है क्योंकि दोनों में ही सहज सत्य की प्राप्ति का प्रयास देखा जा सकता है। जिस प्रकार उपनिषदों में अनेक विचारकों के चिंतन-मनन से उत्पन्न सत्य का साक्षात्कार है, उसी प्रकार लोकसाहित्य भी कर्मशील लोकजीवन की सामूहिक उपलब्धि है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है जिसमें भूत भविष्य और वर्तमान संचित है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजाति है।

लोकगीत वस्तुतः जनता का वह साहित्य है जो जनता द्वारा जनता के लिये रचा जाता है। प्रादेशिक भाषाओं एवं बोलियों में राष्ट्रीयता एवं नवजागरण का स्वर कभी-कभी शिष्ट जन एवं कवि से अधिक मुखर, स्पष्ट तथा तल्लु है। जन-भाषा में कवियों ने अपने गीतों में राष्ट्रीय एकता एवं सामाजिक बंधन को शिथिल करने वाले कारकों (जाति, भाषा, रूढ़ि, अंधविश्वास, गुलामी, संप्रदाय, आत्महीनता, कायरता, क्षेत्रीयता आदि) पर करारा प्रहार तथा सबल करने वाले कारकों पर आधारित सटीक काव्य-चित्रों को उकेरने का सफल प्रयत्न किया। इनके प्रभाव क्षेत्र व्यापक थे। इसीलिए ग्रियर्सन ने लिखा है कि—हिन्दुस्तान में जागरण का श्रेय मुख्यतः बंगालियों और भोजपुरियों को प्राप्त है। बंगालियों ने जो काम अपनी कलम से किया वही काम भोजपुरियों ने लाठी से किया।

भोजपुरी प्रदेश के नवजागरण के पुरोधा भिखारी ठाकुर थे। बेमेल विवाह, जातिवाद, स्त्री दुर्दशा, गरीबी, भुखमरी, बाढ़-विभीषिका आदि का सफल एवं प्रभावकारी चित्रण भिखारी ठाकुर द्वारा रचित विविध नाटकों एवं गीतों में हुआ। भोजपुरी प्रदेश में ही नहीं कलकत्ता शहर में इनके लोकनाटक काफी चर्चित एवं लोकप्रिय रहे।

बाजे बिगुल आजादी, बाजे बिगुल आजादी/ जागहु भारत के रसिया/ आये गांधी महात्मा, आये गांधी महात्मा/ नेता सुभाष बाबू बनवसिया/ आये पंडित जवाहर, आये पंडित जवाहर, नेता सुभाष बाबू बनवसिया/ देखो वीर भगत को, देखो वीर भगत को कैसे हैं प्राण गवाये रसिया।

देशवासियों को आजादी के प्रति सचेत करने में लोकगीत भी पीछे नहीं थे। लोगों में आजादी के प्रति चेतना जागृत करने का जितना सशक्त माध्यम लोकगीत था उतना दूसरा नहीं क्योंकि लोक गीतों को सहज ही बिना किसी प्रयास के जन-जन तक पहुंचाया जा सकता था।

उठो भारतवासी-उठो भारतवासी/ गांधी का चरण धरो जी धरो/ कपड़ा पहनो स्वदेशी कपड़ा पहनो/ विदेशी का त्याग करो/ उठो भारतवासी गांधी का चरण धरो जी धरो/ विद्या पढ़ो तो हिन्दी, विद्या पढ़ो तो हिन्दी/ अंग्रेजी का त्याग करो जी करो।

आजादी का कोई भी क्रिया-कलाप ऐसा नहीं है जो लोकगीतों से अछूता हो। यहां तक कि नमक सत्याग्रह की चर्चा भी लोकगीतों में मिल जाती है।

बापू से मिलने आये भारतवासी/ मुट्ठीभर नमक बचायो जी/ एक लोक लुटल जालिम दूसर लो लुटल/ तिसरा जे लेयी बापू बचायी जी।

झंडा सत्याग्रह में झंडे की आन बचाने के लिए न जाने कितने देशवासियों को कुर्बानी देकर झण्डे की आन, बान, शान की रक्षा करनी पड़ी। लहराते हुए तिरंगे को देखकर भारतवासी किस प्रकार खुशी से झूमने लगे। उनकी खुशी के भाव को इस लोकगीत में अभिव्यक्त किया गया है—

भारत की बांकी बरात चली, चलो देखन चलें, चलो देखन चलें/ गांधी बने समधी, जवाहर बने दुलहा/ अब जयहिंद, जयहिंद ढोलक बाजी/ चलो देखन चलें, चलो देखन चलें/ भारत की बांकी बरात चली/ झंडा तिरंगा ऐसा सजा जैसे

फगुनवां की होली मची/ चलो देखन चले, चलो देखन चलें।

सुराज और गांधी एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। बिना गांधी के सुराज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह बात देश का प्रत्येक नागरिक अच्छी तरह से जानता है—

गांधी बचन भायो सुरजवा लेवो विदेशवा हमरा ससुर जी गांधी के नौकर, देशों में झंडा दिखाये/ सुरजवा लेवो विदेशवा हमरा भसुर जी गांधी के नौकर/ देशों में लड़िका पढ़ायो, सुरजवा लेवो विदेशवा हमरो देवर जी गांधी के नौकर/ देशों में चरखा चलाये, सुरजवा लेवो विदेशवा।

आजादी की लड़ाई में गांधी के सत्याग्रह, सत्य, अहिंसा ने अपना रंग दिखाया। इसके बाद भी आजादी के इस युद्ध में न जाने कितनी स्त्रियों की मांगें सुनी हो गयीं, कितनी माताओं की गोद सूनी हो गयी। आजादी मिलने के बाद भारतवासी सारी व्यथा को भूलकर सभी खुशी से झूम उठे—

पन्द्रह अगस्त शुभ-दिन अइन देश भोर आजाद भइल/ ललना घर-घर बाजेला बधइया त नेहरू प्रधान भईल/ गांव-गांव खुले स्कूलवा त शिक्षा क निर्माण होईल। देशवा आजाद भइल। शिक्षा के निर्माण होइहैं, शिक्षा के प्रचार होइहैं/ पढ़ि गुनि लजिया पंचवल बिपतिया भगवान न हो/ ललना बचपन के आगम अजोर भइल, सुख के बिहान भइल।

आज भी लोगगीत समाज का दर्पण है। कहीं लोकगीतों के माध्यम से दहेज पर करारा व्यंग्य किया गया है तो कहीं लोगों में जागरूकता उत्पन्न करने का प्रयास किया जा रहा है। आधुनिक युग

में जब परिवार विखण्डित हो रहा है, परिवार पति-पत्नी तक सिमटकर रह गया है। ऐसे में बेटे की मां जब बेटा उससे दूर परदेश में जाकर बस जाता है और उसकी कभी सुधि भी नहीं लेता तब मां बिलखकर कहने लगती है—

भूलि गइला मायी का दुलार बबुआज/ भूलि गइला मायी का दुलार/ नव महीना तोहके पेटवा में रखली, ओदवा सुखवली, तोहके सूखा में सुतवली/ कटली बिपतिया हजार बबुआ, भूलि गइला मायी का दुलार बबुआ/ गोदिया में लेके दूधवा पिअवली, मछिया जेकटउ तअंचरा ओढ़वली/ गोंहू चाउर बेचिके हम तोहके पढ़वली, गहना मैं बेचिके बिआह तोहार

कइली/ बीबी बच्चा लेइके बिदेश गइला, कबहू न मायी के संदेश तुहु लिहला/ कटली बिपतिया हजार बबुआ, भूलि गइला मायी का दुलार बबुआ।

आज के मशीनी युग में जब चारो ओर पश्चिमी सभ्यता से लोग प्रभावित हैं, ग्लोबल युग में सारी दूरियां समाप्त हो गयी हैं, गांव भी पश्चिमी सभ्यता में रंग रहा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में लोकगीतों को सहेजने की आवश्यकता है क्योंकि लोकगीत हमारी अस्मिता है।

संदर्भ सूची

1. लोकगीतों में राष्ट्रीय चेतना- रामनाथ मिश्रा
2. भिखारी ठाकुर ग्रन्थावली।

राजनीति विज्ञान पर कुछ बेहतरीन पुस्तकें

- भारत का संविधान
- सामाजिक संरचना
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था: दशा एवं दिशा
- भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे
- राजनीति के प्रमुख वाद
- दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया
- नौकरशाही एवं विकास
- राजनीतिक वादों का अध्ययन
- भूमंडलीकरण : विविध आयाम
- भारतीय शासन एवं राजनीति
- प्रजातंत्र
- भारत में सामाजिक आन्दोलन
- धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें—

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

मानव-मुक्ति और वैचारिक प्रतिबद्धता ही है कविता

सुधीर कुमार

कवि के बारे में प्रसिद्ध है कि वह निबंध-स्वच्छंद होता है। वह किसी प्रकार का अनुशासन नहीं मानता। कवि स्वयंभू कहलाता है। संस्कृत में कहा गया है:

अपारे काव्य-संसारे कवि रेकः प्रजापतिः ।

कवि की तुलना प्रजापति ब्रह्मा से की जाती है। ब्रह्मा सृष्टि का कारक है। कवि काव्य के माध्यम से नये लोक का निर्माण करता है।

कवि भावनाओं-कल्पनाओं के जगत का स्वामी है। उसकी कल्पना गगन में उन्मुक्त विचरन करती है। अन्य लोगों की तुलना में कवि अधिक भावुक और संवेदनशील होता है। भावुकता, कल्पनाशीलता और संवेदनशीलता मनुष्य को कवि बनाती है। संस्कृत में कहा गया है कि इस संसार में पहले तो मनुष्य होना ही एक दुर्लभ गुण है, तिस पर भी विद्वान बनना और विद्वता के साथ कवि होना तथा काव्य रचने की शक्ति पाना और दुर्लभ है—

नर त्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कवि त्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥

कविता करने वाले को 'कवि' कहा गया है। 'कवि' शब्द 'कुवर्णे' अथवा 'कुड्शब्दे' धातु से 'ई' प्रत्यय लगाने से बनता है। राजशेखर कवि का अर्थ 'वर्णनकर्ता' मानते हैं। कवि रस तथा भाव का विमर्शक होता है। संस्कृत आलोचना में कवि का प्रधान कार्य 'वर्णन' है। मम्मट के अनुसार 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का प्रधान कार्य 'वर्णन' है। मम्मट के अनुसार 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म है। (लोकोत्तर-वर्णना-निपुण कवि-कर्म)।

कवि किसी वस्तु का वर्णन मात्र कर देने से संतुष्ट नहीं होता। वह उसमें लोकोत्तर भावों का भी प्रवेश करता है। इसलिए कवियों को 'क्रातिदर्शी' भी कहा गया है—'दर्शन' अच्छे कवि का लक्षण बताया गया है। कवि जब तक प्रतिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को सुंदर शब्दों में प्रकट नहीं करता तब तक वह कवि नहीं हो सकता। भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति में ही 'भावों' के 'दर्शन' की सार्थकता है।

कवि-कर्म के लिए प्रतिभा का होना आवश्यक है। वह अपनी प्रतिभा के बल पर इच्छानुसार काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है;

यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते ।

कहा गया है कि कवि भावना और कल्पना-लोक का जादूगर है। तुच्छ, साधारण तथा नीरस-से-नीरस वस्तु को भी कवि प्रतिभा के बल पर वह सरस, सजीव तथा आकर्षक बना देता है। कवि अपने काव्य की सामग्री संसार से प्राप्त करता है।

भारतीय संस्कृति में कवि को ईश्वर का दर्जा प्राप्त है। संस्कृत में कवि का सम्मान सर्वतोभावेन विराजमान है। परंतु कवि काव्य-रचना में निरुद्देश्य प्रवृत्त नहीं होता। कोई-न-कोई प्रेरणा अवश्य होती है। संसार में निरुद्देश्य कुछ भी नहीं। तिनके से लेकर पर्वत तक सभी सोद्देश्य है। सबकी अपनी भूमिका है। सुई, सुई की जगह: तलवार, तलवार की जगह। भावना और कल्पना भी निरुद्देश्य नहीं होतीं। उनका भी कोई-न-कोई आधार होता है। प्रेरक तत्व के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं। रस-सृष्टि, आनन्द-सृष्टि सोद्देश्य साभिप्राय होती है।

प्राचीन ग्रंथों में तीन प्रकार की 'एषणा' का उल्लेख है—पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा। लोकेषणा अर्थात् यश की प्राप्ति भी काव्य का एक महत् प्रयोजन है। काव्य-प्रयोजन के बारे में कहा गया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदं शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परिनिर्वृतये कान्ता-सम्मितयोपदेशयुजे ॥

कविवर भिखारी के मत में—

एक लहैं तप पुंजनि के फल

ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ।

एक लहें बहु सम्पत्ति केसव
 भूषण ज्यों वर बीर बड़ाई ।
 एकनि को जसही सों प्रयोजन
 है रसखान रहीम की नाई ।
 'दास' कवित्तान की चरचा
 बुधिवन्तनि कों सुख दै सब ठाई ॥

आचार्य मम्मट ने काव्य के दो ही प्रमुख प्रयोजन स्वीकारे हैं—1. परमानन्द की सद्यः अनुभूति, 2. कान्ता के समान उपदेश। अर्थात् काव्य-पाठ द्वारा रस का आस्वादन और कान्ता के समान कविता में सरसता उत्पन्न कर पाठक को अपनी ओर आकर्षित करना।

आधुनिक युग में कवि और काव्य के बारे में उपयुक्त मान्यताएं खंडित हो चुकी हैं अथवा इन्हें आंशिक रूप से ही स्वीकारा जा सकता है। कवि या लेखक संसार में किसी से प्रतिबद्ध नहीं है, किसी के प्रति उसकी कोई जवाबदेही नहीं है; वह परम स्वतंत्र, स्वयंभू है तथा केवल आत्म-संतोष के लिए लिखता है—यह आज कोई नहीं स्वीकारता।

प्राचीन भारत में भी दो प्रकार की काव्य-परंपरा हम पाते हैं—1. विशिष्ट व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर लिखे जाने वाले काव्य, तथा 2. जीवन और लोक के व्यापक संदर्भों पर केन्द्रित काव्य। अभिजातवर्ग को केन्द्र में रखकर संस्कृत में अनेक काव्य रचे गये। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्य व्यापक लोक-जीवन पर आधारित हैं। काव्य का प्रयोजन लोक-हित रहा है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट लिखा है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
 सुरसरि सम सब कहं हित होई ॥

अर्थात् काव्य का प्रयोजन सब का हित है। काव्य के साथ लोक-मंगल का भाव प्राचीन काल से ही जुड़ा रहा है।

आधुनिक युग में आधुनिक समाजों की संरचना जिन आधारों पर हुई है उनका कोई भी तालमेल प्राचीन मानव-समाजों से नहीं है। आदिम साम्यवाद से कबीलाई समाज, कबीलाई समाज से राजतंत्र, सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद में क्रमशः समाजों का रूपान्तरण अपने में विकास का पेचीदा, जटिल इतिहास छिपाए हुए है। समाज-विकास की यह प्रक्रिया जटिल तथा द्वंद्वात्मक रही है। अतः समाज-विकास की धारणा अमूर्त नहीं है। राजनीति, धर्म, कानून, दर्शन, कला, साहित्य आदि के विकास में आर्थिक संरचना का महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

विज्ञान, उद्योग, तकनीक और मीडिया ने विश्व के देशों को परस्पर एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया है। कोई भी घटना तुरंत विश्व-भर में ज्ञात हो जाती है। संचार-माध्यम और मीडिया ने देशों की दूरी बिल्कुल कम कर दी है। आज का लेखक विश्व में हो रही घटनाओं की जानकारी तुरंत पा जाता है। उसकी चेतना वैश्विक हो गयी है। यह केवल अपने देश और समाज नहीं; बल्कि विश्व और विश्व-मानव-समाज के बारे में सोचता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है।

आधुनिक समाज दो भागों में बंटा है—शोषक, शोषित। पूंजीपति, शोषक-वर्ग है और सर्वहारा-वर्ग शोषितों का है। कला, साहित्य, संस्कृति के बारे में भी आधुनिक मनुष्य का दृष्टिकोण वर्गीय

हो गया है। कवि, लेखक और साहित्य पक्षधर हो गये हैं। ऐसी स्थिति में कोई कवि आज अपने को 'स्वयंभू' नहीं कहता। आधुनिक समाजों में कवि की स्थिति 'एकांत' नहीं है। कवि समाज में जन्म लेता, पलता और बड़ा होता है। उसके व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में समाज, परिवेश का बड़ा हाथ होता है। कोई भी रचनाकार समाज में रहकर समाज-निरपेक्ष कैसे हो सकता है? साहित्यिक निरपेक्षता की बात इसीलिए बेमानी है। वातावरण का कारक प्रभाव लेखक-कवि पर पड़ता है। परिवेश समाज को प्रभावित करता है। परिवेश और समाज दोनों मिलकर कवि को प्रभावित करते हैं। लेखक परिवेश को तथा परिवेश लेखक को प्रभावित करता है।

लेखक और परिवेश का रिश्ता द्वंद्वात्मक होता है। लेखक तीन प्रकार के होते हैं—यथास्थितिवादी, पलायनवादी तथा विद्रोही। यथास्थितिवादी लेखक समझौतावादी प्रकृति का होता है। पलायनवादी लेखक समाज-निरपेक्ष, लोक-विमुख होता है। विद्रोही रचनाकार समय, शासन, परिवेश के विरुद्ध संघर्ष करता है। इसीलिए वह विद्रोही कहलाता है। पलायनवादी कवियों को संस्कृत में 'रचना-कवि' कहा गया है। राजशेखर के अनुसार कवि आठ प्रकार के होते हैं—रचना कवि, शब्द कवि, अर्थ कवि, अलंकार कवि, उक्ति कवि, रस कवि, मार्ग कवि और शास्त्रार्थ कवि। रचना कवि केवल कविता करने के ध्येय से रचना कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

कविता कवि की मानस-पुत्री है; क्योंकि कविता कवि-मानस में ही सृजित होती है। कविता चूँकि मन-मस्तिष्क

प्रेरित होती है, इसलिए वह अंतःप्रेरित विवेचन हुआ है। मनोविज्ञान मन का विज्ञान पर कम विचार हुआ है। पश्चिम में इस पर विस्तृत विवेचन हुआ है। मनोविज्ञान मन का विज्ञान है, मन का दर्शन है। इसीलिए वह मानसिक दर्शन है। अंतर्मुखी प्रकृति के कवि मन के अंतर्प्रदेशों की यात्रा करते हैं। पश्चिम में प्लेटो से लेकर अरस्तू, पारमेनिडीज, एनेक्सेगोरस, डिमोक्रेट्स, हिपोक्रेटिज आदि ने मन, शरीर, विश्व, सृष्टि के प्रश्नों पर बहुत विचार किया है। आधुनिक युग में फ्रॉयड, एडलर, युंग ने मनोविश्लेषण के क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित किये। फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धांत ने विश्व में तहलका मचा दिया था। फ्रॉयड ने कला और साहित्य का संबंध मनुष्य की दमित भावनाओं से जोड़ा था।

आधुनिक युग की कविता बुद्धि-प्रधान होने के कारण बौद्धिक है। बुद्धिवादी कवि बहिर्जगत पर बल देते हैं। दूसरे किस्म के बुद्धिवादी मन के अंतर्प्रदेशों में रमना अधिक पसंद करते हैं। फ्रॉयड, एडलर और युंग ने आधुनिक कला-साहित्य को भी प्रभावित किया है। आधुनिक समालोचना में इसीलिए मनोविज्ञान एक निर्णायक कारक-तत्व है। मनोविज्ञान विज्ञान तथा खोज की वह देन है, जिसने आज के जटिल युग की जटिल समस्याओं को समझने में क्रांतिकारी भूमिका निभायी है। मनोविश्लेषण की यह प्रक्रिया सामंतवाद के ढूँहों से आरंभ हुई थी। इस सदी में ही नेपोलियन ने शरीर-रचना-विज्ञान तथा हार्वे ने शरीर-क्रिया के क्षेत्र में नये विचार दिये थे। हॉब्स ने लिखा था कि समूचे ज्ञान का स्रोत संवेदनाएँ होती हैं।

जॉन लॉक ने बताया था कि शिशु का मन कोरे कागज के समान होता है; जिस पर अनुभव की लेखनी चलती है।

मनुष्य का स्वभाव प्राचीन काल से ही एक समस्या रहा है। दार्शनिकों ने दर्शन तथा धर्म के परिप्रेक्ष्य में मानव-स्वभाव का अध्ययन कर उसे समझने का प्रयास किया है। पश्चिम के दार्शनिकों ने धार्मिक प्रभावों से अलग हटकर 'मानव-मन' को विश्लेषित किया है। भारतीय दार्शनिकों से भिन्न पाश्चात्य दार्शनिक मन को आत्मा से पृथक् मानने के विरोधी हैं। मनोविज्ञान ने मन की अतल गहराइयों में उतरकर वैज्ञानिक धरातल पर विवेचन किया है। इस क्षेत्र में डॉ॰ फ्रॉयड का महत्वपूर्ण योगदान है। फ्रॉयड का अभिप्रेरणा (Motivation) पर विशेष बल है। अभिप्रेरणा का मनोविज्ञान भूख, प्यास, काम आदि से संबंधित है। मानव अभिप्रेरणा के बारे में डॉ॰ फ्रॉयड के अलग विचार हैं। ट्रोलेण्ड ने तीन प्रकार के सुखवाद का उल्लेख किया है—वर्तमान, भविष्य और अतीत का। अभिप्रेरणा के संबंध में फ्रॉयड के विचार भविष्य के सुखवाद से ही संबंधित हैं। फ्रॉयड मानते थे कि मन के विज्ञान का जैव आधार ही हो सकता है। फलस्वरूप उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक संप्रदाय के अभिप्रेरणात्मक पक्ष की स्थापना जनन-मूलप्रवृत्ति के आधार पर की थी। इसे उन्होंने 'लिबिडो' कहा। 'लिबिडो' एक मनोवैज्ञानिक प्रत्यय है। इसका संबंध काम मूलप्रवृत्ति के शारीरिक तथा मानसिक दोनों पक्षों से है। 'लिबिडो' अपक्व कामुकता तथा लैंगिक संबंधों की उत्कृष्ट अभिलाषा है। इसको 'ईड' की शक्ति कहा जा सकता है। 'ईड'

काम मूल प्रवृत्ति है। यह भावात्मक है। इसकी नाप-जोख असंभव है। फ्रॉयड के अनुसार काम-प्रवृत्ति इतनी व्यापक है कि उसमें प्रेम की ओर केंद्रित रहने वाले समस्त आवेग सम्मिलित हैं। फ्रॉयड ने 'लिबिडो' के मानसिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। व्यक्ति के उत्थान-पतन में इच्छाओं का विशेष महत्व है। इच्छाएं महत्वाकांक्षा होती हैं या फिर काममूलक। अचेतन में दमित इच्छाएं ही आगे चलकर उदासिन होती हैं। कलाकार कल्पना-चित्रों का संस्कार कर उसे एक ऐसा रूप देता है ताकि दमन के अवरोध बह जाएं। फ्रॉयड के अनुसार कलाकार दमित काम-वासना को, कल्पना-चित्रों के संसार को एषणा-सृष्टि में रूपान्तरित करता है। इस प्रकार फ्रॉयड ने काम-वासना को कला के उत्स के रूप में स्वीकारा था। 'मानसिक अचेतन' में फ्रॉयड का दृढ़ विश्वास था। फ्रॉयड की मान्यताओं पर उसके पूर्वकालीन फ्रांस के मनोवैज्ञानिकों का काफी प्रभाव था। अचेतन के संबंध में अपने विचारों के फलस्वरूप फ्रॉयड इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि अचेतन मन मुख्य रूप से प्रेरणाओं से निर्मित होता है। वे मानते थे कि कोई भी व्यवहार अकारण नहीं होता।

संदर्भ सूची

1. संस्कृत आलोचना-बदलेव उपाध्याय
2. मनोविज्ञान-फ्रायड
3. आधुनिक हिन्दी कविता में व्यक्ति-डॉ॰ पदमावती
4. आधुनिक हिन्दी कवियों और लेखकों के काव्य सिद्धांत-सुधाकर
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य-रश्मि मल्होत्रा
6. आधुनिक मानव और नई हिन्दी कविता-डॉ॰ कमलेश कमल
7. अज्ञेय का काव्य: प्रेम और मृत्यु

आधुनिक साहित्य में स्त्री चिंतन की परंपरा

शिप्रा प्रभा

भारतीय संस्कृति अपनी विशिष्ट पहचान के कारण सदैव विश्व के लिए आदरणीय एवं वन्दनीय रही है। प्राचीन भारत की लोक कल्याणकारी भाईचारे और समन्वय की भावना ने विश्व को शांति, समता और अहिंसा का मार्ग दिखाया। विश्व में जगतगुरु के नाम से भारत की पहचान रही है। यहां के लोगों की अपनी एक अध्यात्मिक सोच रही है। कुटुम्बकम की भावना, जनमानस के लिए प्रेरणा की आदर्श रही है। इसके प्रमुख कारण यह हैं कि समाज सामाजिक संबंधों का जटिल जाल होता है और इन संबंधों का निर्माता स्वयं मनुष्य है। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य ही समाज में संगठन एवं व्यवस्था स्थापित करते हुए इसे प्रगति एवं गतिशीलता की दिशा में ले जाने हेतु सदैव प्रयत्नशील रहा है। इसलिए पुरुष स्वभावतः अहंकारी हो गया और वह अपनी स्थिति सामाजिक परिवेश में सर्वोच्च स्तर में रखने को उत्सुक हो गया। यही मनोभाव पुरुष को वर्चस्ववाद की ओर ले गया। उसने यदि स्त्री को अधिक पढ़ी लिखी जागरूक, तर्कशील, बुद्धिमान पाया तो अपने को अंदर ही अंदर खतरा महसूस करने लगा। यही सर्वोच्चता के खतरे का डर एक झूठा अहंकारवाद का शिकार व्यक्ति बर्दाश्त नहीं कर पाया, क्योंकि पुरुष स्वभावतः अहंकारी है। वह अपनी सामाजिक स्थिति को सर्वोच्चता में रखकर देखता है और स्त्री को निम्न स्तर पर रखता है। यदि स्त्री अधिक पढ़ी लिखी, जागरूक, तर्कशील, बुद्धिमान है तो उसकी सर्वोच्चता को शायद खतरा पैदा हो जायेगा और झूठे अहंकारवाद का शिकार व्यक्ति यह सब कैसे सहन कर लेगा कि स्त्री की सामाजिक आर्थिक स्थिति उससे सर्वोच्च हो जाये या उसके बराबर। आज तक यही होता आया है और आज भी उसके भीतर यही सोलहवीं शताब्दी की सोच काम कर रही है कि स्त्री उसकी निजी संपत्ति है लेकिन इस संपत्ति की गुणवत्ता को वह कतई बढ़ाना नहीं चाहता। उसे कमजोर

करके रखने में ही अपनी सुरक्षा समझता है। पुरुष के मन में यह भय असुरक्षा की भावना और स्त्री को दबाकर कुचलकर नियंत्रण में रखने की स्त्री विरोधी दृष्टि सदियों से काम कर रही है। राजतंत्र का राजा अपने लिए सोलह हजार रानियां जुटा सकता था। प्रजातंत्र का क्लिंटन व्हाइट हाउस में मोनिका लेविंस्की से यौनाचार कर सकता है। मध्य और निम्नवर्ग भी कोई अपवाद नहीं है। कभी सौतन, कभी सहेली, कभी कजिन, कभी क्लार्क, कभी कुलीग, कभी कुछ और औरत के दिल में वह लगातार छेद करता आया है। अब विद्वत्जनों को सौतियाडाह एवं फीमेल जैलिसी के पुलिगो-रबीबो-डाह एवं 'मेल जैलिसी' को शब्दकोशीय मान्यता दे देनी चाहिए।

परंतु आज शिक्षित-कामकाजी, अधिकार-सजग, बौद्धिक, अर्थ-स्वतंत्र पत्नियों ने पुरुषों के लिए समस्याएं खड़ी कर दी हैं। शिक्षा राजनीति खेल, धर्म, फिल्म, सेना, साहित्य, प्रशासन, मीडिया, संविधान और विज्ञान ने नए क्षितिज खोल दिये हैं अनुगामिनी एक दिन सहगामिनी बन जाएगी, आदम की पसली से जन्म लेने वाली उसके सम्मुख हकूक की बात करेगी, पौराणिक कथाओं का अध्ययन करने वाली विश्वविद्यालयों में लॉ क्लासेज लगाएगी अथवा नारीवादी नारे उछालेगी, नाखूनों से लेकर सिर के बालों तक अपने को ढककर तीर्थयात्राएं करने वाली के प्राण ब्यूटी पॉर्लर में जायेंगे, बालायें अंतरिक्ष को मुट्ठी में भर लेंगी-ऐसा पति-परमेश्वरों ने कभी नहीं सोचा था।

जैसे-जैसे समाज में नारी की निरीह स्थिति में बदलाव आया है और वह अबला से सबला बनने की तरफ अग्रसर हुई है, वह अपने अधिकारों के प्रति सजग और सचेत हुई है। पुरुष तंत्रात्मक समाज के बंधनों के खिलाफ उसने विद्रोह किया है। स्त्री के क्रातिवीर तेवर से परिवार की बुनियाद हिल गयी है और पारिवारिक विघटन भिन्न-भिन्न रूपों में समाज में पसरता जा रहा है। पुरुष का परंपरागत मानस स्त्री के मौलिक अधिकारों को स्वीकार नहीं कर पाता। वह दबाना चाहता है और स्त्री अपनी गुलाम मानसिकता वाली छवि सती-साध्वी या पति-परमेश्वरी को तोड़कर अपना स्वतंत्र वजूद बनाना चाहती है। सामंती समाज में स्त्री मां, बहन, पत्नी, प्रेमिका, दासी आदि के रूप में थी-उसका अपना अलग वजूद नहीं था। आधुनिकता और बौद्धिकता के कारण

वह अपने निज स्वरूप और अपनी भावनाओं एवं इच्छाओं के प्रति सचेत हुई है।

‘समर्पण लो सेवा का सार’ कहकर प्रसाद जी नारी के उसी सामंती रूप को प्रोत्साहित करते हैं जो अपनी सारी आकांक्षाओं को पुरुष के चरणों में समर्पित कर देती है। अपने व्यक्तित्व को पुरुष के ‘महान’ व्यक्तित्व में गला-घुला देती है। आधुनिक स्त्री नर-नारी समता में विश्वास करती है। जहां पुरुषों से वह किसी मायने में कम नहीं है। इस तथ्य को डॉ रमेश कुन्तल मेघ भी स्वीकार करते हैं—“आजकल नारी की ऐतिहासिक कर्म भूमिकाएं (गृहिणी, धात्री, जननी, उपचारिका, सेविका, दासी आदि) जो शय्या और रसोई की धुरी में केंद्रित थी, अब बदल रही है। वह गृह के बाहर काम धंधों को अपना रही है। और गृह के अंदर की नीरस मजदूरी से स्वतंत्र हो रही है। गृह की धुरी के ढीला होने एक साथ ही विवाह की संस्था के अस्तित्व पर प्रश्न उठ रहे हैं अर्थात् श्रम के विभाजन की सामंती आधार टूट रहे हैं और नई स्त्री ‘एक-यौनता की धारणा को स्वीकार कर रही है।”

पूँजीवाद के उदय के साथ जीवन में आधुनिकता, बौद्धिकता का प्रवेश होता है, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास होता है, स्त्री पुरुष के समान अधिकारों की घोषणा होती है। इसके साथ ही हजारों सालों की बेड़ियां एक झटके के साथ टूट जाती हैं और स्त्री के कदम आत्म सम्मान की दिशा में बढ़ चलते हैं। स्त्री को कानूनी अधिकार मिलते हैं। सन् 1956 ई० के पहले स्त्री का कानूनी अधिकार शून्य था। धीरे-धीरे अब उसमें बढ़ोत्तरी हो रही है और यहीं से स्त्री की

अपनी स्वतंत्र पहचान बननी शुरू होती है। स्त्री विमर्श की महीन और व्यापक जानकारी पाने के लिए विश्वस्तर पर घटने वाली चार घटनाओं को रेखांकित करना बेहद जरूरी है।

प्रथम, 1789 की फ्रांसीसी क्रांति जिसने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसी चिरवांछित मानवीय आकांक्षाओं को नैसर्गिक मानवीय अधिकार की गरिमा देकर राजतंत्र और साम्राज्यवाद के बरक्स लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के स्वस्थ और अभीप्सित विकल्प को प्रतिष्ठित किया।

द्वितीय, भारत में राजा राममोहन राय की लंबी जद्दोजहद के बाद 1821 में सतीप्रथा का कानूनी विरोध जिसने पहली बार स्त्री के अस्तित्व को मनुष्य के रूप में स्वीकारा।

तृतीय, सन् 1848 ई० में सिनेका फालस न्यूयार्क में ग्रिम के बहनों की रहनुमाई में आयोजित तीन सौ स्त्री-पुरुष की सभा जिसने स्त्री दासत्व की लंबी श्रृंखला को चुनौती देते हुए स्त्री मुक्ति आंदोलन की नींव धरी।

चतुर्थ, 1867 में प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक और चिंतक जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेंट में स्त्री के वयस्क मताधिकार के लिए प्रस्ताव रखा जाना जिससे स्त्री पुरुष के बीच स्वीकारी जाने वाली अनिवार्य कानून और संवैधानिक समानता की अवधारणा को बदल दिया। संयुक्त रूप से ये चारों घटनाएं एक तरफ से विभाजक रेखाएं हैं जिसके एक ओर पूरे विश्व में स्त्री उत्पीड़न की लगभग एक सी यूनोवर्सल परंपरा है तो दूसरी ओर इससे मुक्ति की लगभग एक ही तड़प और अकुलाहट भरी संघर्ष कथा।

भारतीय संदर्भ में स्त्री-विमर्श दो विपरीत ध्रुवों पर टिका है। एक ओर परंपरागत भारतीय नारी की छवि है। जो सीता और सावित्री जैसे मिथकों में अपना मूर्त रूप पाती है। दूसरी ओर घर परिवार तोड़ने वाली स्वार्थी (होम ब्रेकर) और कुलटा रूप में विख्यात पाश्चात्य नारी की छवि है जो अक्सर पुरानी फिल्मों में खलनायिका के रूप में उकेरी जाती है। साहित्य-जीवन की भावनात्मक अभिव्यक्ति होते हुए भी भावनाओं द्वारा अनुशासित नहीं होता। मूलतः वह बीज रूप में विचार से बंधा होता है जिसका पल्लवन-पुष्पन भविष्य में होता है तो जड़ों का जटिल जाल सुदूर अतीत तक चला जाता है। अपने भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठकर विराट को महसूसने की क्षमता ही लेखक के ज्ञान और संवेदना को उन्मुक्त और घनीभूत करते हुए विजन का रूप दे डालती है। यह विजन ही मुक्तिबोध के शब्दों में ज्ञान को ‘संवेदनात्मक ज्ञान’ और संवेदना को ‘ज्ञानात्मक संवेदन’ का रूप दे रचना में वांछित बौद्धिक संयम और अनुशासन बनाए रखता है। आलोचक को धड़कते जीवन से सीधे मुखातिब होना है, एक हाथ जीवन की नब्ज पर रखकर दूसरे हाथ से जीवन को प्रतिबिम्बित करती रचनाओं की नब्ज को टटोलना है। इसका दायित्व दोहरा और चुनौती भरा है विमर्श का अर्थ है जीवन्त बहस। साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो विचार का विचार और वर्चस्व की प्राप्ति। अंग्रेजी में इसके लिए ‘डिस्कोर्स’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। किसी भी समस्या या स्थिति को एक कोण से न देखकर भिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों और वैचारिक प्रतिबद्धताओं का समाहार करते हुए उलट-पुलट कर देखना, उसे समग्रता

से समझने की कोशिश करना और फिर मानवीय संदर्भों में निष्कर्ष प्राप्ति की चेष्टा करना। अर्थात् किसी विषय पर अभी तक जो लेखन या विचार होता आया है, उस पर पुनः विचार कर उसकी दशा और दिशा का मूल्यांकन करना।

भोर की खुमार भरी नींद तोड़ने के लिए 'देवरानी जैठानी की कहानी' और भाग्यवती सरीखी-रचनाओं को निशंक भाव से प्रभात फेरियों का दर्जा दिया जा सकता है। समाज सुधार के सजग और सायास गढ़े उद्देश्य, पात्र, कथानक और घटनाओं से बुनी इन रचनाओं में राममोहन राय, विद्यासागर, रानाडे, महर्षि कर्वे, महर्षि, दयानन्द तक के समाज सुधार आंदोलन की परंपरा, अनुगूण और छाप साफ दिखाई पड़ती है। बाल विवाह विरोध, विधवा विवाह समर्थन, स्त्री शिक्षा (जिसकी पाठ्यक्रम अनिवार्यता स्त्रियोपयोगी विषयों जैसे सिलाई, बुनाई, कढ़ाई से अटा पड़ा है।) लड़कों को दी जाने वाली विज्ञान जैसी आधुनिक शिक्षा से पूर्णतया वंचित और आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक स्वावलंबन पर बल आज बहुत ही साधारण और हास्यास्पद से मुद्दे जान पड़ते हैं, लेकिन उस समय इनकी अहमियत थी। सन् 1860 ई० में विद्यासागर बहुत ही मशक्कत के बाद कानूनी तौर पर लड़कियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु दस वर्ष करा पाये थे। सन् 1929 ई० में बहुतेरे प्रयासों के बाद यह आयु बढ़ाकर तेरह वर्ष ही हो पाई थी। अठारह वर्ष न्यूनतम आयु का प्रावधान शारदा एक्ट 1856 ई० के बाद ही संभव हो पाया था जबकि "भाग्यवती" में श्रद्धाराम फिल्लौरी पं० उमादत्त के जरिये लड़के और लड़की के विवाह की न्यूनतम आयु क्रमशः

ग्यारह और अठारह का संदेश देकर वक्त से थोड़ा आगे चलने का संकेत देते हैं।

सदी का वर्क बदलने पर हिन्दी साहित्य में उभरने वाला स्त्री-विमर्श इतना जड़, उपदेशात्मक और इकहरा नहीं रह गया था। लेकिन यह भी तथ्य है कि उनका रेखांकन अब भी पुरुष और परिवार के संदर्भ में ही किया जाता था। इसकी प्रमुख वजह थी सामाजिक राजनीति जीवन में पुरुष नायकों के साथ स्त्रियों की प्रत्यक्ष भागीदारी। प्रारंभ में समाज सुधारकों के परिवारों की स्त्रियाँ प्रादेशिक स्तर पर आम जनता के उद्बोधन का मंत्र फूंकने आगे बढ़ाई गई थीं, वक्त के साथ उन्होंने दो उल्लेखनीय कार्य किये प्रथम, वैयक्तिक तौर पर परिवार के पुरुष अनुशासन, दिशा निर्देशन से मुक्त हो स्वायत्त सत्ता महसूस की। दूसरे, अपनी आवाज को संगठित कर अखिल भारतीय पहचान देने की कोशिश की।

सन् 1817 ई० में 'वीमेंस इंडियन एशोसिएशन' की स्थापना, सन् 1925 में 'नेशनल काउंसिल ऑफ वूमैन इन इंडिया' की स्थापना और सन् 1927 ई० में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' का अस्तित्व में आना अपने आप में ऐतिहासिक और क्रांतिकारी घटनाएँ थीं। जिनकी अनुगूज आज भी स्वतंत्र भारत के संविधान और कानून में सुनी जा सकती हैं। सन् 1946 ई० में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' द्वारा प्रस्तुत अधिकारों और कर्तव्यों के चार्टर में वर्णित कुछ मांगों को भारतीय संविधान में ज्यों का त्यों स्थान दिया गया। जैसे धारा 44 के अंतर्गत लिंग, जाति धर्म के आधार पर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक

क्षेत्र में भेदभाव न किया जाना। धारा 16 के अंतर्गत लिंग, जाति, धर्म के आधार पर सरकारी नौकरियों और दफ्तरों में भेदभाव न किया जाना। इसने स्त्री को अपनी चिर-पोषित 'अबला' छवि को तोड़कर एक नये जुझारू व्यक्तित्व और रचनाशील भूमिका में आविर्भूत होने के लिए प्रेरित किया। सामाजिक उथल-पुथल के इस दौर में हिन्दी कथा साहित्य भी नारी की स्वायत्तता और स्वतंत्र चेतना को शिद्दत से चित्रित करता रहा। लेकिन विडम्बना यह रही कि इस बिंदु पर आकर आत्मनिर्भर विचारवान संघर्षशील छवि को स्वीकार नहीं पाया।

हिन्दी के अति आरंभिक उपन्यासों का उद्भव स्त्री-चेतना से ही हुआ, यह एक अटल सत्य है। स्त्री चेतना के बीज मंत्र से हिन्दी के अति आरंभिक उपन्यास अनुप्राणित रहे हैं और इनका प्रारंभिक उद्देश्य स्त्री चेतना की सर्वप्रथम प्राथमिकता में स्त्री शिक्षा निहित है। प्रथम गद्य रचना 'देवरानी जैठानी की कहानी' से स्पष्ट है कि अशिक्षिता और मूर्ख महिलाएं परिवार के जीवन को अत्यंत दुःखद और शिक्षित महिलाएं नरक तुल्य को स्वर्ग जैसा सुखद बना देती हैं।

संदर्भ सूची

1. भूमंडलकरण - डा. व्रज कुमार पाण्डेय
2. औरत : आज, कल और कल - आशारानी व्योरा
3. भारतीय नारी : सामाजिक अध्ययन - डॉ. राजकुमार
4. प्रगतिशील नारी - शांति कुमार स्याल
5. स्त्री : संवाद - कमल कुमार
6. स्त्री : अस्मिता और अस्तित्व - एम. पी. कमल

शोध छात्रा,
बीआरए, बिहार विश्वविद्यालय

हरिवंश राय बच्चन: हालावाद नहीं पालावाद, एक समीक्षात्मक अध्ययन

मनीष कुमार

परिचय :-

डॉ. बच्चन का 'हालावाद' उनके द्वारा प्रणित कुछ कविताओं के शब्दार्थों तथा भावार्थों में निहित है। इनकी ये कविताएँ हैं— मधुशाला (1935), मधुबाला (1936), मधुकलश (1937) एवं हलाहल (1946), लेकिन डॉ. बच्चन की 'हालावाद' के प्रवर्तक काव्य 'मधुशाला' को ही माना जाता है। यहाँ तक कि अधिकांश लोग मधुशाला को ही हालावाद का पर्याय मान बैठे हैं, जबकि इनके हालावाद के भाव उनकी अन्य कविताओं में भी मिलता है, फिर भी 'मधुशाला' ही सर्वोपरि है।

यह मधुशाला डॉ. बच्चन की अन्य कविताओं से ज्यादा पठनीय, श्रौत्य तथा सर्वाधिक चर्चित रही है। यह कविता उनकी अन्य कविताओं के लिए 'बरगद का पेड़' साबित हुई, जिसकी छत्रछाया में उनके अन्य काव्य ज्यादा प्रसिद्धि प्राप्त न कर सके। यही नहीं उनकी यह कविता उनके काव्यों में ही नहीं, बल्कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्य कविताओं में भी सबसे ज्यादा पठनीय और लोकप्रिय रही है। डॉ. बच्चन की यह 'मधुशाला' मध्यकालीन क्रांतिकारी भक्त-संत-कवि कबीर के 'स्त्री रूपी माया' की तरह है जो भेस बदल-बदलकर अनेक रूपों में उपस्थित होती है, या कहें यह विश्व-चेतस विश्व-कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर की विश्व-मानस के भाव को संजोय हुए है। या कहें इसमें तुलसी के लोकमंगल तथा कबीर की सामाजिक क्रांतिकारिता जीवित है, जिसकी बानगी इन निम्नलिखित पंक्तियों में देखी जा सकती है, जिसमें वे समाज में विद्यमान साम्प्रदायिक वैमनस्य और अशांति के लिए मन्दिर-मस्जिद को जिम्मेदार ठहराते हुए 'मधुशाला' की वकालत करते हुए दीख पड़ते हैं।

“बैर बढ़ाते मस्जिद-मंदिर

मेल कराती मधुशाला” !

यह 'हालावाद' सामाजिक सौहार्द, बंधुत्व, समानता और शान्ति की ही बात नहीं करता है, बल्कि मानव के विविध भावों को भी उसी जोश के साथ रखता है, जिस रूप में उसे इस समाज में उसे अनुभूत किया गया है, साथ ही समाज के बुराइयों पर कटाक्ष करते हुए निदान के रूप में 'मधुशाला' के शरण में आने की बात का भी प्रचार करते हैं, उसी तरह जिस तरह प्रचीन काल में विश्व के समस्त समस्याओं के निदान के लिए बुद्ध, संघ एवं धम्म के शरण की बात की जाती थी।

यह 'मधुशाला' डॉ. बच्चन की मौलिक कृति नहीं मानी जाती, बल्कि एक अनुदित काव्य कृति मानी जाती है। यह उमर खैयाम की 'मधुशाला' की रूबाईयों का अनुवाद है, हिन्दी भाषा में। यह बात डॉ. बच्चन 'मधुशाला' की भूमिका के प्रारंभ में स्वीकार करते हुए लिखते हैं— “उस दिन उमर खैयाम के हृदय की भावना-प्रसूनो को अपनी भाषा की तार में पिरोकर तेरे चरणों में चढ़ा चुका हूँ।” लेकिन प्रसिद्धि में डॉ. बच्चन की यह 'मधुशाला' आगे निकल गई और खैयाम की मधुशाला, पीछे छूट गई है। डॉ. बच्चन की यह मधुशाला वह मधुशाला नहीं, जहाँ मदिरा बेची जाती है, यह तो जीवन की पाठशाला है, जहाँ सारे पाठ पढ़ाये जाते हैं, जीवन जीने के, न ही यह मदिरा, साकी, हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला का बखान है, बल्कि इन शब्द प्रतीकों के सहारे कवि ने मानव की विविध कोमल-से-कोमल भावों के साथ-ही-साथ जीवन के कुछ कटु अनुभवों को भी उकेर कर इस काव्य में बिखेरने की कोशिश की है, जो कि सच्चा और मर्मस्पर्शी है। इसका साक्ष्य इसकी प्रसिद्धि है।

डॉ. बच्चन का 'हालावाद' उनके समष्टिगत विचारों, वादों, अनुभूतियों आदि को ढोनेवाला संश्लिष्ट तंत्र है, जिसमें सामान्य तौर पर सब कुछ पाया जाता है। यह चूँकि महाकाव्य है नहीं इसलिए सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला हुआ है या नहीं खोजने की जरूरत भी नहीं, लेकिन इसमें हाला, प्याला, साकी, मधुशाला और मधुबाला के माध्यम से मृदु-भावों के साथ-साथ जीवन के विविध पहलुओं पर दृष्टिपात की गई है। जैसे मानव होने के नाते अगर मानव-जीवन का कुछ लक्ष्य है तो एक व्यक्ति होने के नाते एक व्यक्ति का भी अपना व्यक्तिगत लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में कभी-कभी टूटन और घुटन का शिकार होना पड़ता है। इस टूटन और

घुटन से मुक्ति का पाठ पढ़ाते हुए यह 'मधुशाला' दीख पड़ती है। मानो यह जीवनशाला हो जो गीता को लिए हुए जी रही हो। इसी तरह प्रेम, पीड़ा, आनंद तथा विगतस्मृतियाँ ; प्रकृति, पुरुष तथा स्त्री पुरुष सम्बन्ध; माँ, मदिरा, मदिरालय और मतवालापन; वेश्या, वेश्यालय तथा उसके कार्य; मन, मन्दिर, मस्जिद तथा इसके कार्य; एक लक्ष्य, एक पाथ, सकारात्मक सोच और कठिन मेहनत; छल, छद्म और ढोंग; मरघट तथा जमघट; सुरा तथा सुन्दरी; ईद होली और दीवाली; अमर और अमराई; उपवन और मधुवन; प्रेम और प्रेमिका; पीने वाला और पिलाने वाला; ज्ञान, विज्ञान और गीता; भाग्यवाद और नियतिवाद; प्रेम और प्रेमी; दर्द और नशा; भावुकता और कोमलता; कविता और वबीता; कल्पना और कवि; साकी और शशिबाला; मधुशाला और मधुबाला; टूटन और घुटन; मान और मनौअल; कर्तव्य और किंकर्तव्यविमूढ़ता; पटने और पटाने; मिटने और मिटाने; दीवाना और दीवानगी; सम्पृक्ति और असम्पृक्ति; आग्रही और दुराग्रही; कल और आज; आसक्ति और अनासक्ति; भूत और भविष्य; स्वागत और विदाई; प्रचारक और विचारक; प्यास बुझानेवाला और प्यास बढ़ानेवाला; पाप और पुण्य; स्वर्ग और नरक; धर्म और अधर्म; आशा और निराशा; सफलता और असफलता आदि विविध विषयों पर कवि ने अपनी अनुभूत कूँची चलाया है। तभी तो प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत ने 'मधुशाला' की प्रशंसा में ये पंक्तियाँ लिखी हैं—

“अमृत हृदय में, गरल कंठ में,
मधु अधरों में,
आस तुम वीणा धर कर में
जन-मन-मादन ! ”

वहीं डॉ. बच्चन के समकालीन कवि डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन ने 'मधुशाला' के बारे में लिखा — “ऐसी अभिव्यक्तियाँ नई पीढ़ी के लिए पाथेय बन सकेंगी, इसी में उनकी सार्थकता भी है।” वहीं उस दौर के हिन्दी साहित्य के महान आलोचक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसके बारे में कहा कि —“..... इसमें समूचा काल और क्षेत्र भी अधिक गहरे रंगों में उभरा है।” डॉ. बच्चन के अन्य समकालीन साहित्यकार रामधारी सिंह दिनकर, भगवतीचरण वर्मा एवं धर्मवीर भारती उनके हालावाद के जबर्दस्त प्रशंसक थे तथा सुमित्रानंदन पंत ने इसके बारे में लिखा है— “बच्चन की मदिरा चैतन्य की ज्वाला है, जिसे पीकर मृत्यु भी जीवित हो उठती है। उसका सौन्दर्य-बोध देश-काल की क्षणभंगुरता को अतिक्रम कर शाश्वत के स्पर्श से अम्लान एवं अनंत यौवन है। यह निःसंदेह बच्चन के अंतरतम का भारतीय संस्कार है, जो उसके मधु-काव्य में अज्ञात रूप से अभिव्यक्त हुआ है। बच्चन की मदिरा गम गलत करने या दुःख को भुलाने के लिए नहीं है, वह शाश्वत जीवन-सौन्दर्य एवं शाश्वत प्राण चेतना-शक्ति की सजीव प्रतीक है।”

उपरोक्त चर्चाओं तथा काव्य में व्यक्त भाव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके इस काव्य पर चार्वाक के भौतिकवादी दर्शन और गीता के सनातन दर्शन का जबर्दस्त प्रभाव रहा है, क्योंकि पढ़ने पर जो अर्थ खुल-खुलकर हाथ लगते हैं वह यही संकेत छोड़ते हैं, जैसे नमूना के तौर पर इन निम्नलिखित पंक्तियों को देखा जा सकता है, जिसमें चार्वाकीय दर्शन का खुला प्रदर्शन है।

“पहले भोग लगा लूँ तेरा,
फिर प्रसाद जग पाएगा;”

इसी तरह निम्नलिखित पंक्तियों के अर्थ-अनावृत्त होने से गीता-पाठ का गंध मिलता हुआ प्रतीत होता है—

“मदिरालय जाने को घर से
चलता है पीनेवाला,
'किस पथ से जाऊँ ?' असमंजस
में है वह भोलाभाला
अलग-अलग पथ बतलाते सब
पर मैं यह बतलाता हूँ —
'राह पकड़ तू एक चला चल,
पा जाएगा मधुशाला।”

उद्देश्य :-

प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य यह दिखलाना है कि इस काव्य के अर्थ-अनावृत्त से जो भाव प्राप्त होते हैं उससे यह साफ पता चलता है कि कवि के विचार पर कहीं-न-कहीं चार्वाक के भौतिकवादी दर्शन तथा गीता के शाश्वत दर्शन का जबर्दस्त प्रभाव रहा है। आज के पूँजीवादी दर्शन का आधार यही भौतिकवादी दर्शन है, जिसका मुख्य लक्ष्य उपभोग है। वहीं इस उपभोग के दौड़ में पस्त होने से उपजी सन्त्रास, कूँटा, टूटन, घुटन और निराशा से निजात दिलाने का दर्शन गीता है, जो 'निष्काम कर्म' की वकालत करता है और आगे-पीछे भूलकर लगे रहने की सलाह देते हैं।

विश्लेषण :-

गौर से अगर जाँच-पड़ताल करें तो हम पायेंगे कि भाव-सत्ता भौतिक का अन्तर्तम रूप है, या कहें भौतिक-सत्ता भाव-सत्ता का बाह्यतम रूप है, दोनों सही हैं और दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं। मधुशाला की खासियत यह है कि जिस आधार पर यह 'मधुशाला' बनी बैठी है उसका आधार मदिरा है।

यह मदिरा भौतिक जगत् (अंगूर) से प्राप्त होती है। स्वाभाविक है कि इसे पीने का कार्य भौतिक साधन से भाव रूप में किया जायेगा जो कि अन्तर्तम को भी अपने संक्रमण में ले लेगा। यानी पूरा भौतिकमय। ऐसे भी सुरा-सुन्दरी पान को भौतिक-पान ही माना जाता है, जिससे पता चलता है कि यह मधुशाला अपनी मृदु-भावों से भौतिकता का आग्रही है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित पंक्तियों से साफ हो जाती है-

“मृदु भावों के अंगूरों की
आज बना लाया हाला,
प्रियतम, अपने ही हाथों से
आज पिलाऊँगा प्याला ;

एक बार की घटना है कि एक पत्रकार ने महान भौतिक विज्ञानी एवं नोबेल पुरस्कार विजेता अल्बर्ट आइंस्टीन से प्रश्न किया कि हमारे होने का यहाँ क्या उद्देश्य है? तो उन्होंने जबाब दिया कि ‘हमारे होने का कुछ-न-कुछ उद्देश्य तो है ही।’ मानव ज्योंहि पृथ्वी पर आता है प्रकृत: उसे मृत्यु रूपी लक्ष्य थमा दिया जाता है। इसी तरह हिन्दी साहित्य के महान कवि जयशंकर प्रसाद का मानना था कि अगर जीवन सत्य है, एक प्रश्न है, तो मृत्यु उसका अटल उत्तर है। यह अटल उत्तर ही जीवन का प्रकृतित: उद्देश्य है, लेकिन यह हर मानव के लिए प्रकृति द्वारा समान रूप से वितरित उद्देश्य है। व्यक्ति होने के नाते इसके अपने व्यक्तिगत लक्ष्य भी होते हैं जो उसकी रुचि और इच्छाओं को, प्रतिबिम्बित करती हैं। कोई इन्सान इस भाग-दौड़ भरी जिन्दगी में अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल होता है तो कोई असफल। सफलता के पीछे किसी लक्ष्य-आग्रही की दृढ़ता और धीरता जहाँ मुख्य भूमिका अदा करती है, वहीं

असफल व्यक्ति के पीछे उसकी मानसिक दुर्बलता ही आड़े आती है। इसकी एक-दो वजह लक्ष्य का निर्धारण न कर पाना, पथ की अज्ञानता, मानसिक दृढ़ता की कमी, आदि हो सकता है तभी तो कवि ने कृष्ण बनकर गीता पाठ के रूप में निरुद्देश्यों को मधुशाला भेंट की-

मदिरालय जाने को घर से
चलता है पीने वाला,
‘किस पथ से जाऊँ? असमंजस
में है वह भोला भाला
अलग-अलग पथ बतलाते सब
पर मैं यह बतलाता हूँ-
‘राह पकड़ तू एक चला चल,
पा जाएँगा मधुशाला?’

डॉ. बच्चन की कविता पढ़ते समय, खासकर ‘मधुशाला’ को पढ़ते समय ऐसा लगेगा कि मानो जैसे साकी, हाला, प्याला और मधुशाला प्रेम रूपी मधुबाला के रूप में उपस्थित है। वह कई रूपों में पाठक के सामने आती है, कभी मेंहदी रचित मृदुल हथेली पर माणिक मधु का प्याला लिये, तो कभी हाथों में आने से पहले नाज दिखलाने वाले प्याला के रूप में, तो कभी अधरों पर आने से पहले अदा दिखाने वाली के रूप में, तो कभी बहुतेरे इंकार के रूप में, तो कभी इंद्रधनुष से होड़ लगाती रँगौली मधुशाला के रूप में, तो कहीं सुन्दर साकी शशिबाला के रूप में, तो कहीं नाच नचानेवाली के रूप में, तो कहीं नई नवेली घूँघट में दुल्हन की तरह, तो कहीं फर्ज-अदाई करके खिसक लेनेवाली वेश्या के रूप में, तो कहीं स्वागत के साथ विदाई करते हुए रूप में, तो कहीं रागिनियाँ बनकर भरकर तारों का प्याला लाई के रूप में, तो कहीं छलकाती लाई अधर-सुधा-रस की हाला के रूप में, तो कहीं इंकृत वीणा की तरह, तो

कहीं टूटा-फूटा प्याला देनेवाली के रूप में, तो कहीं मृत्यु बनी है निर्दय साकी के रूप में, तो कहीं आँख-मिचौनी खेल रही मधुशाला के रूप में, तो कहीं ‘आ आगे’ कहकर के पीछे हट जानेवाली के रूप में, तो कहीं होंठ लगाने को कहकर हर बार हटा लेने वाली प्याला के रूप में, तो कहीं ये व्यर्थ दौड़ाती मरु में मृगजल बनकर मधुशाला के रूप में। यह स्त्री है जिससे पुरुष प्रेम करता है। प्रेम, स्त्री-पुरुष के बीच का तामसिक सम्बन्ध है। स्त्री अपने बहुरूपीयपन से पुरुष को बाँधकर रखती है, देती कुछ नहीं, ले लेती है सबकुछ वह व्यर्थ में पुरुष को कस्तूरी के लिए मरु में दौड़ाती है। यह भौतिकवादी संसार का ही चरित्र है कि लोगों को परेशानी में देखकर खुद को आनंदित महसूस करते हैं, तभी तो कवि तंग आकर कहता है-

“देने को जो मुझे कहा था
दे न सकी मुझको हाला,
देने को जो मुझे कहा था
दे न सकी मुझको प्यालाय”

प्रकृति वर्णन में भी डॉ. बच्चन ने अपनी कुशलता उसी रूप में दिखाई है जिस रूप में प्रकृति के पुजारी विलियम वर्ड्सवर्थ ने अंग्रेजी साहित्य में तथा हिन्दी के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत ने हिन्दी साहित्य में दिखाई है। इनका प्रकृति चित्रण पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-नाले, जल-थल, वायु-अनल, बेलि, विटप और तृणय कलि, फूल और सौरभय वन-उपवन, मधुऋतु और मधुवन तथा अंगूर लताओं तक ही सीमित होकर नहीं रह जाते, बल्कि खगोलीय पिण्डों सूर्य, तारे और चंद्रमा तथा उनके दैनिक तथा मासिक कार्यों रात्रि, दिवस, और ऋतु बादल, बूँदें और बारिश का बहुत

ही खूबसूरत चित्र खींचा गया है। कवि को वर्षा ऋतु अन्य ऋतुओं से तथा पेड़-पौधों में अंगूर लताएँ बेदह प्रिय प्रतीत होती हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य उपेक्षित हैं। यहाँ तक कि कवि ने प्राकृतिक-चित्रण में स्त्री और पुरुष के हाव-भाव और उसके अंगों को भी सम्मिलित कर लिया है। कवि का यह प्रकृति-चित्र उसके भौतिक-खूबसूरती के आग्रही होने का ही नतीजा है। यह कवि की भौतिकवादिता ही है जो उसे प्रकृति-चित्रण के लिए विवश करती है। साथ ही प्रकृत-भौतिक तत्वों को खूबसूरत निर्मित भौतिक पात्रों में लोगों के सामने हाला, प्याला और साकी के रूप में मधुशाला को पेश करता है और यह अपेक्षा करता है कि -

‘विश्व बने यह मधुशाला।’

डॉ. बच्चन ने सुरा और सुन्दरी को पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक हैं, बल्कि दोनों के बाह्य आवरण और आंतरिक आवरण में कोई साम्य नहीं है, बल्कि वैषम्य है। साम्य है तो स्त्री के बाह्य खूबसूरती में और सुरा की आंतरिक खूबसूरती में जिसका चरित्र है-नशा। सुरा और सुन्दरी का पान करके क्या राजा और क्या रंक, क्या देव और क्या अदेव, क्या मुल्ला और क्या मौलवी, क्या पंडित और क्या पादरी, क्या बच्चा और क्या बूढ़ा, सब बेशुध हो जाते हैं। सुरा और सुन्दरी दोनों भौतिक तत्व हैं जिसके आकर्षण से न तो कवि बच सका है न उसकी कविता और न उसके पाठक, तभी तो वे इसके तासिर को बताते हुए कहते हैं-

**“साकी बनकर मुरली आई
साथ लिये कर में प्याला,
जिनमें वह छलकाती लाई**

**अधर-सुधा-रस की हाला;
योगिराज कर संगत उसकी
नटवर नागर कहलाए;
देखो कैसों-कैसों को है
नाच नचाती मधुशाला।”**

डॉ. बच्चन की वाणी कहीं-न-कहीं मध्यकालीन क्रांतिकारी भक्त-संत, कवि कबीर से टकराती है। जिस तरह कबीर ने अपने समय के धर्म और इसमें आस्था से उपजे कर्मकांडी स्थलों मंदिर और मस्जिद को आड़ों-हाथ लिया था वैसे ही मधुशाला के रचनाकार ने भी लिया है। ‘हालावाद’ के प्रवर्तक का मानना है कि ये मंदिर और मस्जिद समाज में सिर्फ भेदभाव और साम्प्रदायिक तनाव पैदा करते हैं तथा किसी खास सम्प्रदाय में एकता की बात करते हैं। कवि का मानना है कि ये मंदिर और मस्जिद चिर-विधवा की तरह हैं, जो कभी-कभी जगा करती है और कभी-कभी सजा करती है, लेकिन मेरी मधुशाला नित्य नवेली दुल्हन की तरह सदा-सुहागिन है, जो नित्य सजा करती है और नित्य जगा करती है। यह मंदिर और मस्जिद पारलौकिक आस्थाओं का प्रतीक है, जिससे कवि अपने को काटकर लौकिक आस्थाओं के प्रतीक मधुशाला की बात करता है, जो उनके भौतिक-वादिता के आग्रही होने का संकेत छोड़ता है, साथ ही उनके वाणी का उपदेश मूलक होने से उनके वाणी पर गीता का प्रभाव भी दीख पड़ता है, इसकी एक बानगी देखिये-

**“सजें न मस्जिद और नमाजी,
कहता है अल्लाताला,
सजधजकर, पर साकी आता,
बन ठनकर, पीनेवाला,
शेख कहाँ तुलना हो सकती
मस्जिद की मदिरालय से,**

**चिर-विधवा है मस्जिद तेरी,
सदा-सुहागिन मधुशाला।”**

प्यालावाद के प्रवर्तक डॉ. बच्चन ने ‘मधुशाला’ को ‘संधि-स्थल’ घोषित किया है, वजह एक नहीं अनेक। जो भारतीय समाज अपने धर्म, जाति, सम्प्रदाय, रंग, कर्म, धन-दौलत, संस्कार आदि के आधार पर कई खानों में बँटा रहा है, यही एक स्थल है जहाँ पर आकर वे समान मानव महसूस करते हैं। यह वह स्थल है जहाँ वे अपना सारा धर्म, जाति, सम्प्रदाय, रंग, कर्म, धन-दौलत, संस्कार आदि तिरोहित करके पहुँचते हैं और अपने को पिलाकर गम गीला करते हैं।

कवि का ‘मधुशाला’ से प्रेम बेवजह नहीं है बल्कि ये गीता का प्रभाव ही है जो ‘मधुशाला’ की वकालत करते कवि महोदय नहीं थकते। गीता में एक जगह कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि “अर्जुन कभी-कभी अशांति शांति का कारण बनती है इसलिए युद्ध के लिए तैयारी करो, यह विश्व शांति का कारण बनेगा।” वैसे ही डॉ. बच्चन ‘मधुशाला’ को संधि स्थल घोषित करते हैं। इसके पीछे का कारण भारतीय समाज का कई खानों में बँटा हुआ होना ही है, जिसको वे एक मंच पर एक करना चाहते हैं, जबकि ‘मधुशाला’ पतनशील संस्कृति का द्योतक तथा समाज द्वारा निन्दनीय है-

**“मुसलमान औ’ हिन्दू हैं दो,
एक, मगर, उनका प्याला,
एक मगर, उनका मदिरालय,
एक, मगर, उनकी हाला;
दोनों रहते एक न जब तक
मस्जिद-मन्दिर में जाते ;
बैर बढ़ाते मस्जिद-मन्दिर,
मेल कराती मधुशाला !”**

मदिरालय की एक खासियत यह है कि यह सभी जगह गली, मुहल्ले में मिल जाते हैं लेकिन मंदिर, मस्जिद या धार्मिक स्थलों के साथ यह बात नहीं है। यह किसी विशेष स्थान पर ही मिलती है। साथ-ही-साथ यह सबका शरणस्थल भी नहीं है। यह तो किसी विशेष सम्प्रदाय का ही प्रार्थना-गृह है। यहाँ अन्य सम्प्रदाय के लोग जाते नहीं या जाना प्रतिबंधित है। वैसी स्थिति में यह 'मधुशाला' जग की शरणस्थली बन बैठी है, जहाँ कोई भेद नहीं किया जाता, किसी सम्प्रदाय विशेष से या किसी जाति विशेष से। यह 'फ्री-ट्रेड-जोन' है। यह 'मधुशाला' सबकी शरणस्थली है उसी तरह जिस तरह गीता में कृष्ण कहते हैं— 'सब मेरी शरण में आओ, सबका उद्धार होगा।' तभी तो एक पीनेवाला ने मुक्त कंठ से कहा—

**“दुत्कारा मस्जिद ने मुझको
कहकर है पीनेवाला,
दुकराया ठाकुरद्वारे ने
देख हथेली पर प्याला,
कहाँ ठिकाना मिलता जग में,
भला अभागे काफिर को ?
शरणस्थल बनकर न मुझे यदि
अपना लेती मधुशाला।”**

सेक्स में ही समाधि निहित होती है, उसी तरह जिस तरह समाधि में ही ध्यान निहित होता है। यह ध्यान भी सुरा और सुन्दरी में निहित होता है। एक कहावत है पुरुष के लिए सुरा और सुन्दरी से प्रिय और कोई विषय नहीं होता। गीता में भी भक्ति, कर्म और योग पर जोर दिया गया है। यहाँ ध्यान ज्ञान के लिए है लेकिन डॉ. बच्चन के यहाँ यह ध्यान सुरा और सुन्दरी पान के लिए है। यहाँ ध्यान निर्द्वन्द्व है, लेकिन

मन्दिर और मस्जिद में जो ध्यान लगाया जाती है वह द्वन्द्वग्रस्त है, क्योंकि वहाँ का ध्यान 'मन में राम बगल में छूरी' वाली होती है, तभी तो वे कहते हैं—

**“बजी नफीरी और नमाजी
भूल गया अल्लाताला,
गाज गिरी, पर ध्यान-सुरा में
मग्न रहा पीने वाला;
शेख, बुरा मत मानो इसको,
साफ कहूँ तो, मस्जिद को
अभी युगों तक सिखलायेगी
ध्यान लगाना मधुशाला !”**

मधुशाला अपने रचनाकार की इतनी पालतू है कि वह अपने निर्माता के सिर चढ़कर बोलती है। रचनाकार ने भी उसे मरघट (श्मशान) से तुलना कर दी है, यह इसलिए नहीं कि वह लोगों की जान लेती है बल्कि इसलिए कि दोनों अविरत गति से जगा करती है। वस्तुतः हकीकत की दुनिया में दोनों में से कोई भी समाज का पसंदीदा स्थल नहीं है, फिर भी उससे मुक्ति भी नहीं है। ये दोनों जमघट और मरघट गीता की तरह हैं जिसे लोग पसंद करें या न करें लेकिन ज्योंही इंसान अपनी नाकामयाबियों से टूटता है गीता मीता की तरह अच्छा लगने लगता है, तभी तो रचनाकार लिखता है—

**“सब मिट जाएँ, बना रहेगा
सुन्दर साकी, यम काला,
सूखें सब रस, बने रहेगे
किन्तु हलाहल औ' हाला;
धूमधाम औ' चहल-पहल के
स्थान सभी सुनसान बने
जगा करेगा अविरत मरघट,
जगा करेगी मधुशाला।”**

'मधुशाला' की जिस समय रचना हुई वह काल भारतीय इतिहास में 'राष्ट्रीय

मुक्ति आन्दोलन' का काल है। यह काल भारतीय इतिहास में सामाजिक सुधार, साम्यवाद और समाजवाद के प्रचार, राष्ट्रीय मान-सम्मान, भारतीय सभ्यता, संस्कृति, भू-आकृति, वीरता, धीरता, ज्ञान-विज्ञान आदि के गौरव-गान का काल है। यह काल हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' के नाम से जाना जाता है। इस समय निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी वर्मा जैसे दिग्गज कवि भारतीय सभ्यता, संस्कृति और प्रकृति का यशोगान कर रहे थे, वहीं इन सबके पूर्व राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा छोड़ी गई विरासत को राष्ट्र कवि दिनकर ने थामा और भारत का एक ओजस्वी शैली में वर्णन किया, अपने काव्य में। यह काल भारतीय के एक नये सिरे से व्याख्या का काल भी है, जिसमें गीता, उपनिषद्, वेद, पुराण आदि की समसामयिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की गई है। खासतौर से गीता के 'निष्काम कर्म' के दर्शन ने इस दौर में सब को प्रभावित किया और आज की भागम-भाग जिन्दगी में भी कर रहा है। यह लोगों में जीने की, कार्य करने की एक नई दृष्टि भरता है। स्वाभाविक है उस दौर में रचना कर रहे डॉ. बच्चन इन सब प्रभावों से अछूते नहीं रहते, इसीलिए उनके काव्य 'मधुशाला' में भारत की प्राकृतिक सीमा, खूबसूरती और पवित्रता का गान ही मिलता है—

**“हिम श्रेणी अंगूर लता-सी,
फैली, हिम जल है हाला,
चंचल नदियाँ साकी बनकर,
भरकर लहरों का प्याला,
कोमल कूल-करों में अपने
छलकारी निशिदिन चलतीं,
पीकर खेत खड़े लहराते,
भारत पावन मधुशाला।”**

और इसी तरह स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए बलि-वेदी पर हँस कर चढ़ जाने की इसमें उदार भावना भी मिलती है—

**“अति उदार दानी साकी है
आज बनी भारत माता,
स्वतंत्रता है त्रिसित काल का
बलिवेदी है मधुशाला।**

कोई भी रचना अपने युग का प्रतिबिम्ब होती है, अगर ऐसा नहीं है तो वह रचना कालजयी नहीं बन सकती। ‘मधुशाला’ जिस दौर में रची गई वह दौर राष्ट्रीय आन्दोलन का दौर था। इसका लक्ष्य न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता थी, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक भी। भारतीय समाज सदियों से सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़ा रहा है। यह कई खानों में बंटा रहा है— जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, अर्थ के नाम पर, काम के नाम पर, रंग के नाम पर, ज्ञान-विज्ञान के आधार पर, वेद-पुराण आदि के आधार पर। ऐसे में किसी भी तरह की राजनीतिक आजादी बेईमानी ही मानी जाती है। इसीलिए स्वतंत्रता सेनानियों ने तथा समाजवाद और साम्यवाद के प्रचारकों ने इसे हाथों-हाथ लिया और समाज में विद्यमान छुआछूत, मन्दिर-प्रवेश, बाल-विवाह, सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा, स्त्री उत्तराधिकार आदि को जोरदार ढंग से उठाया, वहीं समाजवादियों ने सम्पत्ति के समान बँटवारे को भी प्रश्रय दिया, जो आगे चलकर जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के रूप में सामने आयी। कवि का ध्यान इन सब पर था। वे यह भी देख रहे थे कि किस तरह मन्दिर और मस्जिद समाज में वैमनस्य का विष घोल रहे हैं और सामाजिक एकता को तोड़ रहे हैं जो कि राष्ट्र के मुक्ति में बाधक है। इसीलिए वे ‘मधुशाला’ की

वकालत करते हैं जहाँ कोई भेदभाव नहीं किया जाता— न जाति के नाम पर, न धर्म के नाम पर, न किसी और चीज के नाम पर। यह उसी तरह है जिस तरह श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं— ‘सब मेरी शरण में आओ, सबका उद्धार होगा।’ तभी तो डॉ. बच्चन कहते हैं—

**“सौ सुधारकों का करती है
काम अकेली मधुशाला।
साम्यवाद की प्रथम प्रचारक,
है यह मेरी मधुशाला।”**

महाकवि सुमित्रानंदन पंत ने एक बार कहा था— ‘मधुशाला की मादकता अक्षय है।’ यह वही बात है जो गीता के बारे में एक बार रूसी लेखक अलेक्जेंडर सोल्ज्नेनित्सीन ने कही थी कि ‘गीता ने हमें आने वाले विश्व के लिए सुखद जीवन का आश्वासन दिया है।’ यह बात सही भी लगती है। उपरोक्त दोनों कथनों के अर्थ-अनावृत में लगभग एक साम्य है सिर्फ शब्दों को छोड़कर। यह ‘गीता’ और ‘मधुशाला’ मानव जीवन में मतवालापन की आग्रही हैं, जो यह सीखाती है कि जीवन कैसे सुखद जीया जाए। ये संसार जिस स्थिति में है वहाँ पूँजीवाद, भौतिकतावाद, उपयोगितावाद, अवसरवाद और उपभोक्तावाद का बोलबाला है, जहाँ हर पल, हर पग पर, छल और छन्द है। यह विश्व अब खुली प्रतियोगिता का विश्व है, जहाँ रोजगार के अवसर बहुत कम हैं और रोजगार खोजने वालों की संख्या बहुत अधिक है। स्वाभाविक है मानव को जब मनोनुकूल रोजगार और वेतन-भत्ता नहीं मिलेगा, एक बेहतर जीवन के लिए तो मानव तनावग्रस्त होगा ही। यह तनाव लोगों में कुंठा, निराशा, घुटन, टूटन आदि पैदा करेगा जो पूरे विश्व शांति और संतति के लिए घातक है, वहीं यह गीता और मधुशाला मानव जीवन को

आघातों से मुक्त रखकर निष्काम कर्म के लिए प्रेरित करता है, तभी तो डॉ. बच्चन अपने ‘मधुशाला’ में लिखते हैं—

**श्रम, संकट, संताप सभी तुम
भूला करते पी हाला,
सबक बड़ा तुम सीख चुके यदि
सीखा रहना मतवाला;**

शराब वाचालता को बढ़ा देती है। यह वाचालता और कुछ नहीं निःसंकोचपन ही है। यह निःसंकोचपन मदिरालय में मुफ्त में मिलती है। कहा जाता है कि ज्योति मदिरा का एक घूँट हलक के नीचे उतरा कि शर्म, हया, लज्जा, संकोच काफूर हो जाती है और बच जाता है बेवजह तर्क की लड़ी और रट। यह सुरा साहित्यकारों का बहुत प्रियों (साहित्य, संगीत, सुरा और सुन्दरी) में से एक रहा है। कहा जाता है कि वो साहित्यकार ही क्या जिसमें सुरा और सुन्दरी पान न किया हो। यह सबको भरमाती है और अपने तर्कजाल में उलझाती है। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कह दिया कि सारा साहित्य सुरा और सुन्दरी की ही मुक्त कंठ से प्रशंसा-गान है। इस कैटेगरी के विचार पालनेवालों में एक खुशवंत सिंह बहुत चर्चित रहे हैं, जिनके लेखन का केन्द्र ही सुरा और सुन्दरी रहा है। इन लोगों का मानना है कि बिना पिये तर्क को लिए जीया नहीं जा सकता। यह कहें यह मदिरालय वह स्थल नहीं जहाँ मदिरा बेची जाती है, बल्कि यह तर्कशाला और जमशाला है। तर्क-वितर्क बौद्धिकता की देन है और यह बौद्धिकता भौतिकता की देन है और इस भौतिकता के लिए ही लोग एक-दूसरे के पास एकत्रित होते हैं जहाँ सौदा किए जाते हैं मानो यह जीवन मधुशाला नहीं, वेश्यालय हो। इसका एक उदाहरण देखिए—

“कितनी आई और गई पी
इस मदिरालय में हाला,
टूट चुकी अब तक कितने ही
मादक प्यालों की माला,
कितने साकी अपना-अपना
काम खत्म कर दूर गए,
कितने पीनेवाले आए,
किन्तु वही है मधुशाला।”

कालचक्र में पड़कर सब चीज घिस जाती है या परिवर्तित हो जाती है, उसी तरह जिस तरह बचपन, जवानी में; जवानी, बुढ़ापा में और बुढ़ापा कब्र में चला जाता है। इसे कोई रोक नहीं सकता। यह प्रकृति का नियम है। यह प्रकृतिगत नियम ही अध्यात्म की दुनिया में भाग्यवाद और नियतिवाद कहलाया। जिस तरह प्रकृति में परिवर्तन निहित है उसी तरह भाग्यवाद भी किए गए कार्यों का ही परिवर्तित रूप होता है जो तात्कालिक रूप से अपरोक्ष होता है लेकिन आने वाले समय के लिए बीमा की तरह होता है। प्रकृति में निहित परिवर्तन भी अप्रत्यक्ष ही होता है जो भविष्य में आभासनुमा परिवर्तित प्रतीत होता है। भाग्य भी इसी तरह है, जिसे हम भौतिकवादी दर्शन का अप्रत्यक्ष परिवर्तित रूप मान सकते हैं। गीता का दर्शन हमें एक ओर जहाँ भाग्यवाद का पाठ पढ़ाती है वहीं दूसरी ओर भौतिकवाद की। गीता का ‘निष्काम कर्म’ का दर्शन जहाँ हमें भाग्यवादी बनाता है, वहीं अर्जुन से यह कहना कि ‘अर्जुन युद्ध के लिए तैयारी करो, यह विश्व शांति का कारण बनेगा’ भविष्य की ओर इंगित करता है। भविष्य में कर्म फल की प्राप्ति जहाँ भाग्यवाद की ओर संकेत छोड़ती है, वहीं ‘अर्जुन युद्ध के लिए तैयार करो’ से वर्तमान का बोध होता है, जो भौतिकवादी दर्शन का आधार है।

गीता में अतीत को वर्तमान का कारण माना गया है। यही सब बात डॉ. बच्चन के काव्य ‘मधुशाला’ में मिलती है। गीता भी वर्तमान की आग्रही है और ‘मधुशाला’ भी। गीता भी भाग्यवाद, नियतिवाद और कालचक्र को प्रश्रय देती है और ‘मधुशाला’ भी। तभी तो डॉ. बच्चन भाग्यवाद और नियतिवाद पर कहते हैं—

“लिखी भाग्य ने जितनी बस
उतनी ही पाएगा हाला,
लिखा भाग्य में जैसा बस
वैसा ही पाएगा प्याला,
लाख पटक तू हाथ-पाँव
इससे कब कुछ होने का
लिखी भाग्य में जो तेरे बस
वही मिलेगी मधुशाला।”

निष्कर्ष :-

डॉ. बच्चन की ‘हालावाद’ की प्रवर्तक-कविता ‘मधुशाला’ है। इस काव्य का सार दो अर्थों में समझा जा सकता है। एक शब्दार्थों के स्तर पर दूसरा भावार्थों के स्तर पर। शब्दार्थों के स्तर पर इस पद्य का सार प्रधानतः स्त्री-पुरुष के रोमांटिकता में लिपटा हुआ श्रृंगारिकता के भिन्न-भिन्न भाव और आवेग हैं, जो हाला, प्याला, साकी, मधुशाला और मधुबाला रूपी शब्द प्रतीकों से प्रकटित होते हैं। कहीं-कहीं शब्दार्थों के स्तर पर सतही दर्शनों या आधुनिक दर्शनों जैसे, पंथ निरपेक्ष, साम्यवाद, भाईचारा, बंधुत्व, आसक्ति-मुक्तता या स्वतंत्रता तथा न्याय आदि की बात दीख पड़ती है, लेकिन इस काव्य का मुख्य उद्देश्य सनातन दर्शनों के समष्टिगत रूप को रखना ही है। इन सनातन दर्शनों में भी चार्वाकीयन दर्शन और गीता पर ही जोर है। प्रथम दर्शन ने जहाँ आधुनिक भाव-बोध,

उपभोग, संघर्ष, टूटन और घुटन पैदा की वहीं गीता ने इन संघर्षों से उपजी हताशा, टूटन, घुटन, मानसिक अशांति आदि से निजात दिलाने का कार्य किया और कर रही है तथा मानव समाज के स्वास्थ्य के लिए एक समतल भूमि तैयार की, तभी तो डॉ. बच्चन ने अपना परिचय देते हुए कहा—

“मिट्टी का तन, मस्ती का मन
क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।”

वहीं मन अनुकूल कार्य की सिद्धि न होते हुए देख दुःख से द्रवित अपने पुत्र और आज के सहस्राब्दी के महानायक अमिताभ बच्चन को यह सलाह दे डाली कि—

“गर तुम्हारे मन का हो तो अच्छा,
गर न हो तो और अच्छा। ”

यह उनके काव्य के भावार्थ में सिमटी हुई चार्वाकीयन दर्शन और गीता का घालमेल ही है जिससे उनका यह काव्य रूप तैयार हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. डॉ. हरिवंश राय बच्चन : मधुशाला (1935)
2. डॉ. हरिवंश राय बच्चन : मधुबाला (1936)
3. डॉ. हरिवंश राय बच्चन : मधुकलश (1937)
4. डॉ. हरिवंश राय बच्चन : हलाल (1946)
5. विद्वानों के मत (रामधारी सिंह दिनकर, भगवती चरण वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. धर्मवीर भारती, पद्मा सचदेव आदि) की टीका-टिप्पणी।
6. राजनीतियों पर मधुशाला का प्रभाव : महात्मा गाँधी और जयप्रकाश नारायण।

एम .ए., हिन्दी विभाग
नालन्दा खुला विश्वविद्यालय,
पटना।

भारत की जनसंख्या वृद्धि समस्या एवं समाधान : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. अर्चना

जनसंख्या किसी भी राष्ट्र के लिए अमूल्य पूँजी होती है, जो वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करती है, वितरण करती है और उपभोग भी करती है और इस तरह देश के आर्थिक विकास का संवर्धन करती है। इसलिए तो जनसंख्या को देश के लिए साधन भी और साध्य भी माना गया है। लेकिन हर किसी चीज की एक सीमा होती है और उसका उल्लंघन सर्वथा घातक है, भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के सम्बन्ध में यह कहना निहायत ही गलत नहीं होगा। जिस देश के साधन संसाधन वहाँ की आबादी के सापेक्ष होते हैं उसे एक अनुकूल या आदर्श जनसंख्या कह सकते हैं। पर विपरीत स्थिति में जन उपलब्ध संसाधन देश की जनसंख्या को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होते, तो इसे जनाधिक्य की संज्ञा दी जाती है। जनाधिक्य की समस्या से कई राष्ट्र संक्रमित हैं, पर अगर भारत की बात की जाए तो जनाधिक्यविद् के लहजों में इसे जनाधिक्य की श्रेणी से दो कदम आगे कहा जा सकता है।

आज़कड़े गवाह है कि भारत की आबादी बेलगाम, बेतहासा बढ़ती जा रही है। आजादी के समय भारत की जनसंख्या 33 करोड़ थी। 21 वीं सदी की शुरुआत क्या हुई भारत ने जनसंख्या के मामले में अरबपति होने का दर्जा हासिल कर लिया। यह बात अलग है कि यह दृष्टि भारत के लिए संकट का कारण बन सकती है। भारत में जनसंख्या 2001 का कार्य अपने आप में एक दुगुणाकारी एवं ऐतिहासिक घटना है। क्योंकि यह 21वीं शताब्दी तथा तीसरी सहस्रब्दी में होने वाली पहली जनगणना है। 28 फरवरी से 9 मार्च 2001 के दौरान जनगणना किया गया। 01 मार्च 2001 को भारत की

जनसंख्या 01 अरब 2 करोड़ 80 लाख थी। भारत के पास विश्व के कुल भू-भाग का 2.4 प्रतिशत भू-भाग मात्र है। फिर भी विश्व की 16.7 प्रतिशत आबादी का भार उसे वहन करना पड़ रहा है। अगर वैश्विक स्तर पर नजर डाली जाए तो भारत और चीन ही अभी तक जनसंख्या में अरबपति हो पाए हैं और किसी भी देश को यह गौरव नहीं प्राप्त हुआ है। भारत का स्थान चीन के बाद दूसरा आता है। आने वाले समय में उम्मीद यही है कि भारत चीन को रौंदते हुए आगे बढ़ जाएगा। क्योंकि वर्तमान में देश की वृद्धि दर 1.93 वार्षिक है। जो विश्व के अन्य देशों के मुकाबले कई कोसों आगे है। यहाँ तक कि विश्व के सर्वाधिक आबादी वाले देश चीन की वार्षिक जनसंख्या वृद्धि दर 1 प्रतिशत है। यदि भारत की वृद्धि दर कम होकर अपने अधिस्तर पर भी आ जाए तब भी आने वाले कुछ वर्षों में देश का पहला स्थान होगा।

भारत की 1891 से 2001 तक जनसंख्या की प्रकृति—

1891 – 1921	–	अवरुद्ध जनसंख्या
1921 – 1951	–	मर्यादित वृद्धि
1951 – 1981	–	तीव्र उच्च वृद्धि दर (जनसंख्या विस्फोट)
1981 – 2001	–	उच्च वृद्धि के साथ मन्द होने के स्पष्ट संकेत

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इस सदी की शुरु में जारी की गई एक रिपोर्ट के मुताबिक विश्व में प्रति मिनट 150 बच्चे जन्म लेते हैं जिनमें 45 का योगदान अकेले भारत ही करता है। भारत के इसी योगदान को देखते हुए रूस की मशहूर महिलावादी लेखिका मारिया आवारोबा ने सरकार को अपने देश रूस की आबादी में बढ़ोत्तरी के लिए भारतीय पुरुषों की सेवाएं लेने तक का सुझाव दे डाला। अपने देश रूस में आबादी की कमी से निपटने के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक “कास्टिंग इण्डिया” में लिखा है कि सरकार को जन्म दर में वृद्धि के मकसद से रूसी लड़कियों के लिए दूल्हे के रूप में भारतीय पुरुषों की व्यवस्था करनी चाहिए।

जनसंख्या वृद्धि के कारण :-

भारत में रुढ़िवादिता आदि सामाजिक दायरों में फँसे लोग

जनसंख्या वृद्धि के लिए उत्तरदायी ठहराए जा सकते हैं। हमारा ध्यान सिर्फ जन्म दर की निरन्तर होती वृद्धि की तरफ ही जाता है। लेकिन इसके पर्याप्त कारणों में मृत्यु दर की कमी को भी शुमार किया जा सकता है। देश में किसी भी कार्यक्रम का पूर्णरूपेण क्रियान्वन न हो पाना, अशिक्षा और गरीबी भी इसके कारण है। भारत के साथ एक त्रासदी यह भी है कि यहाँ अवाञ्छित तरीके से भी जनसंख्या वृद्धि हो रही है। इसके तहत घुसपैठ जनित आबादी को गिना जा सकता है। एक अनुमान के मुताबिक 1½ करोड़ बांग्लादेशी घुसपैठिए भारत में रह रहे हैं। बाकायदा इन्होंने राशन कार्ड भी बनवा लिया है और मतदाता सूची में भी संसूचित है माना जाता है कि इन घुसपैठियों को राजनीतिक संरक्षण भी मिला हुआ है। असुरक्षा भाव भी जनसंख्या वृद्धि का कारण बनता है। अपनी जमात के विलुप्त व विरल हो जाने के बेतुके अंदेशों के बीच लोग सोचते हैं कि हमारी संख्या जितनी अधिक होगी, हम उतने ही मजबूत होंगे। समाज में फैली वेश्यावृत्ति के कारण भी अवाञ्छित बच्चे बढ़ रहे हैं। कुछ महत्वपूर्ण कारण निम्नलिखित हैं:-

- सरकार द्वारा निरन्तर प्रयास के बावजूद कम उम्र में विवाह करना।
- धार्मिक विचार कि बच्चे भगवान की देन हैं। इसलिए स्वयं प्रयास नहीं करते हैं।
- सामाजिक मान्यता को मानकर कि भारतीय समाज में पुत्र का विशेष महत्व है। इसलिए पुत्र प्राप्ति के लिए निरन्तर बच्चों को जन्म देना।

- जनसंख्या वृद्धि में अज्ञानता और अशिक्षा को भी जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में प्रजनन, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव होना।
- उच्च जन्म दर का प्रमुख कारण देश की गर्म जलवायु का होना।
- वैज्ञानिक प्रगति के कारण मृत्यु दर में कमी आई है।
- अप्रवास की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है।
- रूढ़िवादिता और अंधविश्वास के घेरे में आकार शिक्षित नवदम्पति भी संदेह के कारण दो संतानों में अन्तर नहीं रख पाते हैं।
- गरीबी जनसंख्या वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण है। इसके साथ अंधविश्वास जुड़े रहते हैं कि अधिक बच्चे होंगे तो कमाने वाले अधिक होंगे।
- प्रजनन आयु वर्ग का कुल जनसंख्या के साथ अनुपात अधिक होना।
- देश में गर्भ-निरोधक साधनों का अभाव होना।
- शिशु मृत्युदर अधिक होने के कारण अधिक बच्चे पैदा करना।
- समाज में विवाह की अनिवार्यता जन वृद्धि में सहायक।
- जीवन प्रत्याशा का लगातार बढ़ना आदि।

जनसंख्या वृद्धि और समस्याएँ

आज भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती जनसंख्या स्थिरीकरण की है।

जनसंख्या की समस्या ने आज देश की सरकार तथा प्रशासन के समक्ष गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी है। यह चुनौती इस विशाल जनसंख्या के लिए भोजन, पानी, मकान, रोजगार, चिकित्सा, शिक्षा आदि उपलब्ध कराने की है। जनसंख्या वृद्धि ने सरकार की अनेक विकास योजनाओं को अप्रासंगिक बना दिया है। यदि कोई योजना वर्तमान में प्रस्तुत की जाती है, तो उसे पूरे होने तक जनसंख्या इतनी बढ़ चुकी होती है कि सम्बन्धित योजना की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। वर्तमान में सड़क, अस्पताल, विद्यालय, शुद्ध पेयजल, विधुत आपूर्ति आदि जैसी बुनियादी सुविधाएँ जनसंख्या के दबाव के सामने स्वयं को असहाय महसूस कर रही हैं। जनसंख्या विस्फोट से रोजगार की स्थिति पर बेहद गम्भीर दबाव डाला है। इस जनसंख्या विस्फोट ने देश के आर्थिक विकास पर भी नकारात्मक प्रभाव डाला है तथा वर्तमान में करोड़ों व्यक्ति रोजगार की तलाश में हैं। किसी छोटे से छोटे पद के लिए बड़े से बड़े डिग्री धारक लाईन में लग रहे हैं। इस जनसंख्या विस्फोट में देश के आर्थिक विकास पर भी नकारात्मक प्रभाव डाला है। भारत में प्राकृतिक संसाधनों तथा जनसंख्या के बीच असंतुलन ने अनेक सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया है।

बढ़ती जनसंख्या आर्थिक विकास सरकारी योजना, सामाजिक संवर्द्धन व पर्यावरण संतुलन में अड़ंगा डालती है। विपुल जनसंख्या के आगे कोई भी सरकारी विकास योजना “ऊँट के मुँह में जीरा” साबित हो रही है। इतनी बड़ी आबादी के समक्ष कई विकास की

योजनाएँ अव्यवहारिक व अप्रासंगिक हो जाती हैं। यही कारण है कि अब तक हर गाँव में बिजली नहीं पहुँचायी जा सकी है। पीने का पानी तक सर्वसुलभ नहीं हो पाया है। सड़क, अस्पताल, स्कूल से कई गाँव अछूते हैं। अपने देश में स्थिति यह है कि हजारों की आबादी पर बमुश्किल एक चिकित्सक व सशस्त्र सिपाही तक नहीं हैं। यह विस्फोटक आबादी का सूचक ही है कि प्रति वर्ष रेल बजट में जितनी भी नई ट्रेनों की घोषणा की जाये, बोगियों तो टूँसी ही रहती है। कहीं-कहीं तो ट्रेनों के ऊपर भी लोग यात्रा करते दिखते हैं। इतना ही नहीं आवास की ऐसी भीषण समस्या आन खड़ी हो गयी है कि नाली के किनारे, रेल पटरियों के किनारों, सड़क आदि के किनारे झोपड़ी बनाकर निवास करते हैं। अनेक मलिन बस्तियों में नगर पालिका के डोंगरों के भय तले रह जाते हैं। फुटपाथों, प्लेटफार्मों पर भी भारत का एक हिस्सा आज भी जीवन-यापन करता आ रहा है।

यह स्वीकार करना होगा कि जनसंख्या वृद्धि से उपजी बेरोजगारी की त्रासदी ने अपराधों को बढ़ावा दिया है। देखने वाली बात यह है कि जहाँ ज्यादा आबादी है और बेरोजगारी दर उच्च है वहाँ अपराध का ग्राफ भी उफान पर रहता है। इस क्रम में बिहार, 30प्र0 को हम विशेष रूप से संदर्भित कर सकते हैं। रोजगार के अभाव में युवा वर्ग गलत मार्ग पर चल रहे हैं और आतंकवाद, उग्रवाद जैसे राष्ट्रद्रोही व विखंडात्मक प्रवृत्ति में ही लीन होते जा रहे हैं। आज हालत यह है कि अपराध भी रोजगार का रूप लेता जा रहा है और अपहरण

तो उधोग ही बन गया है। यों कहें कि बढ़ती आबादी से उपजी बेरोजगारी की विभीषिका अपराध का दामन थामकर सामाजिक समरसता को क्षीण-क्षीण कर रही है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जनसंख्या की अतिशय वृद्धि ने पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। प्राकृतिक संसाधनों, जल, वायु, भूमि वन की स्थिति बिगड़ी है। जलावन के लिए हरियाली चौपट की जा रही है। स्थिति यह है कि 33 प्रतिशत के आदर्श वनाच्छादित भेद की बजाय देश में बमुश्किल 11 प्रतिशत भू-भाग में ही जंगल बचा है। यह तो भारत की एक छोटी सी तस्वीर भर है। आज भारत अनेकानेक समस्याओं से जकड़ा है।

जनसंख्या वृद्धि और समाधान

यूँ तो बढ़ती जनसंख्या पर खूब बात होती है; इसके दुष्परिणामों पर भी बन्त-बेवक्त चिंता जताई जाती है और बात जनसंख्या निमंत्रण की भी गाहे-बगाहे की जाती है। बावजूद इसके “बातें हैं बातों का क्या” वाली बात हो जाती है। जनसंख्या वृद्धि को न तो अचानक ब्रेक लगाकर रोका जा सकता है और न ही इसे बैक गियर में डाला जा सकता है, पर न्यूट्रल किया ही जाना चाहिए। आज भारत को सख्त जरूरत है कि जनसंख्या में वृद्धि दर को कम किया जाए और साथ ही आर्थिक विकास की गति में रफ्तार बढ़ाई जाए। इसमें सकारात्मक परिणाम निकलेंगे। जनसंख्या वृद्धि पर निमंत्रण के लिए कुछ निम्नलिखित उपाय हैं—

- शिक्षा प्रणाली में राष्ट्रीय समस्या को शामिल किया जाना चाहिए

तथा प्राथमिक शिक्षा सभी के लिए अनिवार्य होनी चाहिए।

- विवाह निर्धारण अधिनियम को कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।
- बड़े स्तर पर परिवार नियोजन कार्यक्रमों को प्रभावी बनाया जाना चाहिए।
- देश में क्षेत्रीय जनसंख्या नीति लागू की जानी चाहिए।
- जनता में सामाजिक सुरक्षा की भावना आनी चाहिए, ताकि वे ये न सोचें कि अधिक बच्चा पैदा करना सामाजिक सुरक्षा है।
- आर्थिक रूप से पिछड़े, किन्तु जनसंख्या की दृष्टि से अगड़े राज्यों के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए।
- आर्थिक विकास के माध्यम से लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि होनी चाहिए।
- जनसंख्या के नियंत्रण के लिए गैर सकारणी संगठनों व स्वयं सेवी संगठनों का सहयोग लिया जाना चाहिए।
- दो बच्चे पैदा करने वाले दम्पति को पुरस्कार दिया जाए।
- जनसंख्या वृद्धि के दुष्परभावों को सार्वजनिक किया जाना चाहिए।
- सम्बन्धित कार्यक्रमों को राजनैतिक और धार्मिक प्रभावों से बचाना चाहिए।
- साक्षरता अभियान में परिवार नियोजन की शिक्षा को शामिल किया जाना चाहिए।

- महिलाओं को व्यापक स्तर पर शिक्षित किया जाना चाहिए।
- जनसंख्या नियंत्रण के लिए प्रचार-प्रसार माध्यमों का प्रयोग अधिक से अधिक किया जाना चाहिए, आदि।

जनसंख्या वृद्धि को रोकने के सरकारी प्रयास

जनसंख्या वृद्धि जिस गति से अपनी रफ्तार पकड़े हुए है यह किसी एक व्यक्ति की समस्या नहीं है बल्कि सरकार के साथ-साथ जन साधारण की भी समस्या है। भारत 1952 से परिवार नियोजन कार्यक्रम लागू करने वाला पहला देश है। सरकार के प्रयास दिशा में सराहनीय है। अगर कमी है तो मात्र क्रियान्वयन की। जनसंख्या नियंत्रण हेतु राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार ने स्वामीनाथन समिति के रिपोर्ट पर 15 फरवरी 2000 को राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की घोषणा की।

जिसका मुख्य उद्देश्य दो बच्चों के मानक को प्रोत्साहित करना था। नीति के तीन और उद्देश्य निर्धारित किये गये। इसका तात्कालिक उद्देश्य आपूर्ति क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में गर्भ निरोधक स्वास्थ्य सुरक्षा की आपूर्ति करना है, जबकि मध्यकालीन उद्देश्य 2010 तक सकल प्रजनन दर को 2.1 के स्तर पर लाना तथा दीर्घकालीन उद्देश्य 2045 तक स्थिर जनसंख्या के लक्ष्य को प्राप्त करना है। नई जनसंख्या नीति के महत्वपूर्ण लक्ष्य निम्नलिखित हैं।

- सकल प्रजनन दर को 2.1 पर लाना।
- दो बच्चों के मापदंड को अपनाना।

- जन्म, मृत्यु, विवाह और गर्भ धारण का पंजीकरण कराना।
- शिशु मृत्यु दर 30 प्रति हजार जन्म तक ले आना।
- टीकाकरण द्वारा रोगों का निवारण।
- मातृत्व मृत्यु दर को 100 प्रति 1 लाख जीवित जन्म से नीचे लाना।
- 80 प्रतिशत प्रसव प्रशिक्षित कर्मचारी की उपस्थिति में हो।
- जन्म पूर्व लिंग निर्धारण तकनीक पर रोक लगाना।
- लड़कियों को देर से विवाह के लिए प्रोत्साहित करना।
- जनसंख्या नीति के कार्यान्वयन के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग नियुक्त करना।
- राज्य स्तर पर भी एक आयोग का गठन करना आदि।

इस नीति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह नीति सरकार की जनसंख्या सम्बन्धी चिन्ताओं की स्पष्ट प्रमाण है। सरकार यह आशा कर रही है कि 2045 तक जनसंख्या के स्थिरीकरण के लिए यह नीति उपयुक्त है। लेकिन कुछ आलोचकों ने आरोप लगाया है कि इस नीति में परिवार नियोजन का सारा भार महिलाओं पर थोप दिया गया है।

जनसंख्या नियंत्रण में एक बात विशेष तौर पर उल्लेखनीय है कि जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम की सफलता बहुत हद तक महिलाओं की भूमिका पर निर्भर करती है। इसके लिए आवश्यक है कि महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक

और शैक्षणिक दृष्टि से सशक्त बनाया जाए। जब महिलाएं शिक्षित होंगी तो उनकी सोच का स्तर व्यापक होगा और महिलाएँ इस दिशा में कुछ करने में सक्षम हो सकेंगी। जहाँ शिक्षित महिलाओं का स्तर ज्यादा है वहाँ जनसंख्या में कमी देखने को मिलती है। महिलाओं में आर्थिक सशक्तिकरण से भी इस दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल हो सकती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आवश्यकता इस बात की है कि जल्द से जल्द इस दिशा में जारी सरकारी सामाजिक स्तर से प्रयासों को तीव्र किया जाये। वरना जनसंख्या वृद्धि देश के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में बाधा बन सकती है। मानव अस्तित्व बचाने के लिए जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम को लागू किया जाना जरूरी है। मानव अस्तित्व बचाने के लिए जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम को जोर-शोर से लागू किया जाना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ —

1. जनांकिकी - आर०सी० चान्दना
2. भारत लोक और अर्थव्यवस्था - N.C.E.R.T.
3. जनांकिकी - डॉ० जीवन चन्द्रपंत
4. नेशनल पोपुलेशन पॉलिसी - 2000 (प्लानिंग कमिशन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली)
5. जनगणना रिपोर्ट - 2001 (भारत सरकार)
6. योजना- अप्रैल 2002 व जुलाई-2003
7. कुरुक्षेत्र - जुलाई - 2007
8. दैनिक हिन्दुस्तान, जनसत्ता, राष्ट्रीय सहारा, दृष्टिकोण मंथन।

पी-एच.डी. (भूगोल विभाग),
पटना विश्वविद्यालय, पटना

इक्कीसवीं सदी में 'हिन्द स्वराज'

अखलाख अहमद

गाँधीजी द्वारा लिखित पुस्तक 'हिन्द स्वराज' का यह शताब्दी वर्ष है। गाँधीजी 'किल्डोनन कैसल' नाम के जहाज से इंग्लैंड से दक्षिण अफ्रीका लौट रहे थे। 3 नवम्बर 1909 के दिन जहाज के ही कागजों पर उन्होंने लिखना शुरू किया। वे तेजी से लिखते चले गये। दाहिना हाथ थक गया तो बायें हाथ से लिखना शुरू किया। दस दिन बाद 20 नवम्बर को जब लिखना समाप्त हुआ तो पांडुलिपि के दौ सौ पचहत्तर पृष्ठों में से 40 पृष्ठ बायें हाथ से लिखा था। पुस्तक उन्होंने गुजराती में लिखी थी। बाद में सरकार को ध्यान में रखकर इसका स्वयं अनुवाद अंग्रेजी में किया। तत्कालीन मुम्बई की सरकार ने इसपर प्रतिबंध लगा दिया था। तीस हजार शब्दों में लिखी हुई इस किताब में गाँधीजी के उस समय के प्रमुख विचार समाहित हैं। 'हिन्द स्वराज' के लिखने के बाद गाँधीजी 39 वर्ष जिए। इस पुस्तक में वर्णित विचार पर अपने जीवन के अन्तिम सांस तक दृढ़ रहे। 'हिन्द स्वराज' की एक प्रति गाँधीजी ने टालस्टाय को भेजी थी। टालस्टाय ने अपनी डायरी में लिखा : 'सभ्यता के बारे में गाँधीजी को पढ़ा, अद्भुत! आश्चर्यजनक।' (Read Gandhi about civilization, wonderful)

'हिन्द स्वराज' के शताब्दी वर्ष पर इसमें वर्णित विचारों की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता पर विचार, पुनर्विचार और पुनर्पाठ लोग कर रहे हैं। अब तक लोगों ने 'भागवत पुराण' की तरह इस पुस्तक को पूजा की पुस्तक मान लिया था। भारतीयों ने इसे पढ़ा नहीं। गाँधी ने अपने विचारों और आचरण से करोड़ों लोगों को प्रभावित किया और लाखों लोगों को आजादी की जंग में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। लेकिन उनकी जरूरी किताब पर लोगों ने ध्यान नहीं दिया। गाँधीजी ने 'हिन्द स्वराज' को एक निश्चित उद्देश्य से लिखा था जो सर्वप्रथम 'इंडियन ओपिनियन' में छपा था। दक्षिण अफ्रीका में असहयोग आन्दोलन शुरू करने के पहले उन्होंने अपने नैतिक विश्वास

और राजनीतिक विचार को सूत्रित किया था। गाँधीजी ने लंदन में बसे हिंसा के समर्थक भारतीयों को चेतावनी के लहजे में कहा था कि हिंसा का रास्ता आत्मघाती है। वे आधुनिक सभ्यता को भौतिक सभ्यता की संज्ञा देते थे और पागलों की अंधी दौड़ मानते थे। वे कहते थे कि तकनीकी सभ्यता के चमक-दमक के कारण एक गंभीर त्रासदी से मानव मन अभिशप्त है। जीवन के भाग दौड़ में मनन एवं चिन्तन के लिए शायद ही किसी के पास समय है। अपने मृत परिजनों की शायद ही किसी को याद आती है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास और प्रगति ने आदमी से आदमीयत को छिन लिया है। गाँधीजी ने अपनी इस पुस्तक में एक जगह लिखा है कि एक अंग्रेज लेखक एडवर्ड कारपेंटर की पुस्तक 'सिविलाइजेशन ऐंड इट्स काज ऐंड क्योर' में आधुनिक सभ्यता को बीमार सभ्यता की संज्ञा दी गई है।² कारपेंटर के अतिरिक्त मैक्सनाडो की पुस्तक 'पैराडक्सिस ऑफ सिविलाइजेशन' का भी उनपर गहरा प्रभाव पड़ा था।³ इन विचारकों की तरह, गाँधी ने भी यह पाया कि आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति ने जहां लोगों को शिक्षित, जागृत तथा आत्मनिर्भर बनाया है, वहां उसने उसे स्वच्छंद, स्वार्थी, मक्कार, लोभी, लालची, शराबी, व्यभिचारी तथा सत्य की जगह झूठ का सहारा लेने वाला भी बना दिया है। गाँधी भी पाश्चात्य सभ्यता के इस नकारात्मक तथा विनाशकारी रूप को स्वीकार न कर पाए। गाँधी ने बताया – हमें मशीनी सभ्यता से निजात तभी मिल सकती है जब हम सिद्धान्त में नहीं बल्कि वास्तविकता में भविष्य के जीवन और ईश्वर में आस्था पैदा करेंगे। यदि मनुष्य धरती पर अपने को एक पथिक के रूप में समझे तब धरती पर ईश्वर का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

'हिन्द स्वराज' का मूल उद्देश्य है आधुनिक सभ्यता के नैतिक दिवालियापन, छल-प्रपंच और आत्म प्रवंचना से युक्त आत्मघाती प्रवृत्तियों को उजागर करना। गाँधी सभ्यता की हर बात को संदेह की दृष्टि से नहीं देखते। वे मानते हैं कि एक व्यक्ति जो आधुनिक सभ्यता से आक्रान्त है वह एक ऐसा स्वप्न द्रष्टा है जो अपने स्वप्न में स्वप्न को सत्य समझ लेता है। हमारी आधुनिक उपभोक्तावादी सभ्यता एक छलावा है जो जीवन के प्रति सन्नद्ध होते हुए पतन के गर्त में गिरने के लिए

अभिशाप्त है। आधुनिक मशीनी सभ्यता अपने जन्म के साथ ही कब्र में जाने की तैयारी कर लेती है। गाँधी कहते हैं कि भारत को अंग्रेजी साम्राज्य से उतनी क्षति नहीं हुयी जितनी की आधुनिक सभ्यता से।¹⁴

नवजागरण काल में भी अच्छे लोगों को भ्रष्ट विश्व पर आँसू बहाने के सिवा कुछ भी शेष नहीं है। आधुनिक सभ्यता पर गाँधी की समीक्षा विश्व की बढ़ती हुई संरचना पर एक टिप्पणी है। यहाँ गाँधी का विचार टालस्टाय के विचार से मेल खाता है। दोनों का मानना है कि आदमी की चेतना मर चुकी है। गलाकाट स्पर्धा हमारे बंधन का कारण है। जीवन की सही दिशा आंतरिक ही हो सकती है न कि बाह्य। मानव 'अन्य' लोगों के मत एवं निर्देशों के कारण अपने जीवन की स्वतंत्रता खो देता है।

हमें बाह्य उपलब्धियों एवं सुविधाओं से अपने को तटस्थ रखना चाहिए। गाँधी का मत है कि हमें धार्मिक एवं आध्यात्मिक कार्यों में संलिप्त रहना चाहिए। बाह्य उपलब्धियों की सीमा रेखा तय करना आवश्यक है। धार्मिक विकृतियों से अधिक घातक हमारी प्रौद्योगिकिय सभ्यता की विकृतियाँ हैं। यह सच है कि धार्मिक कट्टरता के कारण हिंसा पनपती है और खून-खराबा होना समाज के लिए अभिशाप है। धार्मिक अंध-विश्वास का यदि आधुनिक सभ्यता की विकृतियों से तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि धार्मिक अंधविश्वास से उतना घाटा नहीं हुआ है जितना हमें मशीनी सभ्यता से हुआ है। आधुनिक

सभ्यता न तो नैतिकता और न धर्म का ध्यान रखती है। सभ्यता के पक्षधरों का कहना है कि उसका काम धर्म की शिक्षा देना नहीं है।¹⁵

गाँधी ने वर्तमान पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति को बड़े पास से देखा, समझा और जहाँ उसकी अच्छाइयों और गुणों की प्रशंसा की और अपनी स्वराजवादी व्यवस्था में उन्हें अपनाने की चेष्टा की, वहाँ उनकी कमियों, त्रुटियों और दोषों की कटुतम आलोचना भी की, जो उनकी विभिन्न पुस्तकों, विशेषकर 'हिन्द स्वराज्य' में देखने को मिलती है। उन्होंने पाश्चात्य आधुनिक सभ्यता को पाशविक सभ्यता की संज्ञा दी है; जो मानव के 'अंधायुग' अथवा 'ब्लैक एज' की प्रतीक है।¹⁶

यह एक ऐसी बीमारी की तरह है जो मनुष्य को भ्रष्ट करती है, उसे मक्कार तथा कायर बनाती है तथा उसे धर्म और नैतिकता से विमुख करके, उसे ईश्वर से जिसने उसकी रचना की है, भी विमुख कर देती है।¹⁷ इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता अनैतिकता का प्रसार करती है : उसे धन और ऐश्वर्य का गुलाम बना देती है; तथा उसे पुलिस, सेना, अदालत, वकील, अस्पताल डॉक्टर, मिलों और रेलों के अधीन कर देती है।¹⁸ गाँधी की आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की यह आलोचना न केवल उनके प्रत्यक्ष और सम्पर्क पर आधारित थी, बल्कि कारपेंटर और मैक्सनार्डो की पुस्तकों का भी उनपर गहरा प्रभाव था।¹⁹

गाँधी ने भारतीय सभ्यता को पश्चिमी सभ्यता की मनोवृत्ति से अलग बताने

का प्रयास किया है। 'हिन्द स्वराज के छठे अध्याय में जिसका शीर्षक है – 'सभ्यता का दर्शन' – गाँधी जी लिखते हैं कि कुछ यूरोपीय विचारक आधुनिक सभ्यता को एक तरह का रोग मानते हैं, जिसकी पहचान यह है कि वह बाहरी खोजों में और शरीर के सुख में ही अपनी सार्थकता और पुरुषार्थ मानती है। उनके अनुसार यह सभ्यता कल्याणकारी नहीं है क्योंकि इसमें नीति के नाम पर अनीति सिखाई जाती है जबकि धर्मनीति प्रधान सभ्यता ही सच्ची सभ्यता है। सभ्यता की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि सभ्यता आचरण है कि जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने का मतलब है – नीति का पालन करना। नीति का पालन करने का अर्थ है अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना।¹⁰ आगे वे हिन्दुस्तानी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता की तुलना करते हुए लिखते हैं कि हिन्दुस्तानी सभ्यता नीति को मजबूत करने की ओर है। गाँधी आधुनिक सुख-सुविधाओं को मनुष्य के आत्म निर्भर और स्वतंत्रता के विपरीत मानते हैं। 'हिन्द स्वराज' में गाँधी को भारतीय सभ्यता के भोगवादी संस्कृति के शिकार होने के खतरे का अहसास हो रहा था। उनके अनुसार भारत का बल सत्याग्रह या आत्मबल या करुणा का बल है। अतः हमारा दूसरे के इतिहास से कम संबंध है। दूसरी सभ्यताएँ मिट्टी में मिल गईं जबकि हमारी सभ्यता को आज तक आँच नहीं आयी है। गाँधी अपने 'हिन्द स्वराज' में सत्यार्थ प्रकाश के लेखक दयानन्द सरस्वती और रामकृष्ण मिशन के जन्मदाता से अलग दिखाई पड़ते हैं। यहाँ वेद के सन्त की

दुहाई नहीं दी गई है और न अतीत का गौरवगान ही किया गया है। भोगमूलक सभ्यता ने जिस तथाकथित ऊँची भोगवादी जीवन प्रणाली को जन्म दिया है – गाँधी आत्मसंयम की संस्कृति से परिभाषित जीवन संरचना में सीधा, सफल और मर्यादात्मक हस्तक्षेप करते हैं। 'हिन्द स्वराज' में गाँधी अपने को एक ऐसी सभ्यता के प्रमाणिक प्रतिनिधि बताने का प्रयास करते हैं जो आत्मबल पर टिकी हुई है जिसके संस्कार निरक्षर जन में समाहित हैं और जो गाँधी के शब्दों में असली भारत है। इसी आत्मविश्वास से लबरेज गाँधी कह सकता है कि "हिन्दुस्तान के हित चिन्तकों को चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की सभ्यता से, बच्चों जैसे माँ से चिपका रहता है, वैसे चिपके रहें।¹¹ यहाँ गाँधी का सांस्कृतिक आत्मविश्वास ही वह मूल तत्व है जो आज भी 'हिन्द स्वराज' को प्रासंगिक बनाए हुए है। इसी आधार पर गाँधी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और उनके द्वारा स्थापित उपनिवेशवाद की कटु आलोचना करते हैं।

इस तरह, गाँधी का 'हिन्द स्वराज' भारतीय आधुनिकता को रेखांकित करने के उनके प्रथम प्रयासों में एक था। उनका इरादा स्वदेशी और विदेशी के बीच कोई अभेद दीवार खड़ी करने की नहीं थी। वे तो केवल इस उपनिवेशवादी मानसिकता या मानसिक उपनिवेशीकरण से सावधान कर रहे थे।¹² पाश्चात्य प्राच्यविदों के प्रभाव में भारतवासियों ने यह स्वीकार कर लिया था कि भले ही हमारा अतीत बहुत गौरवशाली रहा हो, वर्तमान को बनाने के लिए पश्चिम की ओर ही जाना पड़ेगा। पश्चिमीकरण ही

आधुनिकीकरण है। इस दासतापूर्ण विचार के विरुद्ध गाँधी के 'हिन्द स्वराज' में आवाज उठाई और एशियायी स्वायत्तता के आधार पर आधुनिकता को समझाने का ताजा एजेण्डा प्रस्तुत किया। उन्होंने गैर-पश्चिमी समाज और सभ्यता के बारे में पश्चिम की अभिधारणाओं की आलोचनात्मक जाँच-परख, व्याख्या और मूल्यांकन की परम्परा का सूत्रपात किया। एक भविष्य द्रष्टा ऋषि की तरह उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता में निहित अशुभ प्रवृत्तियों की समीक्षा प्रस्तुत की। उन्होंने केवल उपनिवेशवाद का ही विरोध नहीं किया अपितु आधुनिकता के पश्चिमी मॉडल को कठघरे में ला खड़ा किया। उनकी कोशिश थी कि वैश्विक आधुनिकता के मायाजाल को हटाकर एक ऐसी आधुनिकता गढ़ना जिसके नायक हम स्वयं हों। वे अपनी सभ्यता की शर्तों पर आधुनिक होना चाहते हैं, परोपजीवी की तरह नहीं।

'हिन्द स्वराज' में गाँधी की चिन्ता का एक विषय 'यंत्र युग' है जो आज की सभ्यता का मुख्य पहचान है जिसे वे महापाप मानते हैं।¹³ गाँधी की 'हिन्द स्वराज' में यंत्र को महापाप मानने की कड़ी आलोचनाएँ हुईं। ऐसा भ्रम फैला कि गाँधी यंत्र मात्र के ही विरोधी हैं लेकिन आलोचनाओं पर हुई प्रतिक्रियाओं के भीतर से यह बात स्पष्ट हुई कि गांधी तमाम यंत्रों के खिलाफ नहीं हैं क्योंकि चरखा भी तो एक यंत्र ही है। उनका विरोध यंत्र से नहीं बल्कि यंत्रों के दुरुपयोग से था। उन्होंने स्वयं कहा "मेरा विरोध यंत्रों के लिए नहीं है बल्कि यंत्रों के पीछे जो पागलपन चल रहा है, उसके लिए है। आज तो जिन्हें

मेहनत बचाने वाले यंत्र कहते हैं उनके पीछे लोग पागल हो गये हैं। उनसे मेहनत जरूर बचती है लेकिन लाखों लोग बेकार होकर भूखों मरते हुए रास्तों पर भटकते हैं। समय और श्रम की बचत तो मैं भी चाहता हूँ, किन्तु वह किसी खास वर्ग की नहीं बल्कि सारी मानव जाति की होनी चाहिए। यंत्रों के उपयोग के पीछे जो प्रेरक कारण है वह श्रम की बचत नहीं है, बल्कि उनकी हद बाधने का है।¹⁴ 'हम जो कुछ करें उसमें मुख्य विचार इंसान के भले का होना चाहिए। ऐसे यंत्र नहीं होने चाहिए जो काम न रहने के कारण आदमी के अंगों को जड़ और बेकार बना दे। इसलिए यंत्रों को मुझे परखना होगा। जैसे सिंगर की सीने की मशीनी का मैं स्वागत करूँगा।¹⁵

ऊपर के खण्डों में हमने 'हिन्द स्वराज' में गाँधी द्वारा आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और उद्योग अनुप्राणित समाज से सम्बद्ध विकास की अवधारणा की समीक्षा देखी। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और यंत्र युग की जिस तरह गाँधी ने क्रिटिक तैयार की उसी तरह उन्होंने ब्रिटिश संसदीय लोकतंत्र को भी आलोच्य दृष्टि से देखा।

पश्चिमी यूरोपीय वेस्टमिंस्टर मॉडल, जो संसदीय लोकतंत्र का जनक और प्रतीक माना जाता है, वह मूल रूप से गाँधी की स्वराजवादी व्यवस्था की आत्मा है जिसे गाँधी ने श्रेयस्कर मानकर स्वीकार किया है। लेकिन साथ ही साथ, उन्होंने उसकी कमियों, त्रुटियों और दोषों की कटुतम निन्दा भी की है। वह चाहते थे कि उनके स्वराजवादी राज्य में वे सब दुर्गुण न हों जो इंग्लैंड के संसदीय

लोकतंत्र के परिचायक से बन गए हैं। सबसे पहली बात तो वह है कि ब्रिटिश संसदीय जनतंत्र एक ऐसी एकात्मक व्यवस्था है, जो अत्यन्त शक्तिशाली है, तथा जिसकी शक्ति में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। सत्ता के इस अविरल केन्द्रीकरण से व्यक्ति की पहल और अवसर की स्वतंत्रता का निरंतर हनन हो रहा है, इसके सदस्य न केवल स्वार्थी और मक्कार हैं बल्कि भ्रष्टाचारी भी हैं जो न केवल घूस लेते हैं बल्कि अपने समर्थकों को राजनीतिक घूस देते भी हैं।¹⁶

गाँधी ने ब्रिटिश संसद की तुलना, उसकी कार्यप्रणाली के संदर्भ में, एक बांझ और वेश्या से की है।¹⁷ गाँधी ने ब्रिटिश संसद को इसलिए बांझ कहा क्योंकि वह स्वयं अपने लोगों की भलाई के लिए भी तब तक कार्य नहीं करती, जब तक वह उसके लिए एक लम्बा संघर्ष न करे और उस पर राजनीतिक दबाव न डाले। दूसरी ओर गाँधी ने उसे वेश्या की संज्ञा इसलिए दी क्योंकि अपने आपको सर्वप्रमुख सम्पन्न करने वाली ब्रिटिश संसद अपने प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी मंत्रिमंडल का मार्ग निर्देशन करने के बजाय, हर प्रधानमंत्री के समक्ष आत्मसमर्पण कर देती है तथा उसके वशीभूत होकर, उसके प्रति अपनी दासता का प्रदर्शन करती है। इसके अलावा ब्रिटिश संसद व्यक्तिगत तौर पर अपनी आत्मा और विवेक से काम न लेकर बिना सोचे-समझे, हर बात में भेड़चाल की तरह अपने दल का ही समर्थन करते हैं, तथा जनहित का कार्य करने के बजाय प्रायः अपने दल की स्वार्थसिद्धि ही करते हैं।

गाँधी ने यह भी पाया कि जिस प्रकार ब्रिटिश संसद काम तथा दुर्बल और निर्धन लोगों का शोषण करती है उससे न केवल समय और धन की बर्बादी होती है, बल्कि उससे पूंजीवाद का पोषण तथा दुर्बल और निर्धन लोगों का शोषण भी होता है।¹⁸ गाँधी की यह आलोचना टालस्टाय द्वारा की गई आलोचना जैसी ही है।¹⁹

गाँधी ने यह भी पाया कि समानता और स्वतंत्रता का दम भरने वाली ब्रिटिश संसद दक्षिण अफ्रीका तथा अमेरिका जैसे राष्ट्रों की रंगभेद की नीति का समर्थन भी करती है।²⁰ हिंसा पर आधारित ब्रिटिश शासन व्यवस्था अपने धर्मगुरु ईसामसीह के सर्वव्यापी प्रेम के संदेश की अवहेलना करके हिंसा और जोर-जबर्दस्ती का सहारा लेती है और इसीलिए उसे अपने कानूनों का पालन करवाने के लिए भी दंड व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है, जो सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को और अधिक हिंसक और पाशविक बना देती है।²¹ प्लेटो की तरह, गाँधी भी चाहते थे कि ऐसी अनुचित तथा अनैतिक व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था कायम हो जाए जो ब्रिटिश व्यवस्था में विद्यमान सभी दुर्गुणों से मुक्त हो तथा जो जोर-जबर्दस्ती का सहारा लेने के बजाय अपनी बात को समझा बुझाकर मनवाए।²²

गाँधी जी पूंजीवाद को आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की उपज मानते थे और इसे वे उपनिवेशवाद से भी ज्यादा बड़ा और स्थायी खतरा भारत के लिए मानते थे। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने साफ लिखा है कि इस पूंजीवादी व्यवस्था

को उसके अपने हाल पर छोड़ दिया जाये तो यह तो अपने आपको ध्वस्त कर लेगी। 'हिन्द स्वराज' आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की सटीक और प्रामाणिक भारतीय आलोचना है। गाँधी ने कहा है कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं और शारीरिक सुख की लालसाओं को निर्बाध, निर्द्वन्द्व और अनन्त बढ़ाने और उसकी पूर्ति के लिए लगातार उद्यम करने, दूसरों के संसाधन छीनने और हिंसा से सत्ता हथियाने का ही नतीजा है कि यूरोप के देशों में उपनिवेशवाद चलाकर लोगों को गुलाम बनाया। ...यह सभ्यता नवजागरण के बाद आयी नैतिकहीनता और मशीनों से बढ़े उत्पादन से पैदा हुई उपभोगिता से जन्मी है। यह ऐसी राक्षसी है जिसका पेट कभी नहीं भरता। गाँधी ने कहा, इस पृथ्वी के पास प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूरी करने की सामर्थ्य है लेकिन लालच तो यह एक व्यक्ति का भी पूरा नहीं कर सकती।

गाँधी ने अपनी पोथी 'हिन्द स्वराज' में उस भारतीय मध्य वर्ग को जो गौरांग महाप्रभुओं की नकल कर रहे थे चेताते हुए कहा था- आप पश्चिमी आधुनिक सभ्यता के रंग में रंग कर अंग्रेजों के बिना अंग्रेजी राज चाहते हैं। आपके लिए यही स्वराज है। इस राज में करोड़ों किसानों, मजदूरों और बेरोजगारों को गुलामों की तरह रहना होगा। जिसके लिए आजादी की लड़ाई लड़ी जा रही है उन्हें राजनीतिक अधिकार भले ही मिल जायें लेकिन उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति ऐसी दयनीय होगी कि वोट के अधिकार का कोई मतलब नहीं रह जायेगा। गाँधी का यह विचार

कितना सही और सटीक था – हम आज भारत में देखकर इसे कैसे झुठला सकते हैं।

गाँधी ने भारत से उपनिवेशवाद को समाप्त करने की पहल की थी। इसका प्रभाव दुनिया भर में पड़ा तथा दुनिया से उपनिवेशवाद विगत शताब्दी के सत्तर के दशक आते-आते समाप्त हो गया। लेकिन गाँधी के देश ने पश्चिमी आधुनिक सभ्यता के नये पैरोकार रीगन और मारग्रेट थैचर के नेतृत्व में वाशिंगटन आम राय की नवउदारवादी नीति को गले लगा लिया है। वित्तीय पूंजी जो आवारा पूंजी कही जा रही है – अमेरिका इसके द्वारा अपने देश की राजधानी में बैठकर (बिना किसी देश में जाकर उस देश को बिना गुलाम बनाये) विकासशील देशों को एक ही डंडे से हाँक रहा है जिसमें भारत भी शामिल है। वे भी वही कर रहे हैं जिसे ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों ने किया था। दुनिया की दौलत लूट कर लाओ, अपने देश को समृद्ध बनाओ तथा विलासिता और भोग के सारे साधन से उच्च जीवन स्तर प्रदान करो।²³

गहरे आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक एवं नैतिक संकट में घिरी दुनिया मानो एक चौराहे पर खड़ी है। सोवियत रूस और पूर्वी यूरोपीय देशों में समाजवाद का प्रयोग असफल हो गया है। पूंजीवाद अपने सर्वाधिक नग्न रूप में सारी दुनिया को अपना शिकार बना रहा है। मुक्त बाजार के पूंजीवादी नारे ने कुछ सम्पन्न मुल्कों की मुट्टी में सारी दुनिया की मानवता को बंधक रखने का प्रयास किया है। नब्बे के दशक से शुरू हुई

तथाकथित नई आर्थिक नीति ने न तो हमारे देश में कुछ नया रचा है, न कोरिया, जापान, इंडोनेशिया, मलेशिया जैसे देशों में, जिनके वैभव का सारा महल हमारी आँखों के सामने धूल-धूसरित हो गया है।

उदारीकरण और निजीकरण की नई आर्थिक नीति के कारण आज अमेरिका सहित सारी दुनिया आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रही है। फुकोयामा ने इस नीति को अमरत्व की घूटी पिलायी थी आज वह भी उस घूटी से अपना हाथ खींच लिया है। सम्पन्न राष्ट्र अपने लिए संसाधनों की लूट-खसोट मचाए हुए हैं और एक-एक कर कमजोर मुल्कों की कमर टूटती जा रही है। आज का यह सच उस तस्वीर से कितना मिलता है; जिसकी चर्चा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में की थी।

हम अपने देश के संदर्भ में तो पाते हैं कि आम जनता की गरीबी एवं गुलामी बढ़ती ही जा रही है। तथाकथित विकास की हमारी दिशा ऐसी है कि जो हमारे लाखों गांवों और इनकी संस्कृति को योजनापूर्वक तोड़ रही है। जीन के जरूरी संसाधन कुछ लोगों की मुट्टी में सिमटते जा रहे हैं और हमारे शहर, भीड़ भरी गंदगी के ढेर बनकर रह गए हैं। गांव और शहर दोनों में न जीवन बचा है, न जीविका। खुली अर्थव्यवस्था एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अमार्यादित प्रवेश ने इस प्रक्रिया को और तेज ही नहीं कर दिया है, बल्कि एक अधोषित गुलामी का खतरा सर उठ रहा है। सारा पर्यावरण जहरीला होता जा रहा है तो राजनीतिक जीवन भ्रष्टाचार तथा हिंसा का पर्याय बनता जा रहा है।

गाँधी पर जितने प्रकार के शोध हुए हैं – उनमें पश्चिमी विचारों और विचारकों का गाँधी पर पड़े प्रभाव भी शामिल हैं। वे विचार जो गाँधी को प्रभावित कर रहे थे – उनमें शामिल था –

- (क) ईसा मसीह, ईसाई धर्म तथा ईसाई मतांतरावलंबी पादरी।
- (ख) ब्रिटिश आदर्शवाद (ग्रीन), उपयोगितावाद (बेंथम और मिल), अल्पमतवादी, जॉन रस्किन की 'अनू दिस लास्त' नामक पुस्तक से अत्यधिक प्रभावित हुए थे और ब्रिटिश सामाजिक समझौतावाद (जॉन लॉक) और ब्रिटिश विचारक हैराल्ड लास्की के विचारों से भी वे इत्तेफाक रखते थे।
- (ग) यूनानी विचारकों जिनमें सुकरात, प्लेटो और अरस्तू प्रमुख थे।
- (घ) अमेरिकी विचारक थोरो और लिंकन के विचारों का भी उनपर प्रभाव था।
- (ङ) रूसी शान्तिवादी विचारक टालस्टाय का प्रभाव गाँधी पर सर्वाधिक था। टालस्टाय की तरह गाँधी भी एक दार्शनिक अराजकतावादी थे। वह भी एक आदर्श समाज में राज्य को अनिवार्य नहीं मानते। उन्होंने भी ऐसे शासन मुक्त समाज का स्वप्न देखा था जिसमें हिंसा पर आधारित राज्य जैसा संगठन मानव प्रयत्न पर अंकुश न लगा पाएगा तथा उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में आत्मानुसरण का सम्पूर्ण अवसर प्रदान करेगा। गाँधी ने

शासन-मुक्त समाज को राम राज्य की संज्ञा दी थी। इस तरह गाँधी को पश्चिमी विचारधारा ने प्रभावित किया था जिसका 'हिन्द स्वराज' में हम जहाँ-तहाँ उल्लेख पाते हैं।

'हिन्द स्वराज' के प्रकाशन के 60 वर्ष पूर्व मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र लिखा था। गाँधी के राजनीतिक क्षितिज पर आने के पूर्व मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी विशिष्ट कृतियों से दुनिया के लोगों को उन विचारों के बारे में सोचने के लिए विवश किया था। उन विचारों का दुनिया भर में प्रचार-प्रसार हुआ। उन विचारों को अमली जामा पहनाने के लिए दुनिया भर में कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना हुई। इन विचारों से दुनिया हिल उठी। साथ ही मार्क्स के कम्युनिज्म के सिद्धान्त के इर्दगिर्द और भी समाजवादी सिद्धान्त जैसे फेबियनवाद, श्रेणी समाजवाद एवं सिण्डिकलवाद जैसे विचारों का यूरोप की धरती पर जन्म हुआ। लेकिन गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में इनका उल्लेख तक नहीं किया।

निष्कर्ष

गाँधी का 'हिन्द स्वराज' भारतीय आधुनिकता को रेखांकित करने के प्रथम प्रयासों में एक था। उन्होंने इस अवधारणा की कटु आलोचना की कि पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है। इस दासता पूर्ण सोच के विरुद्ध 'हिन्द स्वराज' ने आवाज उठाई। गाँधी ने न केवल उपनिवेशवाद का ही विरोध किया अपितु आधुनिकता के पश्चिमी मॉडल को भी कठघरे में खड़ा किया। वे अपनी सभ्यता की शक्तों

पर आधुनिक होना चाहते थे, परोपजीवी की तरह नहीं। 'हिन्द स्वराज' स्व की स्वाधीनता की बात करता है, अपने को पहचानने की बात करता है, सिर्फ विकास की बात नहीं करता जिससे अधिक धन पैदा हो सके।

गाँधी आधुनिकता और परम्परा को जोड़ने की बात नहीं करते अपितु अन्तर्वेशन द्वारा आधुनिकता की नई संरचना का निर्माण करते हैं। वे समाज सुधारकों की भाँति परम्परा, ब्राह्मणवाद, जातिवाद आदि का तिरस्कार करने से भी नहीं हिचकिचाते।

'हिन्द स्वराज' में गाँधी ने आन्तरिक शत्रुओं का पता लगाया, पर्दाफाश किया और विकल्प भी सुझाया। उन्होंने धर्म के भीतर जो धर्म है उसको उद्घाटित करने का प्रयास किया। इसीलिए गाँधी के लिए स्वदेशी और स्वराज की खोज की ही चुनौती नहीं थी जिससे कि आधुनिकता की कोटियों का निर्माण हो सके बल्कि उन विशेषताओं और सिद्धांतों की खोज भी है जिससे हम आज की आधुनिकता को सही रूप में परिभाषित कर सकें।

संदर्भ :-

1. टालस्टाय, डायरी, 20 अप्रैल 1910, खंड 41
2. गाँधीजी की विचारधारा पर पश्चिम का प्रभाव, पूनम गर्ग, पृ. 98-99।
3. वही, पृ. 98.
4. It is my deliberate opinion that India is being run down not under the English heel, that under the modern civilization. Shriman Narayan, The Selected Work of M. K. Gandhi, Navjivan Publishing House, Ahmadabad, 1968, p. 127.

5. The civilization takes mote neither morality nor of religion. Its votaries calmly state that their business is not to teach religion. S. Narayan, The Selected Work of M. K. Gandhi, p. 121.
6. मोहनदास करमचंद गाँधी, 'हिन्द स्वराज', वाराणसी, गाँधी स्मारक निधि, सं. 2, 99, 37।
7. वही, 34, 37, 41, 48।
8. मो. क. गाँधी, पूर्वोद्धृत सं. 2, 63, 34-37 तथा विशन स्वरूप शर्मा, गाँधी इज ए पोलिटिकल थिंकट, इलाहाबाद; इंडियन प्रेस, 1956, 114।
9. मो. क. गाँधी, पूर्वोद्धृत सं. 2, 34, 105।
10. हिन्द स्वराज, पृ. 44।
11. हिन्द स्वराज, पृ. 47।
12. My resistance to western Civilization is really a resistance to its indiscriminate and thoughtless initiation biased on the assumption that asiatics are bit only to copy everything that comes from the west.
13. हिन्द स्वराज, पृ. 77-78।
14. हिन्द स्वराज, पृ. 15।
15. हिन्द स्वराज, पृ. 15-16।
16. मो. क. गाँधी, श्रीमन्नारायण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 2, 32-33।
17. मो. क. गाँधी, पूर्वोद्धृत सं. 2, 32-33, 37।
18. वी. पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल 1983, पृ. 328।
19. बी. एल. फाड़िया, पूर्वोद्धृत सं. 13, 328।
20. वी. पी. वर्मा, पूर्वोद्धृत सं. 24, 357।
21. वही, पृ. 357।
22. वही, 23।
23. गाँधी की पोथी, प्रभाष जोशी, द पब्लिक एजेंडा, 3 मार्च 2009।

शोध प्रज्ञ, राजनीति विज्ञान
विभाग, पटना विश्वविद्यालय

गाँधी जी का 'ग्राम-स्वराज्य' और उसकी प्रासंगिकता

डा. प्रो. एस. डी. सिंह एवं डा. पूनम कुमारी

आज हमारा देश एक अत्यंत दिलचस्प मोड़ पर है। 21वीं सदी की शुरुआत हो गयी है और विचारों की एक गहरी उथल-पुथल हमारे सामने है। स्वतंत्र भारत जैसे तो एक नया राष्ट्र है, लेकिन यह एक बेहद प्राचीन राष्ट्र है। विचारों की संस्कृति की हमारी वेद पुरातन परम्परा है। हमारी इस परम्परा में महात्मा गाँधी एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम हैं जिन्होंने भारतीय विचार को बिल्कुल नये अंदाज में देखा, परखा और बरता। आज हमारा देश दुनिया के बदलाव में पूरी तरह से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है और तीव्रता से उभरती आर्थिक महाशक्ति बनने के कगार पर है। ऐसे में उन बातों पर ध्यान देना जरूरी है जो हमारी महत्वपूर्ण रवायत है। गाँधी जी के 'ग्राम-स्वराज्य' विचार जो भारतीय परम्परा के गहरे मंथन से निकले हैं। वे आज हमारे लिये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

गाँधी जी ने जिस 'ग्राम-स्वराज्य' की कल्पना की उसमें आधुनिक जगत को ध्यान में रखते हुए स्वराज्य के स्वतंत्र घटकों की नई रचना करने की बात की गई है। गाँधी का ग्राम-स्वराज्य राजनीतिक, आर्थिक, समाजिक क्षेत्रों में अहिंसा को मूर्त रूप प्रदान करता है। गाँधी जी का मानना था कि गाँवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी⁽¹⁾ अगर गाँव नष्ट जाएँ तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जाएगा। महात्मा गाँधी एक व्यवहारवादी आदर्शवादी थे, इसलिये उन्होंने जो ग्राम-स्वराज्य का विचार दिया, उसमें राज्य के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया। गाँधी जी चाहते थे कि भारत में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हो और ऐसा केन्द्र में सिर्फ कुछ चुने हुए लोगों के शासन के द्वारा नहीं हो सकता, बल्कि इसके लिये हमें 'शहर वाला भारत' छोड़ कर गाँवों वाले भारत को चुनना होगा।⁽¹⁾ गाँधी जी का विचार था कि भारत गाँवों का देश है, गाँव उतने ही पुराने हैं जितना भारत पुराना है। शहरों को तो

विदेशी अधिपत्य ने बसाया है। आज शहरों का बोलबाला है जो गाँवों का शोषण करता है, जिसका परिणाम लोगों के सामने है। उनका मानना था कि भारत अगर सच्चे स्वतंत्रता की बात करता है तो प्रत्येक गाँवों को उचित सम्मान देना होगा, ग्रामीणों को नीचे से लेकर चलना होगा।⁽²⁾

ग्राम-स्वराज्य :- गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य में गाँव संपूर्ण सत्ता में भोगने वाला विकेन्द्रीकृत घटक होगा, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का शासन में सीधा हाथ होगा। गाँधी जी की कल्पना का ग्राम-स्वराज्य एक ऐसा-संपूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी महत्त्व के जरूरतों के लिये अपने पड़ोसी पर निर्भर नहीं रहेगा। किन्तु यह तो तय है कि जैसे कोई भी मनुष्य बिल्कुल परिपूर्ण नहीं होता वैसे ही कोई भी ग्राम बिल्कुल परिपूर्ण नहीं हो सकता, अतः इसमें जरूरतों के लिये, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा, ग्राम परस्पर सहयोग से आपसी संबंधों का निर्धारण करेगा। प्रत्येक गाँव का पहला कार्य होगा कि वह अपने जरूरतों के तमाम अनाज और कपड़ों के लिये कपास खुद उपजाएगा। उसके पास इतनी अतिरिक्त जमीन होगी कि मनोरंजन के साधन तथा जानवरों को चरने की सुविधा हो सके। इसके बाद यदि गाँव के पास उपयोगी जमीन बचेगी तो, तो ग्रामवासी साग-सब्जी और अन्य मौसमी अन्न उपजा कर आर्थिक लाभ कमा सकेंगे। प्रत्येक ग्राम में एक पाठशाला, नाटकशाला तथा सभा भवन होगा, पानी की समुचित व्यवस्था होगी। गाँवों के समस्त कार्य सहयोग और सहकारिता के आधार पर चलाये जाएंगे। ऐसा स्वराज्य जात पात और छुआ-छुत से मुक्त ग्राम स्वराज्य होगा। सत्याग्रह तथा असहयोग के शस्त्र के साथ अहिंसा ऐसे ग्राम-स्वराज्य की शक्ति होगी। गाँवों का शासन चलाने के लिये प्रतिवर्ष गाँव के पाँच व्यक्तियों की पंचायत चुनी जाएगी। इसके लिये प्रत्येक व्यस्क निजी-पुरुष को अपना पंच चुनने का अधिकार होगा। इस पंचायत के काफी अधिकार होंगे। इस ग्राम-पंचायत में दंड की कोई व्यवस्था नहीं होगी, इसलिये यह पंचायत धारा सभा, न्याय सभा और व्यवस्थापिका तीनों का कार्य संयुक्त रूप से करेगी। ऐसी शासन-पद्धति में नागरिक सत्ता नियंत्रित न होकर स्वयं नियंत्रित होगी। वे अपना प्रत्येक कार्य अपनी सूझ-बूझ से करेंगे और जीवन की सारी बातों के लिये सरकार की ओर ताकने वाले नहीं होकर उत्तरदायित्व की

भावना से परिपूर्ण होंगे। गाँव की रक्षा के लिये ग्राम सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजमी तौर पर बारी-बारी से चौकीदारी का कार्य करना होगा। इसके लिये गाँव में ऐसे लोगों का रजिस्टर रखा जाएगा। गाँव का शासन चलाने के लिये सभी लोग मिलकर-जुलकर सहयोग करेंगे और बाहरी दुनियाँ से अपने गाँव की रक्षा करेंगे।⁽³⁾ गाँधी जी का ग्राम-स्वराज्य देहाती जड़ नहीं है, बल्कि शुद्ध और जागरूक समाज होगा। जहाँ की जनता गंदगियों और अंधकार में निवास नहीं करेगी बल्कि गंदगी रहित, बीमारी रहित, आजादी तथा शारीरिक परिश्रम से परिपूर्ण ग्राम-समाज होगा।⁽⁴⁾

गाँधी जी ग्राम-स्वराज्य के कई बुनियादी सिद्धांत हैं:-

मानव का सर्वोच्च स्थान

गाँधी जी ने अपने ग्राम-स्वराज्य में मानव कल्याण उसकी अस्मिता पर सबसे अधिक जोर दिया है। गाँधी जी मानव की गरिमा पर विश्वास करते थे और प्रत्येक व्यक्ति को दिव्य मानते हैं। उनका कहना था कि हम जो भी काम करें उसमें मुख्य विचार मानव के कल्याण का ही होना चाहिए।⁽⁶⁾

गाँधी जी का मुख्य विचार था कि न केवल भारत बल्कि सारी दुनियाँ की अर्थ-रचना ऐसी होनी चाहिए, जिनमें किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ नहीं हो। प्रत्येक को इतना काम अवश्य मिलना चाहिए कि वह अपने बुनियादी जरूरतों को पूरा कर सके। यह आर्दश तभी क्रियान्वित किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन

जनता के नियंत्रण में रहें और प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी बाधा के मिलें। इसके लिये आवश्यक है कि जिस प्रकार हवा और पानी हमें प्रकृति की तरफ से उपलब्ध है, उसी प्रकार उत्पादन के साधन भी बिना किसी बाधा के हमें प्राप्त हो। कोई भी देश संसाधनों पर जबरदस्ती अपना नियंत्रण न करें। आज पूरे विश्व में जो असमानता, अन्याय, गरीबी, वर्ग-विभेद हैं। इस सरल सिद्धांत की उपेक्षा का परिणाम है।⁽⁵⁾

शारीर श्रम

गाँधीजी ने अपने आदर्श समाज में शारीरिक श्रम को अनिवार्य माना है। उनका मानना था कि दुनियाँ तभी विकसित हो सकेगी, जब प्रत्येक स्त्री-पुरुष अनिवार्य श्रम करें। मनुष्य को अपनी बुद्धि, शक्ति का प्रयोग आजीविका या उससे भी ज्यादा प्राप्त करने के लिये नहीं, बल्कि समाज सेवा परोपकार के लिये करना चाहिए। यदि इस नियम का पालन सारी दुनियाँ करने लगे तो सहज ही सब लोग बराबर हो जाएंगे, कोई भूखा नहीं मरेगा, संसार से हिंसा, अत्याचार, आतंक जैसे पापों का नाश हो जाएगा। गाँधीजी ने शारीरिक श्रम को आध्यात्मिक भावों से जोड़कर देखा और कहा कि निरंतर श्रम करने वाले लोग परम शांति प्राप्त करते हैं। गाँधीजी का कहना था कि जो बिना श्रम के खाते हैं वे चोर हैं।⁽⁶⁾

समानता :

गाँधीजी ने 'समानता' को अपने 'ग्राम-स्वराज्य' का प्रमुख बुनियादी सिद्धांत माना। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास और अपने जीवन को सफल बनाने के लिये समान

अवसर मिलने चाहिए। यदि अवसर दिया जाए तो हर व्यक्ति समान रूप से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। गाँधी का मानना था कि जिस तरह सच्चे नीति धर्म में और कल्याणकारी अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीतिधर्म के ऊंचे से ऊंचे आदर्श का विरोधी नहीं हो सकता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को निर्बलों का शोषण कर धन संग्रह करना सिखाता है। उसे शास्त्र कभी भी नहीं कहा जा सकता। वह तो एक झूठी चीज है। जिससे कभी सच्चा लाभ नहीं हो सकता। उसे अपना कर हम अंततः विनाश को ही न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमाकत करता है।⁽⁷⁾

संरक्षकता

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य में संरक्षकता एक प्रमुख बुनियादी सिद्धांत है। गाँधीजी धन के विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं। उनका मानना था कि समाज की न्यायापूर्ण स्थापना इस विचार में नीहित है। जब तक समाज में मुट्ठी भर लोगों के हाथों में राष्ट्र की सम्पति का बड़ा भाग रहेगा और करोड़ों लोग भूखे, नंगे रहेंगे। जमीन, आसमान का अंतर रहेगा, तब तक अहिंसात्मक समाज कायम नहीं हो सकता। अतः समाज में सम्पति का ट्रस्टीशिप करना चाहिए। गाँधीजी के अनुसार संरक्षकता आवश्यक है। साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि धनियों से हिंसा के आधार पर धन को छीना नहीं जाए बल्कि वे अपने आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा बचे, उसका प्रजा की

ओर से ट्रस्टी बने। अगर वे प्रमाणिकता से ट्रस्टी बनेंगे, तो जो पैसा पैदा करेंगे, उसका सद्व्यय करेंगे। जब मनुष्य अपने-आप को समाज का सेवक मानेगा, समाज के लिये धन अर्जित करेगा, कल्याण के लिये खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आएगी और अहिंसात्मक समाज की स्थापना होगी।⁽⁸⁾

विकेन्द्रीकरण

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य का उद्देश्य बहुदेशीय विकेन्द्रीकरण है। गाँधीजी का लक्ष्य समाज में सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक संतुलन स्थापित करना है। गाँधी की धारणा थी कि भारत का पुनर्निर्माण गाँव को केन्द्र में रखकर किया जाए। उसे शहर प्रधान भारत की जगह ग्राम प्रधान भारत बनाया जाए। सत्ता एक जगह एकत्रित न हो कर जनप्रधान में वितरित हो ताकि निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी यह समझ सके कि यह देश उसका है और उसके निर्माण में उसकी स्वयं की भूमिका है। गाँधीजी का ग्राम-स्वराज्य सर्वोदय, स्वदेशी तथा सर्वधर्म-सद्भाव पर आधारित है, जिसमें साध्य के साथ-साथ साधन की पवित्रता का महत्वपूर्ण स्थान हो।⁽⁹⁾

स्वदेशी

स्वदेशी गाँधी जी के ग्राम-स्वराज्य में महत्वपूर्ण कड़ी है। गाँधीजी के स्वदेशी का अर्थ था विकेन्द्रीकरण अर्थ-व्यवस्था, ग्राम और स्थानीय सामुदायिक विकास, सबको रोजगार तथा स्वावलम्बन। गाँधीजी ने माना है कि ग्रामों को आदर्श बनाने के लिये आवश्यक है कि उनमें स्थानीय आत्मनिर्भरता और सहभागिता की भावना पैदा की जाए। उनके अनुसार यदि शोषणमुक्त वैश्वीकरण का यदि आरंभ

करना है तो आरंभबिन्दु स्वदेशी से हो सकता है।⁽¹⁰⁾

स्वावलम्बन

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य में गाँव के लोगों का छोटा समूह होगा, जो आदर्श दृष्टि से स्वयंपूर्ण और आत्म-निर्भर होगा। हर गाँव एक आत्मनिर्भर गणराज्य होगा, जो अपनी जरूरतों का सारा अनाज तथा कपास स्वयं पैदा करेगा। ग्रामवासियों को अपनी बुनियादी सुविधाएँ जुटाने के लिये परालम्बी नहीं होना पड़ेगा तथा हरेक ग्राम अपने पैदा कर स्वयं खड़ा होकर अपनी जरूरतें पूरी करेगा तथा समस्त विश्व से अपनी रक्षा स्वयं करेगा। गाँधी जी ने अपने ग्राम-स्वराज्य की आधार शिला ग्रामोद्योग को माना। उनके अनुसार यदि ग्रामोद्योग का लोप हो जाएगा तो भारत के गाँवों का सर्वनाश हो जाएगा। गाँधीजी ने अपने ग्राम-स्वराज्य में माना कि ग्राम-पंचायतों में एवं ग्राम-सेवकों का यह कर्तव्य होगा कि वे जनता की जड़ता तथा आलस्य को दूर करने के लिये रचनात्मक कार्यों की ओर गाँववासियों को प्रेरित करें।⁽¹¹⁾

सहयोग

गाँधीवादी ग्राम-स्वराज्य का महत्वपूर्ण बुनियादी सिद्धांत सहयोग है। गाँधीजी का मानन था कि मनुष्यों को आपसी सहयोग से, सामुदायिक भावना से मिलकर कार्य करना चाहिए। जहाँ तक संभव हो, गाँव के सारे कार्य सहयोग के आधार पर किये जाने चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में गाँधीजी वर्ग-सहयोग पर विश्वास करते थे और कहते थे कि सहकारिता की पद्धति किसानों के लिये अत्यंत जरूरी है और यदि जमीन को सहकारिता के आधार पर जोता जाएगा तो इसका

सबसे अधिक लाभ कृषक वर्ग को ही होगा।⁽¹²⁾

सत्याग्रह तथा सर्वधर्म समानता

गाँधी जी ने माना है कि सत्याग्रह और असहयोग, अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन बल होगी। गाँधी के ग्राम-स्वराज्य में हर धर्म की अपनी पूर्ण और बराबरी की जगह होगी। गाँधीजी ने सदैव यह माना है कि धर्म ग्राम-स्वराज्य में सभी जाति-धर्म के लोग एक विशाल वृक्ष के पत्ते के समान होंगे। जिसे कोई भी आँधी हिला नहीं सकेगी।⁽¹³⁾

पंचायती राज्य

ग्राम-स्वराज्य संबंधी गाँधीवादी दर्शन की प्रमुख आधारशिला पंचायती राज्य 'व्यवस्था' है। गाँधी के अनुसार आजाद भारत में ग्रामों में शासन चलाने के लिये प्रत्येक वर्ष पाँच व्यक्तियों को एक पंचायत चुनी जाएगी और प्रत्येक व्यस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार होगा कि वे अपने पंचों का चुनाव करें। इस ग्राम-स्वराज्य में दंड की कोई व्यवस्था नहीं होगी, इसलिये संयुक्त रूप से अपना कार्य करेगी। गाँव के व्यस्क लोग मिलकर पंचों को प्रतिवर्ष चुनेंगे। आस-पास की ऐसी हर दो पंचायतों का उन्हीं से चुने एक नेता के मार्गदर्शन में एक कार्यकारी मंडल बनेगा। जब ऐसी सौ पंचायतें बनेगी, तब पहले दर्जे के 50 नेता अपने से एक दूसरे दर्जे का एक नेता चुनेंगे। पहले दर्जे के नेता दूसरे दर्जे के नेता के अधीन कार्य करेंगे। दो सौ पंचायतों के ऐसे समांतर मंडल बनाना। तब तक जारी रहेगा, जब तक वे पूरे हिन्दुस्तान को न ढक लें। इन पंचायतों के द्वारा

ग्राम का प्रशासन ग्रामीणों द्वारा सुचारू रूप से चलाया जा सकेगा।⁽¹⁴⁾

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य में आज के दलगत राजनीति के स्थान पर स्वस्थ राजनीतिक वातावरण की बात की गयी है। ग्राम-पंचायत के चुनाव संपूर्ण गाँव द्वारा प्रतिवर्ष होंगे। यह पंचायत स्थानीय समस्याओं के प्रति जागरूक होंगी तथा समाधान में रुचि लेगी, जिसके स्थानीय नियोजन संभव हो सकेगा। इस प्रकार केन्द्रीकृत नियोजन, नौकरशाही, लाल फीताशाही एवं भ्रष्टाचार इत्यादि से ग्रामवासियों की रक्षा हो सकेगी। ऐसा शासन यथार्थ में गरीबों का शासन होगा और सच्चे अर्थ में स्वराज्य होगा।⁽¹⁴⁾

नयी तालिम

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य नयी तालिम पर आधारित ग्राम-व्यवस्था है। गाँधी जी में गाँवों को स्वावलंबी बनाने हेतु साधन हनरयुक्त शिक्षा की बात की। गाँधीजी के नयी तालिम की कुछ बातें निम्नलिखित हैं :-

1. गाँधीजी ने माना कि पूरी शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिए। अंततः पूंजी छोड़कर अपना सारा खर्च विद्यार्थियों को स्वयं निकालना चाहिए।
2. इसमें आखिरी दर्जे तक हाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों को अंतिम कक्षा तक अपने हाथों से कोई न कोई उद्योग-धंधा करना चाहिए।
3. सारी तालिम प्रांतीय भाषाओं में देनी चाहिए।
4. सांप्रदायिक शिक्षा का ग्राम-स्वराज्य में कोई स्थान नहीं होगा।

गाँधीजी के नयी तालिम की मुख्य मंशा ग्राम को सरल-आदर्श ग्राम-स्वराज्य बनाना था जो मन के साथ तन का विकास भी करती है।⁽¹⁵⁾

निष्कर्ष :-

भारत प्राचीन काल से ग्राम-समुदाय तथा ग्राम पंचायतों की भूमि रही है। इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर प्रशासनिक परिवर्तन होते रहे हैं, पर ग्राम व्यवस्था इससे बहुत अधिक प्रभावित नहीं हुई ब्रिटिश शासन व्यवस्था एक युगांतकारी घटना मानी जा सकती है जिसने शताब्दियों से चली आ रही ग्रामीण-व्यवस्था की चूलें हिला दी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यद्यपि ग्राम-विकास हेतु कई नीतियाँ अपनाई गईं, किन्तु आजादी के कई वर्षों बाद हम देखते हैं कि उन योजनाओं, नीतियों से हमारा ग्रामीण विकास समुचित दिशा में आगे नहीं बढ़ सका है जबकि वास्तव में भारत प्राकृतिक रूप से अतिसमृद्ध है, तथापि हम अभी भी गरीब देशों की ही श्रेणी में ही आते हैं। दुतग्रामी विकास की मरीचिका में फंस कर हमने विकास का जो तरीका अपनाया है उसमें हम बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाये। विकास के क्षेत्र में गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य की धारणा की हमने यूरोपीय कह कर उपेक्षा की है, दूसरी तरफ, चीन, वियतनाम, तंजानिया जैसे देशों ने अपना संपूर्ण विकास कर दुनियाँ को दिखला दिया कि कृषि-प्रधान देशों के लिये विकास के प्रारंभिक चरण में गाँधीजी के बहुत से विचार उपयुक्त हैं।⁽¹⁶⁾

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य पर विचार करना आज भारतवासियों के लिये

अनिवार्य हो गया है। हमें चाहिये कि हम अपने विकास के लिये एक ऐसे मॉडल को तलाशें जो वास्तव में हमारे देश, काल, परिस्थितियों, संस्कृति, जनता साथ ही 21वीं सदी के आवश्यकताओं के अनुकूल हो, जो हमारे ऊपर जबरदस्ती आरोपित न हो, जिसमें जन सहभाजिता हो, जो हमारे जीवन, हमारे विकास का यथोचित, समायानुकूल अंग बन जाए।⁽¹⁷⁾

आज अपने देश को विकसित देशों की श्रेणी में लाने के लिये आवश्यक है कि ग्रामीण स्तर से सुधारों को शुरू किया जाए। हमारे देश में यदि विकास की योजनाएँ लागू की जाएंगी और उनमें ग्रामीण जनता की उपेक्षा की जाएगी तो आवयंभावी है कि उसमें यथोचित सफलता नहीं मिलेगी। अतः आवश्यक है कि अब हमें द्रुत गति से सफल बनने के लिये कृषि और कृषकों को केन्द्र मानकर नियोजन करना होगा। इसमें प्रत्येक ग्रामवासी ग्राम की इकाई तथा शक्ति दोनों रूपों में विकास के संपूर्ण अवसर प्राप्त कर सकेगा। यह कार्य सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में गाँधीजी के 'ग्राम-स्वराज्य' संबंधी विचार को अपनाकर किया जा सकता है।⁽¹⁸⁾

आज भारत सहित समस्त विश्व वैश्वीकरण की अंधी दौड़ में व्यस्त है। वस्तुतः आज की समस्त अर्थ व्यवस्थाओं का मूल आधार भोग-विलास, आवश्यकताओं की वृद्धि तथा नीति-विहीन अर्थशास्त्र में है। इसलिए आज समस्त विश्व समाज यंत्रप्रधान, केन्द्रित हो गया है। तमाम वैश्विक विकास के दावों के बावजूद आज का विश्व समाज बेकारी, गरीबी, वर्ग-विभेद तथा बाजार हथियाने की लालसा तथा कच्चे माल के लिये बाजार हथियाने की उन्नत

दौड़ इत्यादि के कारणों से दूषित हो चुका है।⁽¹⁹⁾

ऐसी अर्थव्यवस्था में सच पूछे तो जिन भयंकर प्रति स्पर्धाओं, संघर्षों तथा शस्त्रीकरण की होड़ में संघर्षरत है, काफी चिंतनीय है। विश्व ने नीजीकरण तथा वैश्वीकरण की लालसा लोगों में पैदा की, मानवश्रम का वैश्वीकरण, बाजारों का वैश्वीकरण, मालों का वैश्वीकरण, तमाम बातों का परिणाम क्या हुआ, समाज एक बड़े आर्थिक जाल में फंस गया। यद्यपि लोग कहते हैं, विश्व का आर्थिक विकास हो रहा है, परन्तु सच्चाई तो यह है कि आज का समाज एक अभूतपूर्व असमानता के दलदल में फंसा है, जहाँ एक ओर तो लखपति, करोड़पति वैभव-विलासता की जिंदगी बिताते हैं तो दूसरी ओर कड़ी मेहनत करने वालों को दो जून की रोटी भी नसीब नहीं। सच्चाई तो यही है कि गरीब और अविकसित देश तो छोड़िए, अमेरीका जैसा विकसित देश भी आज आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा है। आज न केवल भारत बल्कि अन्य देशों को भी गाँधी के ग्राम-स्वराज संबंधी धारणा पर विचार करना चाहिए, ताकि विकास को गाँवों से शुरू कर केन्द्र तक पहुँचा कर देश और समाज को सम्पन्न और भयमुक्त बनाया जा सके।⁽²⁰⁾

भारत जो तीव्रता से उभरती अर्थव्यवस्था है, वहाँ 1951 से लगातार पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से कई योजनाएँ विकास के लिये क्रियान्वित की जा रही हैं, किन्तु आजादी के 60 वर्षों बाद भी भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ज्यादा परिवर्तन नहीं दिखता है। सच पूछे तो विकास की बात तब तक सच्ची नहीं लगेगी जब तक कि भारत के गाँवों

का विकास न हो। भारत मूलतः गाँवों का देश है, गाँव हमारी अर्थव्यवस्था का केन्द्रबिन्दु हैं। अतः उसका विकास सबसे आवश्यक है, जबकि गाँव आज तक उपेक्षित रहे हैं। गाँधी के ग्राम-स्वराज्य संबंधी विचार को अपना कर काफी हद तक भारतीय गाँवों का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। गाँधीजी मानते थे जब तक गाँव उपेक्षित रहेंगे, देश सम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शहरी जनसंख्या ग्रामीण गरीबों का शोषण, अत्याचार करती रहेंगी, आज सच्चाई सामने आ गयी है पूरा समाज गरीबी, बेकारी, आंतकवाद, हिंसा, साम्प्रदायिकता जैसे गंभीर समस्याओं से जूझ रहा है। निजीकरण तथा वैश्वीकरण से प्रभावित होकर भारत अपनी अर्थव्यवस्था के दरवाजे को बड़े-बड़े मल्टीनेशनल कंपनियों के लिये खोल रहा है और ग्रामीण-कुटीर उद्योगों पर आधारित अर्थव्यवस्था को तिलांजली दी जा रही है। किंतु मुक्त बाजार का सकारात्मक परिणाम भी नहीं आ पा रहा है और बेकारी एक विकराल समस्या बन गयी है। ऐसे में गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य के सिद्धांतों को अपना कर काफी हद तक आत्मनिर्भर समाज की स्थापना संभव है।

संदर्भ सूची :-

1. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “यंग इंडिया”, 19.03.1931, पृष्ठ संख्या - 38
2. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “यंग इंडिया”, 19.03.1931, पृष्ठ संख्या - 305
3. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “हिन्दी नव जीवन”, 29.01.1925, पृष्ठ संख्या - 198
4. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “हरिजन”, 02.01.1937, पृष्ठ संख्या - 374

5. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “यंग इंडिया”, 26.03.1931, पृष्ठ संख्या- 51
6. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “अमृत बाजार पत्रिका”, 30.06.1944, पृष्ठ संख्या - 38
7. गाँधी, मोहन दास करमचंद, “खादी”, 1959, पृष्ठ संख्या - 216-17
8. कुमार योगेन्द्र, “गाँधी जी और उनका समग्र राजनीतिक चिंतन, प्रतियोगिता दर्पण, पृष्ठ संख्या-1447, मार्च 2001
9. नटेशन, स्पीचेज एंड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी
10. अग्रवाल पवन कुमार, “गाँधी के आर्थिक विचारों की प्रासांगिकता, दिसम्बर, 1998- योजना, पृष्ठ संख्या-38
11. पडगाँवकर, अनिल - टाइम्स ऑफ इंडिया, 11.10.2006, पृष्ठ संख्या-74
12. डा. अग्रवाल, अलका - ग्राम पुनर्निर्माण गाँधीवादी मॉडल, अक्टूबर, 1998 - योजना, पृष्ठ संख्या-47
13. गाँधी, मोहन दास करम चंद, “हिन्द स्वराज्य सर्वसेना संघ प्रकाशन, राजघाट, जनवरी, 1926, पृष्ठ संख्या-48
14. गाँधी, मोहन दास करम चंद, “अमृत बाजार पत्रिका, 30.06.1944, पृष्ठ संख्या-38
15. गिरी, अमरनाथ दत्त, “गाँधी का आर्थिक चिंतन-प्रासांगिकता एवं संभावनाएँ, अक्टूबर, 1999 - योजना, पृष्ठ संख्या-58
16. अग्रवाल, डा. अलका, “ग्राम पुनर्निर्माण का गाँधीवादी मॉडल, अक्टूबर, 1998 - योजना, पृष्ठ संख्या-78

डा. प्रो. एस. डी. सिंह, ललित नाराण मिश्र, आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन संस्थान, पटना एवं

डा. पूनम कुमारी, व्याख्याता (राजनीति विज्ञान) जे० डी० वीमेस कॉलेज, पटना।

नक्सलवाद : एक समाजिक-आर्थिक समस्या

डा० पंकज कुमार

नक्सलवाद वर्तमान भारत की एक गंभीर समाजिक-आर्थिक समस्या के साथ-साथ देश की आंतरिक सुरक्षा व शांति व्यवस्था को बनाये रखने के लिए चुनौती साबित हो रहा है। आज भारत के 15 राज्यों के 170 जिलों में यह फैल चुका है। इनके समर्थकों का मानना है कि शांतिपूर्ण तरीकों से जरूरी परिवर्तन नहीं आ सकता क्योंकि सभी तंत्रों पर निहित स्वार्थों की पकड़ है और इनसे छुटकारा का एकमात्र तरीका है सशस्त्र क्रांति।

इतिहास

25 मई 1967 पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले के नक्सलबाड़ी गाँव में तीर-धनुषधारी संथालों ने कुलक की भूमि पर जबरन कब्जा कर लिया और मालिकाना हक जताने के लिए उस पर हल चलाया, अनाज लूट कर बाँट दिया या सस्ते दामों पर बेच दिया गया। पुलिस व संथालों में 100 से अधिक खूनी झड़पे हुईं। और यही आन्दोलन विश्व परिदृश्य पर नक्सलवादी आंदोलन कहलाया।

उत्थान : माओवाद विचारधारा से प्रेरणा लेने वाले नक्सलवादी व कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के नेता चारू मजूमदार व कानू सान्याल ने इसका नेतृत्व किया। जून 1971 तक यह देश के हर भाग में पहुँच गया और सिर्फ पूर्वोत्तर राज्यों, गोवा, पांडिचेरी व अंडमान निकोबार द्वीप के इलाके ही इससे अछूते रहे। इसे उच्च स्तर के वर्ग संघर्ष और छापामार युद्ध की शुरुआत माना गया। चारू मजूमदार का अनुमान था कि “भारत का हर कोना एक ज्वालामुखी बन चुका है। यह फूटने वाला ही था और भारत में बहुत ज्यादा उथल-पुथल की संभावना थी।” उनका संदेश था, “संघर्ष का कहीं भी और हर जगह विस्तार करो।”

1970 के मध्य और 1971 के बीच नक्सलवादी हिंसा अपने चरम पर थी। समझा जाता है कि इस अवधि में लगभग 4,000 वारदातें हुईं। अधिकांश घटनाएँ पश्चिम बंगाल (3,500) और बिहार (220) तथा आंध्रप्रदेश (77) में हुईं।

पराभव : सरकार ने देश के सीमावर्ती राज्यों, खासतौर से पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा के नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में सेना की सहायता से संयुक्त अभियान शुरू किया। ये अभियान 1 जुलाई से 15 अगस्त 1971 तक चले और इन्हें “आपरेशन स्टींपलचेज” का कोड नाम दिया गया। इसकी रणनीति की खास बात यह थी कि एक इलाके में ज्यादा से ज्यादा मजबूत घेरेबंदी कर ली जाती थी और उसके आने-जाने के सारे रास्ते बन्द कर दिए जाते थे। बाहरी घेरे पर सेना और आंतरिक घेरे में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल तैनात किया जाता था। स्थानीय पुलिस मजिस्ट्रेट के गठन तलाशी अभियान चलाकर उन्हें गिरफ्तार व हथियार को जब्त किया जाता था। यह मुहिम पश्चिम बंगाल के मेदनीपुर, पुरुलिया, वर्धमान और बीरभूम जिलों, बिहार के धनबाद, संथाल परगना जिलों तथा उड़ीसा के मयूरगंज जिले में चलाया गया।

इस कार्रवाई के अच्छे परिणाम आये और लोगों के मन में सरकार के क्षमता के प्रति विश्वास बढ़ा। 16 जुलाई 1972 को कोलकाता पुलिस ने चारू मजूमदार को गिरफ्तार कर लिया। कुछ दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई और एक अध्याय का अन्त हो गया।

वर्तमान स्थिति : आंध्रप्रदेश में कोंडापल्ली सीतारमैया के नेतृत्व में पीपुल्स वार ग्रुप्स के गठन तथा बिहार में माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर (एमसीसी) ने नक्सली आन्दोलन में एक नई जान फूँक दी तथा 21 मार्च 2004 को पीपुल्स वार ग्रुप (P.W.R.) और एमसीसी ने आपस में मिलाप कर एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (माओवादी) बनाई। इस विलय से इसे अखिल भारतीय क्रांतिकारी स्वरूप भी मिल गया है।

साथ ही अन्य उग्रवादी संगठन के साथ साठ-गांठ से यह और जटिल समस्या होती जा रही है। ये नागालैंड, असम व श्रीलंका के उग्रवादी संगठन से प्रशिक्षण व हथियार प्राप्त करने लगे हैं।

भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने 9 राज्यों व 16 जिलों में वही संघर्ष प्रबंधन संस्थान के अनुसार यह आन्दोलन 14

राज्यों के 165 जिलों में फैल चुका है यह संस्थान गृह मंत्रालय के अनुमान को कम करके दिया गया बयान मानता है।

कारण व निदान : वर्ष 2006 में नक्सली मामलों पर सेवानिवृत्त प्रशासनिक अधिकारी डी० बंधोपाध्याय की अध्यक्षता में गठित योजना आयोग की समिति की रपट में भूमि हस्तांतरण, आदिवासियों एवं दलितों में व्याप्त गरीबी और मूल वन उत्पादों तक उनकी पहुँच न होने को नक्सलवाद के विकास का कारण माना गया है।

नक्सलवाद के बढ़ने के पीछे भूमि संबंधी असंतोष प्रमुख वजह है। नक्सलियों ने भी निजी भूमि पर गरीबों के स्वामित्व की दिशा में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल नहीं की है और भी करोड़ों एकड़ जमीन पर गरीबी का हक दिलाने को सरकार को कठोर कदम उठाना होगा।

आदिवासी दलितों एवं ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त गरीबी का बड़ा कारण सामान्य संपत्ति, संसाधन का अभाव माना गया है। इलाके के माफिया गिरोहों द्वारा इस संपत्ति पर कब्जा कर लिया गया है। जो संपत्ति बच भी गई है उसकी उत्पादकता खत्म हो गई है। विभिन्न राज्यों के राजस्व संबंधी दस्तावेजों से ऐसे इलाकों का पता लगेगा और ऐसी संपत्तियों पर फिर से उन्हें अधिकार दिलाने से अधिकारियों के खिलाफ उनका गुस्सा शांत करने में मदद मिलेगी।

अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पारंपरिक वनवासी (वनाधिकार की मान्यता) कानून, 2007 अनुसूचित जातियों तथा गैर आदिवासी, वनवासियों को वनाधिकार प्रदान करना है, जो सही

दिशा में एक कदम है और यह ऐतिहासिक रूप से हुए अन्याय को खत्म करेगा, जिससे लाखों वनवासियों में व्याप्त असंतोष समाप्त होगा। इसके अलावा वन का एक बड़ा क्षेत्र घटिया किस्म की जमीन का है। योजना आयोग को ऐसी जमीन पर वन लगाने के उपायों पर विचार करना चाहिए। ऐसे वन स्थानीय गरीब लोग लगायेंगे तथा उससे होने वाले लाभ में उनको बराबर का हिस्सा मिलेगा।

मध्य भारत के उग्रवाद से प्रभावित इलाकों में आदिवासियों की आबादी ज्यादा है। वे पर्वतीय क्षेत्र तथा उबड़-खाबड़ इलाके हैं। मैदानी हिस्से की तुलना में वहाँ आबादी का घनत्व कम है। वहाँ बुनियादी सुविधा उपलब्ध कराना तथा राष्ट्रीय मानदंड के अनुरूप सेवा पहुँचाना प्रशासन के लिए कठिन काम है। इस विषमता के कारण सेवा अनुपलब्ध होती है अथवा कम प्राप्त होती है। इसलिए बुनियादी सेवा का सार्वजनिकरण सर्वोच्च प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए ताकि विषमता खत्म हो सके।

नक्सली प्रभावित जिलों में घटिया किस्म का सामाजिक बुनियादी ढांचा है। वहाँ जनस्वास्थ्य एवं पोषकता की बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराना जरूरी है। 11वीं योजना के आवंटन का इस काम के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

खान-खनिज नियमों में संशोधन कर 10 लाख रुपये तक का वार्षिक पट्टा ग्राम सभाओं को दिया जाना चाहिए। खनन कंपनियों द्वारा कानून के प्रावधानों पर सही ढंग से अमल नहीं किया जा

रहा है। इसे रोकने के लिये राज्य सरकारों ने भी पंचायत प्रसार कानून की धारा पर एक पैरा 5(1) के तहत अधिसूचना जारी नहीं की है, इसलिये भारत सरकार को पंचायत प्रसार कानून के प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए आदर्श प्रावधान करने चाहिए।

कई राज्यों में भूमि अधिग्रहण तथा पुनर्वास के मामले में ग्राम सभाओं से सलाह-मशविरे की व्यवस्था का अनुपालन नहीं किया जा रहा है। कई जगहों पर उनकी सहमति पाने के लिए जोर जबर्दस्ती करने के प्रमाण भी मिले हैं।

नक्सली हिंसा को जहाँ देश के लिये खतरनाक माना गया है वहीं इस हिंसा के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में फैलने के कारणों में उन क्षेत्रों में विकास कार्यों की कमी तथा आदिवासियों की शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जाना माना गया है।

आदिवासी नक्सली अथवा नक्सल विरोधी गतिविधियों से दूर रहना चाहते हैं। वे दोनों पक्षों के हमलों के शिकार हो रहे हैं। इससे उनके मन में अलगाव की भावना पनपती है। इसलिये सरकार को इस पक्ष पर भी ध्यान देना चाहिए।

नक्सलियों से मुकाबला करने के लिये समाज के ऐसे समूहों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिनको स्थानीय आदिवासियों के बारे में जानकारी के साथ-साथ सहानुभूति भी हो।

नक्सली हमलों तथा सरकारी एजेंसियों से प्रभावित लोगों से संपर्क करने वाले नागरिक संघों तथा मीडिया के लोगों को परेशान करने के कदम का गलत परिणाम निकलता है, इसलिये ऐसे

माध्यमों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि सरकार को अपने प्रयासों के परिणामों का सही आकलन करने में मदद मिले। नक्सलियों के आधार को कमजोर करने के लिये जरूरी है कि आम लोगों को एकजुट किया जाए।

साथ ही प्रभावित क्षेत्रों में कानूनों पर अमल करने वाले तंत्र को भी ठोस बनाने की जरूरत है। इसके लिये कुछ सुझाव इस प्रकार हैं :

प्रभावित इलाकों में अतिरिक्त थाने या चौकियाँ कायम की जाए, रिक्त पुलिस पदों को भरा जाए और आबादी के अनुपात में उनकी संख्या बढ़ाई जाए, पुलिस को आधुनिक हथियार दिए जाएँ, उपद्रवों से निबटने का प्रशिक्षण पुलिस को मिले, प्रभावित क्षेत्रों में तैनाती पर उन्हें प्रोत्साहन भत्ता मिले, उच्च स्तर का नेतृत्व मिले तथा जवाबी हमलों अथवा मुठभेड़ के दौरान 'हत्या' पर प्रतिबंध लगे।

मध्य भारत के जिन क्षेत्रों में सामाजिक असंतोष कायम है (आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, झारखंड तथा महाराष्ट्र के कुछ हिस्से) वहाँ विकास एवं विधि-व्यवस्था में सरकारी दखल कमजोर है। इसलिये वहाँ सरकार की साख एवं विश्वसनीय बहाल करने के उपाय जरूरी हैं।

वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी उसमें न्याय प्रणाली का अभाव है। वर्तमान प्रणाली काफी खर्चीली, उलझनपूर्ण तथा समय की बर्बादी करने वाली है। ग्राम सभाओं को न्याय पंचायतों में बदला जाना चाहिए। सूचना प्राप्ति के अधिकार के तहत कमजोर वर्गों से आवेदनपत्र स्वीकार

करने की प्रक्रिया को भी सरल बनाया जाना चाहिए।

निष्कर्ष :

'नक्सली' के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह समाज के विभिन्न वर्गों का बुनियादी सुविधाओं से वंचित रहने का परिणाम है, जबकि संविधान तथा विभिन्न कानूनी प्रावधानों के तहत उन्हें ये सुविधाएँ पाने का अधिकार था। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्र अभी हिंसा तथा प्रतिहिंसा से ग्रस्त है। संविधान की प्रस्तावना में घोषित आदर्शों पर अमल से ही हम इस स्थिति से उबर सकते हैं जिसमें मौलिक अधिकारों, राज्य के लिये नीति-निर्देशक सिद्धांतों

और नागरिकों के कर्तव्यों के उल्लेख हैं। इसलिए जरूरत है हर पुरुष, महिला एवं बच्चों के लिए अधिकार एवं हक सुनिश्चित करने की है।

संदर्भ सूची :

1. रजनी कोठारी-पॉलिटिक्स इन इंडिया
2. एस०एम० सईद-भारतीय शासन और राजनीति
3. योजना आयोग रिपोर्ट-2006 (डी० बंधोपाध्याय कमिटी)
4. स्वाधीनता-सी०पी०एम० की मुख्य पत्रिका, शारदीय विशेषांक-2004
5. योजना, जुलाई-2008

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना
विश्वविद्यालय, पटना

उपन्यास

राधारानी

आनन्दमठ

शिकारी

यामा, भाग-1

फर्ज

महानायिका

गरीबी जुर्म नहीं

दर्द भरा दिल

चन्द्रकांता संतति

स्वामी

काशीनाथ

बर्फीली आंधी

यामा, भाग-2

आहुति

द गेट वे ऑफ इंडिया

कमाई की जगह

चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

गाँधी दर्शन में 'स्वराज्य' की अवधारणा

विनोद कुमार

'स्वराज्य' का शाब्दिक अर्थ अपना राज्य या शासन (स्व + राज्य) होता है। वैदिक साहित्य में स्वराज्य शब्द आत्मानुशासन या 'आत्म-संयम' के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता रहा है। इस तरह यह स्वाधीन (स्व-अधीन-अपने नियंत्रण में) का समानार्थी होते हुए भी अंग्रेजी शब्द 'इंडिपेंडेंस' से भिन्न है। 'इंडिपेंडेंस' का अर्थ मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी या स्वच्छंदता से लिया जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि 'इंडिपेंडेंस' न तो 'स्वराज्य' की पवित्रता से युक्त है, न ही उतना विस्तृत फलक वाला ही। 'स्वराज्य' की परिभाषा देते हुए गांधीजी ने कहा है—'स्वराज्य' से मेरा अभिप्राय है—लोक सम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन। लोक सम्मति का यह शासन देशवासियों के मताधिकार के प्रयोग द्वारा आएगा। गांधीजी के शब्दों में 'लोक सम्मति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी से बड़ी तादाद के मत के जरिए से हो, फिर वे चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, इसी देश के हों या इस देश में आकर बस गए।' (मगर उन्होंने राष्ट्र के निर्माण में किसी भी तरह का योगदान अवश्य दिया हो।) गांधीजी का कहना है कि "सच्चा स्वराज्य थोड़े से लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त करने से नहीं हासिल किया जा सकता है।"

स्वराज्य अर्थात् समानता का व्यवहार

गांधीजी के अनुसार 'स्वराज्य' प्राप्त राज्य एवं समाज में न तो जातिगत भेद होगा न ही धर्मगत (इस तरह यह मार्क्स के वर्गविहीन समाज की तरह की स्थिति होगी किन्तु उससे कदाचित् उच्चस्तरीय, क्योंकि इसमें बुर्जुआ तंत्र का अधिनायकवाद भी नहीं होगा!) इस समाज में न तो शिक्षितों एवं धनवानों का आधिपत्य होगा और न ही धार्मिक बहुसंख्यकों का आधिपत्य होगा। न ही इसमें समाज का कोई व्यक्ति वंचित-शोषित रह सकेगा। गांधीजी के शब्दों में "वह स्वराज्य सबके लिए सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लँगड़े, अंधे और भूखों मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं। 'गांधीजी के स्वराज्य में राजा, जमींदार, किसान, भूमिहीन,

हिन्दू, मुसलमान, ईसाईयहूदी, पारसी सभी समान होंगे। उसमें जाति-पाति, धर्म या वर्गगत भेद के लिए कोई स्थान नहीं होगा, क्योंकि यह स्वराज्य सब लोगों का राज्य-न्याय का राज्य होगा।

स्वराज्य के तत्व

गांधीजी के स्वराज्य की अवधारणा में निम्नलिखित तत्व समाहित हैं —

- सभी नागरिकों को अवसर की समानता होगी।
- सभी लोग विदेशी नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त होंगे।
- स्वराज्य की इस दशा में पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता होगी।
- इसमें 'धर्म- का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।

गांधीजी के अनुसार ये तत्व स्वराज्य रूपी समचतुर्भुज की भुजाएँ हैं। इसलिए इनमें से किसी एक का भी अभाव रहने पर समचतुर्भुज टेढ़ा हो जाएगा। यहाँ एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि गांधीजी का यह धर्म वास्तव में हिन्दू, मुस्लिम आदि धर्म नहीं है, बल्कि एक नैतिक दशा है जो मनुष्य को सभ्य एवं शुद्ध बनाने के लिए अनिवार्य है तथा जिसकी उपस्थिति रहने से व्यक्ति न तो किसी के साथ अन्याय करता है, न ही अपने साथ होने वाले अन्याय को बर्दाश्त करता है।

स्वराज्य का आदर्श : अहिंसक समाज

गांधीजी के अनुसार, सच्चा स्वराज्य अहिंसक समाज की स्थापना करना है। उनके इस स्वराज्य में निम्न विशेषताएँ होंगी।

1. सत्य और अहिंसा जैसे शुद्ध साधनों द्वारा हासिल स्वराज्य की रक्षा एवं संचालन भी इन्हीं साधनों के द्वारा होगा। अगर ऐसा नहीं होगा तो ऐसी परिस्थिति में राज्य अपने विरोधियों (राजनीतिक दलों एवं जनता) को दबाकर इस स्वराज्य का नाश कर देगा। तब वैयक्तिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी। गांधीजी कहते हैं— "वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रकट होने का पूरा अवसर केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है।"
2. अहिंसा पर आधारित समाज में लोगों को अपने अधिकार की बात ज्ञात भले न हो, किन्तु उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। वास्तव में गांधीजी के इस कल्पित स्वराज्य की यह अति विशिष्ट विशेषता है। गांधीजी कहते हैं कि कर्तव्यों के पालन से अधिकार स्वयं मिल जाते हैं ये अधिकार भी व्यक्ति समाज की सेवा के लिए ही उपयोग

में लाते हैं। गांधीजी के स्वराज्य की यही विशेषता उसे 'रामराज्य' की श्रेणी में ला खड़ा करती है।

3. अहिंसा पर आधारित समाज में कोई किसी का शत्रु नहीं, सभी सबके मित्र होते हैं। गांधीजी के स्वराज्य में चूँकि प्रत्येक नागरिक सिर्फ अपने कर्तव्यों की बात करेगा इसलिए यहाँ वैमनस्यता नहीं जन्मेगी। सबको सबका दाय (भाग) स्वतः मिल जाने से समाज में कहीं भी असंतोष नहीं पनपेगा। फलतः संघर्ष भी नहीं होगा। फिर ऐसी स्थिति में शासन-व्यवस्था न तो जुआखोरी को प्रश्रय देगी, न वहाँ शराबखोरी चलेगी, न ही गौ हत्या होगी। इसी तरह धनी वर्ग द्वारा अपनी सम्पत्ति का शान-शौकत या विलासिता में अपव्यय भी नहीं किया जाएगा।
4. शासन एवं राज्य पूर्ण अहिंसक होगा। गांधीजी के अनुसार लोकतंत्र तथा हिंसा के मेल ठीक नहीं है। वे कहते हैं, "सुसंगठित राज्य में किसी के न्याय अधिकार का किसी दूसरे के द्वारा अन्यायपूर्वक छीना जाना असम्भव होना चाहिए और कभी ऐसा हो जाये तो अपहर्ता को अपदस्थ करने के लिए हिंसा का आश्रय लेने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।
5. अहिंसा पर आधारित समाज प्रजातांत्रिक होगा। यह प्रजातंत्र पश्चिम का आधुनिक प्रजातंत्र नहीं बल्कि वास्तविक लोकशासन होगा। जहाँ निम्न से निम्न तथा ऊँचे से ऊँचे व्यक्ति को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलेगा। इसके अतिरिक्त इस राज्य में कमजोरों के हक की रक्षा होगी गरीबों के लिए किए जाने वाले

कार्य मेहरबानी के तौर पर नहीं किए जायेंगे अपितु यह कर्तव्य के तौर पर किए जायेंगे।

सच्चा स्वराज्य सरकारी नियंत्रण से मुक्ति

गांधीजी के शब्दों में 'जो राष्ट्र अपना काम राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही शांतिपूर्वक और प्रभावपूर्ण ढंग से कर दिखाता है। उसे ही सही अर्थ में लोकतंत्रात्मक कहा जाएगा।' लेकिन, यह बंधम व जे०एस० मिल जैसे स्वच्छंदतावादी (लेसेज) फेयर) विचारकों का राज्य नहीं होगा, जहाँ राज्य का हस्तक्षेप तो नहीं होगा किन्तु उससे उत्पन्न परिस्थिति समाज को अराजक बना देगी। कारण, वहाँ व्यक्ति जो चाहे, करने को स्वतंत्र है। उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है—किसी भी स्तर पर। जबकि गाँधीजी के स्वराज्य में सरकारी नियंत्रण से मुक्ति का अर्थ—एक लोक-शाही केन्द्र में बैठे दस-बीस व्यक्तियों की जगह नीचे से हर एक गाँव के लोगों द्वारा चलायी जानी चाहिए। सरकार पर जनता की निर्भरता कम होनी चाहिए। गांधीजी के शब्दों में—“यदि स्वराज्य के मिल जाने पर भी लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना, शुरू कर दें तो वह स्वराज्य किसी काम का नहीं होगा।”

स्वराज्य और भारतीय गाँव

गांधीजी के अनुसार भारत की गरीबी तब से ही शुरू हुई जब हमारे शहर विदेशी माल के बाजार बन गए। गांधीजी इस विचार के समर्थक हैं कि भूमि किसानों-मजदूरों की ही हो, न कि शहर में रहने वाले जमींदारों की। गांधी-दर्शन में इसके लिए मजदूर-किसान को हिंसा का रास्ता अपनाने की आवश्यकता नहीं है। इसकी जगह मजदूर-किसान को इस तरह काम करना

चाहिए कि जमींदार द्वारा उनका शोषण असम्भव हो जाए। इसके लिए गांधीजी किसानों-मजदूरों का संगठित होना आवश्यक मानते हैं (मार्क्स भी दुनिया के मजदूरों को पूंजीपतियों/उद्योगपतियों के विरुद्ध एक होने की बात करता है।) मगर यह संगठन किसी के विरोध में नहीं स्वयं के बचाव के लिए होगा। इसका आधार सहयोग एवं सहकारिता होगा। गांधीजी के ग्राम मजबूत हों, वे समृद्ध एवं बलवान हों इसलिए वे कहते हैं—“लोकतांत्रिक स्वराज्य में किसानों के पास राजनीतिक सत्ता के साथ हर किस्म की सत्ता होनी चाहिए..... किसानों को उनकी योग्य स्थिति मिलनी चाहिए और देश में उनकी आवाज ही सबसे ऊपर होनी चाहिए। यह स्थिति तभी होगी जब गाँव को प्रधानता मिलेगी।”

ग्राम स्वराज्य

गांधीजी का स्वराज्य बहुत हद तक ग्राम-स्वराज्य है। गांधीजी की राय में शहरों का विकास शोषण का प्रतीक है ये शहर गाँवों की सारी दौलत खींच लेते हैं। (अनाज, सब्जी, दूध, कच्चा माल से लेकर ग्रामीण प्रतिभा तक) इससे गाँवों का हास एवं नाश हो रहा है। गाँव का शोषण गांधीजी के शब्दों में खुद एक हिंसा है। मगर इस हिंसा से दुनिया का सर्वनाश हो जायेगा। शहर चूँकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आधारित परजीवी है। इसलिए गाँवों का पतन अंततः शहरी पतन का कारण बनेगा। इसलिए गांधीजी कहते हैं, “...अगर गाँवों का नाश होता है तो भारत का भी नाश हो जाएगा।”

गांधीजी के ग्राम-स्वराज्य की कल्पना गाँवों को पूर्णप्रजातांत्रिक स्वरूप देना है। इसके लिए वे सत्य-अहिंसा पर आधारित ग्रामीण शासन की रूपरेखा निर्धारित करते हैं। ग्राम-रक्षा दल गाँव की रक्षा करेगा। गाँव का शासन चलाने के लिए ग्रामवासी पाँच आदमियों की

एक पंचायत चुनेंगे। इस पंचायत के हाथ में गाँव की समस्त सत्ता होगी। मगर ग्राम-स्वराज्य के गाँव में सजा या दण्ड का कोई प्रावधान नहीं होगा। इसलिए पंचायत सभा ही धारा-सभा, न्याय-सभा एवं कार्यकारिणी-सभा सब कुछ होगी।

ग्राम-स्वराज्य की प्रशासनिक रूपरेखा गांधीजी के अनुसार निम्नवत् होगी—

- ख ग्राम-सभा द्वारा पाँच वयस्क स्त्री-पुरुष चुने जायेंगे, इनसे पंचायत बनेगी।
- ख निकटस्थ दो पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधि अपने में से एक नेता चुनेंगे, जिनके नेतृत्व में काम करने वालों का एक दल बनेगा।
- ख ऐसा 100 पंचायतों पर निर्वाचित पचास नेता (प्रतिनिधि) अपने में से एक प्रतिनिधि निर्वाचित करेंगे।

यह क्रम आगे भी तब तक जारी रहेगा, जब तक पूरे देश में यह व्यवस्था लागू न हो जाए।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि आज की पंचायती राजव्यवस्था जो त्रिस्तरीय है। (ग्राम-पंचायत, पंचायत-समिति तथा जिला-परिषद्) शरीर से वैसा ही दिखने के बावजूद आत्मा से बिल्कुल भिन्न है, इनमें मोटे तौर पर ये अन्तर परिलक्षित होते हैं—

- (क) गांधीजी के ग्राम-स्वराज्य की पंचायत का आधार सत्य एवं अहिंसा है जबकि आधुनिक (वर्तमान) पंचायती राज-व्यवस्था की नींव ही हिंसा पर खड़ी हुई है।
- (ख) गांधीजी की ग्राम पंचायत में सरकार की दखलंदाजी बिल्कुल नहीं होगी। (सरकार गाँव से सिर्फ मालगुजारी वसूलेगी) जबकि वर्तमान पंचायती राज में जगह-जगह सरकारी मशीनरी

द्वारा दखलंदाजी किए जाने की सम्भावना बनी रहती है।

- (ग) गांधीजी के ग्राम-पंचायत के निर्माता पंच आदि समर्पित भाव से इस कार्य में लगेगे।

ग्राम-स्वराज्य अर्थात् आत्म निर्भर गाँव

गांधीजी के ग्राम-स्वराज्य का गाँव पूरी तरह आत्म निर्भर रहेगा। वह अपनी जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा। गाँव के सारे कार्य आपसी सहयोग द्वारा संपादित होंगे।

गांधीजी के अनुसार इसके लिए प्रत्येक गाँव को खेती तथा उद्योग में परिवर्तन लाना पड़ेगा। उदाहरण के लिए वह अपनी आवश्यकता के अनुसार अनाज तथा कपड़े के लिए कपास स्वयं उगाएगा। ऐसे गाँवों में पशुओं के चराने के लिए जहाँ सुरक्षित जमीन होगी, वहीं ग्रामीणों के मनोरंजन एवं खेल के लिए मैदान आदि की व्यवस्था रहेगी। जब खेती तथा पशुपालन, खेल के मैदान, सड़क आदि की व्यवस्था के बाद भी जमीन बच जाएगी, तब उस जमीन पर गाँव नकदी फसलें उगा सकता है। लेकिन गाँव गाँजा, भाँग, तम्बाकू तथा अफीम आदि की खेती कभी नहीं करेगा। दैनिक आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुएँ ग्रामवासी ग्रामोद्योग द्वारा पैदा करेंगे। ये पूरी तरह स्वदेशी तकनीक पर संचालित होंगे। साथ ही सबको समान लाभ का सिद्धान्त यहाँ लागू रहेगा। गाँधीजी के शब्दों में, “ये उद्योग दूसरों को लूटने के लिए नहीं लगाएँ जाएंगे.....” उनके अनुसार ग्रामोद्योगों के विकास पर ही भारत का विकास निर्भर करता है। “ग्रामोद्योगों का यदि लोप हो गया, तो भारत के सात लाख गाँवों का सर्वनाश ही समझिए...”

ग्राम स्वराज्य के गाँवों में नाट्यशाला, पाठशाला, सभा-भवन, कुएँ-तालाब आदि

सब कुछ होंगे। इन सब की व्यवस्था परस्पर सहयोग एवं समानता के आधार पर होगी। इस समाज में कहीं भी अस्पृश्यता एवं जाति-पाति का भेद नहीं होगा। गाँधीजी के शब्दों में, “ये गाँव प्रचलित गाँवों से बिल्कुल ही भिन्न होंगे।”

स्वराज्य बनाम रामराज्य

गांधीजी का स्वराज्य एक अति व्यापक अवधारणा है। इसका आदर्श रामराज्य तथा लक्ष्य सर्वोदय है। सत्य तथा अहिंसा इसकी प्राप्ति के साधन हैं एवं धर्म तथा नैतिकता इसकी बुनियाद हैं। स्वराज्य की यह अवधारणा भले ही राज्य की पराधीनता से मुक्ति पाने से शुरू होती है किन्तु वास्तव में इसका साध्य आत्मा की स्वतंत्रता को प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् चारों तरफ अमन-चैन रहेगा। सर्वत्र समानता, स्वतंत्रता एवं खुशहाली का माहौल होगा, जिसकी जड़ प्रतिस्पर्द्धा में नहीं सहयोग में है। यहाँ प्रतिस्पर्द्धा होगी भी तो कर्तव्य पालन के लिए न कि निज अधिकारों के भोग के लिए और यहाँ सबका सम्मान होगा।

संदर्भ सूची

1. गाँधी : ऐन ऑटोबायोग्राफी द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरीमेंट
2. गाँधी, एम०के०, हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद
3. सूद ज्योति प्रसाद, प्रमुख राजनीति विचारक
4. सुमन, रामनाथ-गाँधीवाद की रूपरेखा
5. कृपलानी, जे०वी०-गाँधी : हिज लाइफ एंड थॉट
6. मोहनदास करमचन्द, गाँधी-यंग इंडिया

U.G.C. (NET), Jharkhand (JET) वरीय शोधप्रज्ञ, राजनीति विज्ञान विभाग पटना विश्वविद्यालय, पटना

भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की समस्या

डॉ. अजय कुमार

वर्तमान समय में प्रशासन में भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी घटना है और यह प्रायः विकसित एवं विकासशील दोनों ही प्रकार के देशों में पाया जाता है, परन्तु भारत में जिस रूप में प्रशासनिक भ्रष्टाचार व्याप्त है उसे देखते हुए यह आसानी से कहा जा सकता है कि यहाँ भ्रष्टाचार अन्य देशों की तुलना में अधिक गंभीर एवं व्यापक पैमाने पर पाया जाता है। भारत में प्रशासनिक भ्रष्टाचार के राजनीतिक भ्रष्टाचार से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के चलते स्थिति और बिगड़ गई है। भारत में राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारणों का पता लगाने तथा उन्हें दूर करने के उपाय सुझाने के लिए इतने जाँच आयोगों को गठित किया जा चुका है कि उन्हें देखकर आसानी से भ्रष्टाचार के विस्तार का अंदाजा लगाया जा सकता है।

लोक प्रशासन में प्रशासनिक अधिकारियों को अपने दायित्वों के निर्वाह हेतु सत्ता एवं विवेक की शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं, ये शक्तियाँ इन शासकीय अधिकारियों में से कुछ में ऐसी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं जो उन्हें इनके दुरुपयोग की ओर अग्रसर करती हैं, यही से भ्रष्टाचार का जन्म होता है। भ्रष्टाचार की समस्या की पृष्ठभूमि में जाने के पूर्व इसे पारिभाषिक संदर्भ में जान लेना समीचीन होगा। पारिभाषिक दृष्टि से भ्रष्टाचार के दो रूप हैं- संकीर्ण एवं व्यापक। संकीर्ण अर्थ में भ्रष्टाचार का तात्पर्य है- अपने निर्धारित कर्तव्यों के बदले, निर्धारित पारिश्रमिक के अतिरिक्त घूस अथवा रिश्वत स्वीकार करना अथवा मौद्रिक लाभ के लालच के बदले अपनी अधिकार परिधि के बाहर जाकर किसी को उपकृत करने हेतु कार्य करना। व्यापक अर्थों में भ्रष्टाचार से

अभिप्राय है अपने निजी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपने सार्वजनिक पद अथवा सत्ता का दुरुपयोग करना, अपनी हैसियत का अपने निजी स्वार्थ हेतु उपयोग करना।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 के अनुसार, “जो व्यक्ति शासकीय कर्मचारी होते हुए या होने की आशा में अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए विधिवत् पारिश्रमिक से अधिक कुछ धन (घूस) लेता है या स्वीकार करता है अथवा लेने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार किसी कार्य को करने अथवा न करने के उपहारस्वरूप या अपने शासकीय कार्य को करने में किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात या उपेक्षा या किसी व्यक्ति की सेवा या कुसेवा का प्रयास, केन्द्रीय या अन्य राज्य सरकार अथवा विधानमण्डल या किसी लोक सेवा के सन्दर्भ में करता है तो उसे तीन वर्ष के कारवास या अर्थ दण्ड अथवा दोनों दिए जा सकेंगे।”

इसी तरह भ्रष्टाचार उनमूलन अधिनियम 1947 के तहत लोक सेवाओं में लोक सेवकों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार को अपराधिक दुराचरण बताया गया है। केन्द्रीय सतर्कता आयोग ने भ्रष्टाचार के निम्न 27 स्वरूप बताए हैं –

1. निम्न स्तरीय वस्तुओं या कार्य को स्वीकार करना।
2. सार्वजनिक धन और भण्डार का दुरुपयोग करना।
3. जिन व्यक्तियों से अधिकारियों के कार्यालय स्तर के सम्बन्ध हैं उनके आर्थिक दायित्वों का वहन करना।
4. ठेकेदारों या फर्मों का रियायतें देना।
5. ऐसे ठेकेदारों अथवा फर्मों से कर्ज लेना जिनसे उनके कार्यालय स्तरीय सम्बन्ध हैं।
6. झूठे भत्ते, दौरे अथवा गृह किराए का दावा करना।
7. अपनी आमदनी से अधिक वस्तुओं को रखना।
8. बिना पूर्व सूचना या पूर्व अनुमति के अचल सम्पत्ति अर्जित करना।
9. प्रमाद या अन्य कारण से शासन को हानि पहुँचाना।
10. शासकीय पद या सत्ता का दुरुपयोग।
11. भर्ती, नियुक्ति, स्थानांतरण एवं पदोन्नति के सम्बन्ध में गैर-कानूनी रूप से धन लेना।

12. शासकीय कर्मियों को व्यक्तिगत कार्य में प्रयोग करना।
13. जन्म-तिथि एवं जाति-सम्बन्धी जाली प्रमाण-पत्र जारी करना।
14. रेल एवं वायुयान में सीट आरक्षण में अनियमितता।
15. मनीआर्डर, बीमा एवं मूल्य देय पार्सलों को न देना।
16. नए डाक टिकटों को हटाकर पुराने डाक टिकट लगाना।
17. आयात-निर्यात लाइसेंस जारी करने में अनियमितता।
18. शासकीय कर्मचारी की जानकारी एवं सहयोग से विभिन्न फर्मों द्वारा आयातित एवं निर्धारित कोटे का दुरुपयोग करना।
19. टेलीफोन कनेक्शन देने में अनियमितता।
20. अनैतिक आचरण।
21. उपहार ग्रहण करना।
22. आर्थिक लाभ के लिए आयकर, सम्पत्ति कर का कम मूल्यांकन प्रस्तुत करना।
23. स्कूटर एवं कार खरीदने के लिए अग्रिम धन राशियों का दुरुपयोग।
24. विस्थापितों के दावे निपटाने में अनुचित विलम्ब।
25. आवासीय भूमि के हिस्सों में कम विक्रय के सम्बन्ध में धोखा देना।
26. विस्थापितों के दावे का गलत मूल्यांकन करना।
27. शासकीय आवासों पर अनाधिकृत कब्जा एवं उन्हें अनाधिकृत रूप से किराए पर उठाना।

भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा भ्रष्टाचार के कारण :

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि भ्रष्टाचार भारतीय राजव्यवस्था की सर्वकालिक समस्या रही है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दौरान कम्पनी कर्मियों में बख्शीश उपहार का प्रचलन था। इसके बावजूद इस प्रथा को भ्रष्टाचार के रूप में महसूस किया जाता था। इसलिए 1906 के भ्रष्टाचार उन्मूलन कानून द्वारा कम्पनी कर्मियों के लिए यह अपराध माना गया था। इसके अनुसार, यदि वे “अपने पद की सामर्थ्य से कोई कार्य करने अथवा उसे होने से रोकने के बदले बख्शीश के रूप में किसी प्रकार की भेंट आदि स्वीकार करें अथवा किसी व्यक्ति का अपने पद की सामर्थ्य के कारण पक्षपात अथवा विरोध करें, तो यह अपराध माना जाएगा। ब्रिटिश शासन काल में विभागों को पर्याप्त ‘स्वविवेकी शक्तियाँ’ (Discretionary Powers) प्राप्त थीं। इन स्वविवेकी शक्तियों ने लोक प्रशासन के निम्न स्तरीय ढाँचे को भ्रष्ट होने का अवसर दिया। औपचारिक रूप से भारतीय लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार ‘द्वितीय विश्व युद्ध’ से आरम्भ हुआ जब इस युद्ध के दौरान सरकार का प्रमुख लक्ष्य युद्ध में साधनों के औचित्य पर विचार किए बगैर विजय प्राप्त करना था। हर कार्य को युद्ध से गौण माना गया। युद्ध में करोड़ों रुपए व्यय हो रहा था। धन की इस कमी को पूरा करने के लिए अनुचित तरीके से धन एकत्रित करने के मार्ग खोजे गए। इससे प्रशासकीय नियमों एवं कानूनों का

खुलकर उल्लंघन हुआ तथा मध्य एवं निम्नस्तरीय लोक सेवकों द्वारा शासकीय धन एवं सत्ता का दुरुपयोग किया गया। इसी प्रकार जब सरकार द्वारा युद्ध में सेना को भारी मात्रा में अनाज व अन्य युद्ध-सामग्री खरीदी जाने लगी, तो हमारे व्यापारियों ने सरकारी माल आपूर्ति के ठेके प्राप्त करने के लिए अधिकारियों को रिश्वतें दीं। दूसरी ओर विभिन्न वस्तुओं का अभाव हो जाने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में इनकी राशनिंग-प्रणाली लागू की गई जिसके लाइसेंस एवं परमिट प्राप्त करने के लिए भ्रष्टाचार को लोक प्रशासन में प्रोत्साहन मिला।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही जहाँ एक ओर रियासतों का एकीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर देश का विभाजन तथा जनसंख्या का स्थानांतरण हुआ। देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए, विधि का शासन खण्डित हुआ, जिससे निपटने के लिए लोकसेवकों को असीमित अधिकार दिए गए। इसके साथ ही उच्चस्तरीय लोक प्रशासकों के इंग्लैण्ड वापस चले जाने एवं मुस्लिम प्रशासकों के पाकिस्तान चले जाने के कारण, लोक प्रशासन में इनकी कमी महसूस की गई जिसे पूरा करने के लिए, इन उच्चस्तरीय प्रशासनिक पदों पर निर्धारित अर्हताओं को शिथिल करते हुए उन निम्नस्तरीय लोक सेवकों से भर्ती की गई जो लोक सेवा की सुस्थापित उच्च परम्परा से अनभिज्ञ थे एवं जिनमें प्रशासन व समाज के प्रति उदारता एवं निष्ठा का अभाव था।

स्वतंत्रोत्तर भारत की चुनौतियों को स्वीकार करने एवं विकास के लक्ष्य को हासिल करने के निमित्त, समाजवाद, पंचवर्षीय योजनाएं, सामुदायिक विकास

कार्यक्रम, पंचायती राज जैसे समाजोत्थानिक लक्ष्यपूर्ण कार्यक्रम राजनीतिक नेतृत्व द्वारा लोक प्रशासन को सौंपे गए, इनके क्रियान्वयन के लिए लोक सेवकों को असीमित अधिकार प्रदत्त किए गए। उचित नियंत्रण एवं पारदर्शी व्यवस्था के अभाव में लोक प्रशासकों द्वारा इन अधिकारों व सत्ता का उपयोग राज्य व समाज के हित में न कर निजी हित में किया गया। यहीं से भ्रष्टाचार के पौधे ने भारतीय प्रशासन में वटवृक्ष का रूप धारण किया। 17 वर्ष तक देश की राजनीति में एक ही दल के वर्चस्व के चलते केन्द्र एवं राज्य के मंत्रीगणों, सांसदों, विधायकों का एक वर्ग इन भ्रष्ट लोक सेवकों से मिल गया जो हमारे निर्वाचित जनप्रतिनिधि नैतिकता एवं वैतिक के संरक्षक थे, व स्वयं ही भ्रष्टाचार एवं प्रशासनिक पक्षपात के दलदल में फंस गए।

उपर्युक्त के अलावा वर्तमान में भारतीय लोक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार के निम्न कारण बताए जाते हैं –

1. जटिल कार्यकालीन संरचना अथवा शासकीय पद्धति जिसमें सरकारी फाइलें कई स्तरों से होकर गुजरती है। विभिन्न स्तरों पर यह रिश्वत का आधार तैयार करता है। रिश्वत देने वाला शीघ्र निर्णय एवं फाइलें आगे बढ़ जाने के लिए रिश्वत देता है।
2. विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था एवं उद्योगीकरण।
3. रिश्वत लेने व देनेवालों के मध्य गठजोड़ तथा रिश्वत के पुख्ता साक्ष्यों का अभाव।
4. लोक सेवाओं का राजनीतिकरण,

प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप व संरक्षण।

5. सरकारी कार्मिकों की गोपनीय रिपोर्ट।
6. लोक सेवकों को प्राप्त स्वविवेकी अधिकार, जिन्हें सरकारी कार्यों में हो रही निरन्तर वृद्धि के चलते समाप्त नहीं किया जा सकता।

भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में अभी तक किए गए प्रयास :

1. स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही हमें भ्रष्टाचार रूपी महामारी से दो चार होना पड़ा तथा समय-समय पर सके निदान खोजने पड़े। लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में सर्वप्रथम कदम 'भ्रष्टाचार निरोधक कानून 1947' द्वारा उठाया गया इसके तहत भारतीय दण्ड संहिता की धाराओं 31, 165 एवं 165ए को Cognizable offence बनाते हुए उपपुलिस अधीक्षक स्तर के अधिकारी को भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्तियों को संदेह के आधार पर गिरफ्तार करने का अधिकार दिया गया।
2. 1946 में दिल्ली विशेष पुलिस प्रतिष्ठान की स्थापना की गई जिसे 1963 में स्थापित केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (ब्युटण्ण) के अन्तर्गत भ्रष्टाचार निरोधी सम्भाग का दर्जा दिया गया।
3. 1951 में पूर्व आई०सी०एस० अधिकारी श्री ए०डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक प्रशासनिक सुधार समिति बनाई गई, समिति

ने अपने प्रतवेदन में एक पूरा अध्याय लोक सेवकों में सत्यनिष्ठा पर लिखा, जिसमें कहा गया कि राजनीतिक नेतृत्व स्वच्छ प्रशासन की स्थापना करने में असमर्थ रहा है, क्योंकि उनमें से कुछ में स्वयं निष्ठा का अभाव रहा है। समिति ने सुझाव दिया कि नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार की शिकायतों की सुनवाई हेतु केन्द्र एवं राज्य स्तर पर एक स्वतंत्र न्यायाधिकरण की स्थापना की जानी चाहिए।

4. 1955 में भ्रष्टाचार की शिकायतों की जाँच हेतु केन्द्रीय गृह मंत्रालय में सतर्कता विभाग (Vigilance Department) एवं अन्य मंत्रालयों में सतर्कता इकाइयों (Vigilance Units) की स्थापना की गई। इसी वर्ष भ्रष्टाचार निरोधक कानून 1947 को और अधिक कठोर बना दिया गया।
5. लोक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार की समस्या पर विचार करने के लिए 1962 में श्री के. संकानम की अध्यक्षता में एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति गठित की गई जिसमें पाँच सदस्य व दो गृह मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी थे।
8. 1966 में स्व. मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में 'प्रशासनिक सुधार आयोग' का गठन किया गया।

उपर्युक्त के अलावा संसद में 1971, 1975, 1977, 1985, 1989 एवं 2001

में संसद में लोकपाल विधेयक प्रस्तुत किया गया, जो कई राजनीतिक कारणों के कारण पास नहीं हो सका। हाल ही के वर्षों में जिस प्रकार- बोफोर्स घोटाला, पनडुब्बी घोटाला, यूरिया घोटाला, चारा घोटाला, प्रतिभूति घोटाला, हवाला काण्ड, ताबूत काण्ड, तहलका काण्ड तथा अभी हाल में हमारे माननीय सांसदों को प्रश्न पूछने के बदले रिश्वत माँगते टी वी कैमरे में कैद किया जाना आदि ऐसे भारतीय राजनीति एवं प्रशासन के दृष्टांत हैं जो इस ओर इंगित करते हैं कि भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में शासकीय स्तर पर किए गए उपर्युक्त प्रयास नाकाम सिद्ध हुए हैं। अतः वर्तमान युग में, जबकि नौकरशाही के कानून व्यवस्था की स्थापना के साथ ही राज्य के क्षेत्र में विस्तार के कारण इनके सामाजिक आर्थिक विकास दायित्वों में वृद्धि हो रही है। चूँकि प्रशासनिक अधिकारियों की स्वविवेकी शक्तियों को समाप्त नहीं किया जा सकता, लेकिन यदि भारतीय लोक प्रशासन से वास्तविक अर्थों में भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना है, तो निम्न उपायों पर विचार किया जाना चाहिए।

भ्रष्टाचार कम करने के सुझाव

1. संघीय स्तर पर सतर्कता आयोग जैसे संगठन को ही संविधान संशोधन द्वारा लोकपाल आयोग का स्वरूप प्रदान किया जाए, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ न्यायाधीश को अध्यक्ष बनाने का प्रावधान किया जाए। आयोग के जाँच दायरे में मंत्रियों, सांसदों तथा संघीय अधिकारियों के अलावा उच्च व उच्चतम

न्यायालय के न्यायाधीशों व पत्रकारों को भी शामिल किया जाए।

2. लोकपाल/लोकायुक्त को भ्रष्टाचार की शिकायतों पर निर्भर न रहकर अपने स्वतंत्र स्रोतों से भ्रष्टाचार की जानकारी प्राप्त करने तथा उसका अन्वेषण करने अभियोजन दायर करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।
3. लोकपाल/लोकायुक्त द्वारा किसी सरकारी अधिकारी जिस जाँच में भ्रष्ट पाया गया है के विरुद्ध अभियोजन दायर करने हेतु वरिष्ठ अधिकारियों/सरकार से पूर्व अनुमति प्राप्त करने की वैधानिक अनिवार्यता समाप्त की जानी चाहिए।
4. संघीय स्तर पर लोकपाल आयोग के अधीन भ्रष्टाचार की जाँच हेतु केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के भ्रष्टाचार उन्मूलन संभाग का दायित्व सौंपने का प्रावधान किया जाए। इसी प्रकार राज्य स्तर पर

लोकायुक्त की भाँति लोकायुक्त पुलिस संगठन भी स्वतंत्र हो।

5. भ्रष्टाचार के मामलों में लोकपाल/लोकायुक्त की सलाह सम्बन्धित सरकारों के लिए बाध्यकारी हों।
6. भ्रष्टाचार के मामले साबित होने की दिशा में मृत्यु दण्ड का वैधानिक प्रावधान हो।

उपर्युक्त सुझावों के अमल में लाए जाने पर भ्रष्टाचार से भारतीय लोक प्रशासन को पूर्णतः मुक्त कर वास्तविक अर्थों में संवेदनशील, लोक-कल्याणकारी राज्य के ध्येय को प्राप्त किया जा सकता है।

संदर्भ सूची :

1. कौर इन्द्रजीत- लोक प्रशासन, साहित्य भवन, आगरा
2. डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरी- लोक प्रशासन
3. डॉ. भाम्मरी चन्द्र प्रकाश- लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार
4. डॉ. फाड़िया, बी०एल०- लोक प्रशासन,
5. प्रतियोगिता दर्पण।

राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

जीवन वृत्त

महान देश रत्न (टैगोर, गांधी, नेहरू व पटेल) चिरमस्णीय महान वैज्ञानिक यशपाल का साहित्य सर्जन के विविध आयाम कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल मदन टेरेंसा

चिरमस्णीय महान लेखक चिरमस्णीय महान व्यक्तित्व निर्मल वर्मा व्यक्तित्व एवं कृतित्व सरदार वल्लभ भाई पटेल

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

‘वर्तमान मानव हेतु श्रीमद्भागवद्गीता की प्रासंगिकता’

डॉ. प्रसून दत्त सिंह

महाभारत के ‘भीष्मपर्व’ के अट्ठारह अध्यायों का एक अंश श्रीमद्भागवद्गीता के नाम से सुविख्यात है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों के रूप में यह सात सौ श्लोकों में निबद्ध है। गीता-माहात्म्य में कहा गया है कि सभी उपनिषद् गाय हैं और कृष्ण दूध निकालने वाले दोग्धा हैं। अर्जुन बछड़ा है और उससे निकलनेवाला दूध गीता रूपी अमृत है।

“सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्”

गीता केवल एक आचारमीमांसीय ग्रन्थ ही नहीं है। अपितु इसमें तत्त्व-मीमांसा का भी प्राचुर्य है। वेदान्त दर्शन की प्रस्थानत्रयी में इसे अत्यन्त विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुये स्वयमेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है- ‘गीता में हृदयं पार्थ’। गीता में संवादात्मक शैली में मानव-जीवन की नैतिक, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक इन तीनों प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुख्यतः उपनिषद्, सांख्य, कर्ममीमांसा, योग, पाश्चरात्र तथा वेदान्त के दार्शनिक तत्त्वों का विलक्षण समन्वय दीखता है। तभी तो प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने इसे एक स्वर से मानवधर्म का ग्रन्थ कहा है।

महाभारत के युद्ध आरम्भ होने से पूर्व प्रतिपक्ष में जब अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियों, गुरुजनों और भाइयों को देखता है तो युद्ध से विरत होना चाहता है। उसके सारथी कृष्ण उसे अज्ञानता से निवृत्त कराने हेतु कहते हैं- यह आत्मा नित्य अजन्मा और अमर है कोई इसे मार नहीं सकता। शरीर नश्वर है अतः किसी न किसी बहाने उसे नष्ट हो ही जाना है।

अतएव कर्तव्य (स्वधर्म) का पालन ही सर्वोचित है। अन्याय देखकर मौन रहना अधर्म है। पलायन तो सबसे बड़ा पाप है। भारतीय परम्परा कुरुक्षेत्र के मैदान को धर्मक्षेत्र कहती है और इस युद्ध को धर्मयुद्ध के रूप में देखती है। वास्तव में गीता के उपदेश का मुख्य प्रयोजन युद्ध के रूपक को सामने रखकर जीवन की समस्या को हल करके न्यायोचित आचरण की प्रेरणा देना है। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर कुरुक्षेत्र का मैदान जीवन संग्राम एवं जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को उपलक्षित करता है। यहाँ अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि है जो जीवन संग्राम में किंकर्तव्यविमूढ़ है। वह अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के बीच अनिर्णय का शिकार है।

उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब वह स्वयं को दुविधा की स्थिति में पाता है ऐसे में वह एक ज्ञानी गुरु की आवश्यकता अनुभव करता है जो उसे कर्तव्य पथ का ज्ञान करा सके। अर्जुन को माध्यम बनाकर कृष्ण ने मानवमात्र को कर्तव्य का ज्ञान प्रदान करने का स्तुत्य कार्य किया है। वह प्रत्येक मानव को सावधान करता है कि क्षणिक आवेश में बहकर कर्तव्यच्युत न हो जाओ। निश्चय ही गीता का यह उपदेश सभी काल और परिस्थितियों के लिये सर्वथा ग्राह्य है। इसके द्वारा मानव समाज को दी गयी धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा आज भी अनुकरणीय है। यह आद्योपान्त धार्मिक सहिष्णुता की भावना से ओत-प्रोत है जो हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषता है। इसके उपदेशक ने किसी धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की है और न ही वह किसी धार्मिक आंदोलन का नेता है।

गीता की सभी उपासना-पद्धतियों के साथ सहानुभूति है। इसका उपदेशक स्पष्टतः यह घोषित करता है कि, जो भक्त जिस देवता को श्रद्धा से पूजना चाहता है मैं उसकी श्रद्धा को उसी में दृढ़ करता हूँ और वह उसी से अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है। वह पुनः घोषित करता है कि श्रद्धा से युक्त होकर जो अन्य देवताओं को पूजते हैं वे भी मुझे ही पूजते हैं, यद्यपि उनकी यह पूजा विधिपूर्वक नहीं है। इस प्रकार आज के सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश में जहाँ मजहब और ईश्वर के नाम पर लोग एक दूसरे के खून के प्यासे दिखाई देते हैं गीता की धार्मिक सहिष्णुता एवं पंथ-निरपेक्षता का दर्शन और भी प्रासंगिक हो जाता है।

गीता के निष्काम कर्मयोग की उपयोगिता आज भी निर्विवाद है- गीता के कर्मयोग का अर्थ है निष्ठापूर्वक अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना। वास्तव में गीता कर्मयोग के प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह अपने वर्णगत कर्तव्यों का, उन सामाजिक दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करे जो समाज में एकता लाने एवं उसे अक्षुण्ण रखने के लिये साधनस्वरूप है। गीता का कर्मयोग निष्काम कर्मयोग है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

**मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते
सङ्गोऽक्ष्वकर्मणि॥**

2/47 श्रीमद्भगवद्गीता

तात्पर्य यह है कि हम कर्म को सदैव साध्य के रूप में देखें, उसे कभी भी साधन के रूप में ग्रहण न करें। हम कर्म तो करें किन्तु कर्मफल में आसक्ति न रखें। हम कर्म करने से पहले तथा कर्म करते समय भी उससे प्राप्त होनेवाले फल के विचार को मन में कदापि न लायें। गीता के अनुसार जो कर्म फलाकांक्षा की भावना से किये जाते हैं वे बन्धनकारी होते हैं और जो कर्म फलाकांक्षा की भावना का परित्याग करके किये जाते हैं वे बन्धनकारी न होकर मोक्ष प्रदायक होते हैं। गीता सकाम भाव से किये जानेवाले कर्मों के दुष्परिणामों को भी रेखांकित करती है। इसके अनुसार सकाम होकर कर्म करने से फल में आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से आकांक्ष जन्म लेती है। आकांक्षा से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मोह से स्मृति नष्ट होती है और स्मृति-नाश से बुद्धि नष्ट होती है। बुद्धि

नष्ट होने से सबकुछ नष्ट हो जाता है। गीता इसी प्रसंग में संन्यास और त्याग में भेद करती है। उसके अनुसार ऐसे सभी कर्मों का त्याग जो फलाकांक्षा से किये जाते हैं संन्यास है तथा कर्मों के फलों का परित्याग त्याग है। कर्म को अकर्म से श्रेयस्कर बताते हुये निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म के सम्पादन का आदेश गीता की अपनी सार्वभौम विशेषता है। वर्तमान भारतीय परिवेश में जहाँ सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचार का बोलबाला है, निष्काम कर्मयोग की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। उल्लेखनीय है कि राजनीति और प्रशासनिक सेवायें समाज सेवा के साधन हुआ करती हैं किन्तु आज इसकी विश्वसनीयता भी संदिग्ध हैं और समाज सेवा का साध्य अप्राप्त्य है। यदि कम-से-कम हमारा वर्तमान नेतृत्व और सेवा संवर्ग ही निष्काम भाव से योजनाओं का निर्माण एवं कार्यान्वयन करे तो लोक सेवा का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

लोकसंग्रह का आदर्श तथा स्वधर्म- गीता पुरुषोत्तम एवं मुक्तात्माओं को लोक कल्याण हेतु प्रयासरत दिखाकर मानवमात्र को लोक-कल्याण हेतु प्रेरित करती है। गीता ने इस सन्दर्भ में आदर्श वर्णव्यवस्था के रूप में स्वधर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके ऊँच-नीच के भेदभाव और अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को दूर करने का आदेश दिया है। इसमें शाश्वत नैतिक व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है। गीता प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था को सुदृढ़ करे जिससे लोकसंग्रह या लोककल्याण में कोई व्यवधान न हो। इसके अनुसार

समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य को सम्यक्तया नहीं कर सकता अतः सृष्टि के प्रारम्भ में ही भगवान् वासुदेव ने विविध गुण-कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों को आविर्भूत किया था। कृष्ण के अनुसार जिस वर्ण का जो स्वाभाविक धर्म है वही उसका स्वधर्म तथा उसके लिये वही कल्याणप्रद है। गीता द्वारा प्रतिपादित यह व्यवस्था परिवर्तित रूप में आज भी विद्यमान है। आधुनिक युग में जबकि लोग अपने कर्तव्यों को भूलकर अधिकारों के लिये लड़ रहे हैं गीता द्वारा अपने वर्णगत कर्मों (स्वधर्म) के पालन का आदेश और भी समीचीन हो जाता है।

**“शमो दमस्तपः शौचं
शान्तिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं
ब्रह्मकर्मस्वभावजम्”**

18/42 श्रीमद्भागवद्गीता

गीता में विशिष्ट दार्शनिकता -

गीता का दार्शनिक सिद्धान्त है कि असत् का भाव नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होगा। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्रों का त्याग कर नये वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर का त्यागकर नये शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म ही सत्य है जो त्रैकालिक है। शरीर नश्वर है किन्तु शरीर के साथ आत्मा का नाश नहीं होता।

**“वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही”**

2/22 श्रीमद्भागवद्गीता

स्थितप्रज्ञ की अवधारणा - गीता में आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरलाभ करनेवाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। गीता स्थितप्रज्ञ के आदर्श को मानवजीवन की सर्वोच्च अवस्था और सर्वोच्च मूल्य मानती है। इस अवस्था में मानव की प्रज्ञा या बुद्धि स्थिर हो जाती है। यह जागृत अवस्था की समाधि है। इस अवस्था में परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध स्थापित होता है और सभी कार्यों को करते हुये भी अकर्तापन का अनुभव होता है। इस अवस्था को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ईश्वर के पद को प्राप्त करता है और पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। स्थितप्रज्ञ में सभी कामनाओं एवं वासनाओं का परित्याग हो जाता है। इसमें शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों प्रकार की वासनाओं का त्याग शामिल है। सत्त्व की गणना शुद्ध वर्ग में आती है, रजस् एवं तमस् की गणना अशुद्ध वर्ग में की जाती है। स्थितप्रज्ञ दोनों प्रकार की वासनाओं एवं कामनाओं से रहित होता है। वह सदैव अपने में अपने से ही सन्तुष्ट रहता है। सात्त्विक वासनाओं का त्याग ईश्वरभक्ति से ही सम्भव है। सच्ची भक्ति होने पर वह निरन्तर परमानन्द में डूबा रहता है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ
मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

2/55 श्रीमद्भागवद्गीता

स्थितप्रज्ञ दुःखों में अनुद्विग्रचित्त एवं सुखों में स्पृहरहित (अनासद्) होता है। चूँकि उद्विग्रता, राग, भय एवं क्रोध से उत्पन्न होती है एवं राग, भय तथा क्रोध इच्छाजन्य है। पुनः चूँकि स्थितप्रज्ञ सभी कामनाओं से रहित होता है। अतः वह

अनुद्विग्रचित्त होता है। उसकी आसद्दि केवल ईश्वर में होती है और जगत् के प्रति अनासद् रहता है, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ अनित्य होते हैं-

दुःखेष्वनुद्विग्रमनाः सुखेषु
विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः
स्थितधीर्मुनिरूच्यते॥

2/56 श्रीमद्भागवद्गीता

स्थितप्रज्ञ शुभ और अशुभ प्रिय एवं अप्रिय, सभी स्थितियों में तटस्थ रहता है, क्योंकि वह समझता है कि ये सभी स्थितियाँ ईश्वर के अधीन हैं। इस कारण वह शुभ और प्रिय स्थिति के प्राप्त होने पर प्रसन्न नहीं होता तथा अशुभ और अप्रिय स्थितियों में दुःखी भी नहीं होता। वह जितेन्द्रिय होता है। उसकी ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन) उसके नियन्त्रण में होती हैं। वर्तमान सन्दर्भ में भी स्थितप्रज्ञ की अवधारणा का और भी अधिक महत्त्व है। सम्प्रति काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, स्वार्थपरकता आदि अनेकानेक समस्याओं के समाधानार्थ स्थितप्रज्ञ की अवधारणा रामबाण है।

निष्कर्ष :- इस प्रकार किसी विद्यार्थी को जीवन में सफल होने के लिये शिक्षा के जिन उद्देश्यों की प्राप्ति अपेक्षित मानी जाती है उसकी प्रतिपूर्ति गीता आवश्यक रूप से कर देती है। गीता एक व्यापक अवधारणा है जो जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बद्ध है और जीवन का प्रत्येक पहलू गीता में मुखर हुआ है। भौतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन में बदलने के लिये इसमें शाश्वत् उपदेश हैं। यह नूनमेव सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि:-

1. महाभारततात्पर्यनिर्णय 1, 69-70
2. डा. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग 2
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा- राममूर्ति पाठक
4. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय - 64-78
5. भारतीय दर्शन - हरेन्द्र कुमार - 37, 38
6. श्रीमद्भागवद्गीता मूल - गीता प्रेस, द्वितीय अध्याय पंच, अष्टादश
7. डा. हारेन्द्र प्र. सिन्हा-धर्मदर्शन की रूपरेखा

विभागाध्यक्ष, संस्कृत, एस.बी.
महाविद्यालय, चंडील, रांची
विश्वविद्यालय, रांची

The Hero of Changing World

BARACK
OBAMA

By Ravi Kant Dubey

भाव स्वरूप साधना

डॉ. इन्दु कुमारी

भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध चिन्मय, शुद्ध आनन्दमय, शुद्ध प्रेममय और शुद्ध रसमय हैं तथा ये श्रीकृष्णकान्ता गोपियां (श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति राधा और श्री राधा-कृष्ण का सदा मिलन-संयोग कराने में ही नित्य संलग्न रहने वाली एवं श्रीराधा से भी बढ़कर सुखानुभव करने वाली सखियां) शुद्ध चिन्मयी, शुद्ध आनन्दमयी, शुद्ध प्रेममयी और शुद्ध भावमयी हैं। ये और इनकी देहादि हम लोगों की भांति वस्तुतः रक्त-मांसमय नहीं हैं, प्रापञ्चिक या कल्पित नहीं हैं, कर्मजन्य सुख-दुःख के भोग-निमित्त नहीं हैं, अपितु नित्य हैं। ये प्रापञ्चिक मायिक जगत् में प्रकट होने पर भी, मृत्युलोक में लीला करने पर भी मरणधर्म से सर्वथा अतीत हैं। प्रेम से छलकते हुए दिव्य नेत्रों से ही इनकी दिव्य मूर्तियों के और नित्यरास के दर्शन हो सकते हैं।

प्राकृत जीवों की भांति न तो भगवान् माता के गर्भ में आते हैं, न कर्मपरवश उनका जन्म होता है और न उनका विग्रह ही उनसे भिन्न-पाञ्चभौतिक होता है। वे भगवान् स्वेच्छामय दिव्य वपु में प्रकट होते हैं।

यहां यह बात भी जान लेनी चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं है। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अंग, अवयव-सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनकी वह स्वरूपभूत भगवद्देह नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्य संपन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी विभु है। वे कर्मवश पाञ्चभौतिक देह नहीं धारण करते, स्वेच्छा से अपने नित्य सच्चिदानन्दवपु को प्रकट करते हैं-‘स्वेच्छामयस्य न तु भूततमयस्य कोऽपि’ (श्री मदभागवत् 10।14।2)।

पद्मपुराण-पाताल खण्ड में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने ही दूसरे लीलास्वरूप भगवान् श्री रूद्र को दर्शन देकर अपने निराकार, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय ब्रह्मरूप की व्याख्या करते हुए कहा है-‘रूद्र! तुम इस समय मेरे जिस अलौकिक अप्राकृतिक दिव्य रूप को देख रहे हो, यह निर्मल प्रेम का पुंज है, सच्चिदानन्दमय है। मेरा यह रूप प्राञ्चभौतिक आकार वाला नहीं है तथा दिव्य चक्षुओं से ही यथार्थ देखा जाता है,

इसलिए वेद इसे ‘निराकार’ कहते हैं। प्राकृतिक सत्व-रज-तम मेरे गुण नहीं हैं, वे अप्राकृत-स्वरूपभूत हैं तथा उन दिव्य गुणों का अंत नहीं है, इससे मुझे ‘निर्गुण’ कहा गया है। मैं अपने चैतन्य अव्यक्त रूप से सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे मुझे ‘व्यापक’ ब्रह्म कहा जाता है। मैं इस प्रपंच का कर्ता नहीं हूँ, मेरे अंश ही मायामय गुणों के द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं, इसलिए शास्त्र मुझे ‘निष्क्रिय’ कहते हैं। अतएव श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह नित्य सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण स्वरूप ही है।

इन श्रीकृष्ण की प्रेयसी कान्ताओं में श्रीराधा सर्वशिरोमणि हैं और इन सबकी मूल शक्ति एवं सबके मस्तकों के मुकुट-स्वरूप स्वयं श्रीकृष्ण की भी मणिस्वरूपा हैं। इन श्रीराधा के चित्त, इन्द्रिय, शरीर, बुद्धि और अहंकार-सभी ह्लादिनी के साररूप श्रीकृष्ण-प्रेम के द्वारा ही गठित हैं, प्राकृत रक्त-मांसादि के द्वारा नहीं। ये श्रीराधा विशुद्ध, परिपूर्ण, सबको पवित्र करने वाले मधुर प्रेम की सुधा-धारा हैं, जो सदा सबको सुधा-प्लावित करती रहती हैं।

इस प्रेम का जो सार है, वह राधा बन गया है। ये श्रीकृष्ण की परमोत्कृष्ट प्रेयसी हैं। श्रीकृष्ण की वांछा को पूर्ण करना ही इनके जीवन का कार्य है। इनमें काम-क्रोध, बंध-मोक्ष, भुक्ति-मुक्ति-कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्ण की इच्छा को पूर्ण करना-यही इनका स्वरूप स्वभाव है।

श्रीराधा प्रेम की पराकाष्ठा स्वरूप ‘महाभाव’-रूपा हैं। वे समस्त कल्याण-गुणगण की आकर (खान) और श्रीकृष्ण-कान्ता-शिरोमणि हैं। जड प्रकृति से संयुक्त जीवों की भांति उनके जड इन्द्रियां, जड शरीर और सूक्ष्मदेहरूप जड चित्त नहीं हैं। उनके दिव्य चिन्मय स्वरूप में नित्य शुद्ध चिन्मय इन्द्रियां, चिन्मय शरीर और चिन्मय चित्त हैं। उनकी समस्त इन्द्रियां, उनका शरीर और उनका चित्त नित्य-निरंतर स्वाभाविक ही दिव्य श्रीकृष्ण-प्रेम से परिभावित है।

साधना का प्रारंभ ही भावना से होता है। भावना के मूल में है श्रद्धा। श्रद्धाहीन भाव मिथ्या है। भाव करते-करते भगवत्कृपा सच्चे भावराज्य में प्रवेश होता है-साधक स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम में प्रवेश करता है। वहां उस दिव्य भावनालोक में प्रवेश करके भगवान् की पूजा करता है। देह के पांच भेद माने जाते हैं-स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भाव और चिन्मय। चिन्मय और भाव-देह कुछ विलक्षण हैं। भगवान् का

जो नित्यविग्रह है, वह चिन्मय है। वह देह देह नहीं, भगवत्स्वरूप ही है। वहां देह-देही का भेद नहीं है तथा योगमाया का भी पर्दा नहीं है। भगवान् दो तरह से ही प्रकट होते हैं—योगमाया को लेकर और योगमाया को हटाकर। जहां योगमाया साथ है, वहां आवरण है। बहरिङ्गा प्रकृति का नाम 'माया' है और भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति का नाम है 'योगमाया'। मलिना माया, जिससे जगत् आच्छादित है, भगवान् को नहीं उग सकती। भगवान् स्वयं योगमाया की चादर ओढ़कर, उस आवरण को स्वयं धारण कर सामने आते हैं। जहां भगवान् का योगमाया से रहित चिन्मय स्वरूप है, वहां योगमाया आह्लादिनी शक्ति का रूपान्तर है। भगवान् जहां योगमाया से आच्छादित होकर बोलते हैं, वहां सबके सामने प्रकट होते हैं। जहां योगमाया का पर्दा हटा रहता है, वहां की अंतरङ्गा लीला में जो प्रेमीजन भगवान् के साथ होते हैं—वहां प्रेम में ज्ञान अंतर्हित होता है। उनकी देह का नाम भाव-देह है। श्रीराधिकाजी की भाव-देह नहीं है, वे तो चिन्मय दिव्य विग्रहरूपा हैं और सभी गोपियां राधा की कायव्यूहरूपा हैं।

प्राकृत देह का निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहों के संयोग से। जब तक 'कारण-शरीर' रहता है, तब तक इस प्राकृत देह से जीव को छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण-शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मों के उन संस्कारों को, जो देह-निर्माण में कारण होते हैं। इस 'कारण-शरीर' के आधार पर जीव को बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ना होता है और यह चक्र जीव की मुक्ति न होने तक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होने तक चलता ही रहता है। इसी कर्मबंधन के कारण पांच

भौतिक स्थूल-शरीर मिलता है, जो रक्त, मांस, अस्थि, मेद, मज्जा आदि से भरा और चमड़े से ढका होता है। प्रकृति के राज्य में जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दु के संयोग से ही बनते हैं, फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुन से उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुष के संकल्प से, बिन्दु के अधोगामी होने पर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुन से हो अथवा बिना ही मैथुन के नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदि के स्पर्श से, बिना ही स्पर्श के केवल दृष्टिमात्र से अथवा बिना देखे केवल संकल्प से ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीर के बिना भी उत्पन्न होने वाले) सभी शरीर हैं—योनि और बिन्दु के संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। पितर या देवों के दिव्य कहलाने वाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलय में भी नष्ट नहीं होते और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे? यह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीला-पुरुषोत्तम का भेद नहीं है। श्रीकृष्ण का एक-एक अंग पूर्ण श्रीकृष्ण है, श्रीकृष्ण का मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्ण का पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण की सभी इन्द्रियों से सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आंखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथों से देख सकते हैं, आंखों से चल सकते हैं। श्रीकृष्ण का सब कुछ श्रीकृष्ण होने का

कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसी से उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्धनशील, नित्य नवीन सौंदर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपने को ही आकृष्ण कर लेती है, फिर उनके सौंदर्य-माधुर्य से गौ-हरिण और वृक्ष-बेल पुलकित हो जाएं तो इसका कहना ही क्या है? भगवान् के ऐसे स्वरूप भूत शरीर से गंदा मैथुन-कर्म संभव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अंत में शुक्र बनता है; इसी शुक्र के आधार पर शरीर रहता है और मैथुन क्रिया में इसी शुक्र का क्षरण हुआ करता है।

भगवान् का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टि का है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं, अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिए उससे प्राकृत पांच भौतिक शरीरों वाले स्त्री-पुरुषों के रमण या मैथुन की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिए भगवान् को उपनिषद् में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसी से भागवत में उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं, फिर कोई शंका करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, जो भगवान् के संकल्प से हुई थी। भगवान् के शरीर में जो रक्त, मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान् की योगमाया का चमत्कार है। इस विवेचन से भी यही सिद्ध होता है कि गोपियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण जो रमण हुआ, वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्य की लीला है, लौकिक काम-क्रीड़ा नहीं।

प्राकृत देह का निर्माण स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीन भेदों से होता है। जब तक 'कारण'-देह रहती है, तब तक प्राकृत देह से मुक्ति नहीं मिलती। इस त्रिविध-देहसमन्वित प्राकृत देह से छूटकर प्रकृति से विमुक्त होकर केवल आत्मरूप में ही स्थित होने या भगवान् के चिन्मय पार्षदादि के अथवा भगवान् के मंगलमय लीलासंगियों की भाव-देह अप्राकृत हैं और वे प्राकृत शरीर से अत्यंत विलक्षण हैं। पर वे भी भगवद्देह से निम्न श्रेणी की ही हैं। भगवद्देह तो भगवत्स्वरूप तथा सर्वथा अनिर्वचनीय है।

यह भाव-देह भगवत्कृपा से प्राप्त होती है और उन्हीं की कृपा से जन्म-मन्मांतर में सहज ही मिल जाती है। प्रायः ऐसी देह भगवान् के मुक्त परिकरों की या कारक पुरुषों की होती है अथवा कभी-कभी साधना के द्वारा भी इस देह की प्राप्ति हो सकती है। यह भाव-देह न (कर्मजन्य) सगुण है और न निर्गुण है; यह परात्मक देह है, जो वृंदावन के सिवा और कहीं नहीं देखी जाती।

इस भजन-प्रणाली में सबसे पहले आवश्यक है-असत्संग (धन, स्त्री, मान का और इनके संग) का परित्याग, इन्द्रिय-सुख की वासना का सर्वथा त्याग, जनसंसर्ग में अरति, श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीलादि के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय के श्रवण-कथन-मनन से चित्त की विरक्ति, निज-सुख-मोक्ष तक के इच्छालेश का सर्वथा त्याग और अपने को ब्रज में स्थित एक किशारे-वयस्का सुंदरी गोपिका के रूप में अर्थात् मंजरी-देह प्राप्त गोपकुमारी के रूप में ले जाकर-मन से ऐसा

मानकर विशुद्ध रागमयी श्रीललितादि सखियों, श्रीरूपमंजरी आदि मजरियों एवं तदनुगा नित्यसिद्धा अन्यान्य ब्रजदेवियों में से किसी एक के अनुगत होकर उनके मधुर सेवा भाव का अवलम्बन करके उक्त गुरुरूपा सखी की बायीं ओर रहकर निरंतरसेवा में संलग्न रहना-अर्थात् मन में ऐसा भाव, चिंतन, धारणा या ध्यान करना कि 'मैं एक किशोरवयकी परमा सुंदरी गोपकुमारी हूं, मेरे हृदय में इन्द्रियसुख, नाम-कीर्ति, लोक-परलोक या भोग-मोक्ष की-किसी भी वासना का लेश भी नहीं है, श्रीराधा-माधव का सुख-सेवा-रसास्वादन ही मेरा स्वभाव है और मैं अपनी इन गुरुरूपा नित्यसिद्धा सखी के वामपार्श्व में रहकर उनकी अनुगता होकर सदा-सर्वदा श्रीराधा-माधव की यथोचित सेवा में संलग्न हूं।'

सद्गुरु की शरण में जाकर उनके द्वारा बताये हुए साधनों में लगे रहकर गुरु की सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें, तब वही मंत्र शिष्य को दे दें। सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिन में जब चित्त भगवान् को पाने के लिए आतुर हो-मन-ही-मन भगवान् को परम गुरु मानकर उन्हीं से मानस-मंत्र ग्रहण कर ले। गोपीभाव के उपासकों को ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपी को गुरु मानकर उनसे मानस-मंत्र ग्रहण करना चाहिए। मानव-गुरु की अपेक्षा यह अधिक श्रेष्ठ है। साधकगण श्रीब्रजधाम में अपनी अवस्थिति का चिंतन करते हुए अपनी-अपनी गुरुस्वरूपा मंजरी के अनुगत होकर, एक परम सुंदरी गोपकिशोरी-रूपिणी अपनी-अपनी सिद्ध मंजरी-देह की भावना करते हुए, श्रीललितादि सखीरूपा तथा श्रीरूपमंजरी आदि मंजरीरूपा नित्यसिद्धा ब्रजकिशोरियों

की आज्ञा के अनुसार परम प्रेमपूर्वक मानस में दिवानिशि श्रीराधा-गोविन्द की सेवा करें।

रासोल्लास-तंत्र में भाव-देह का वर्णन आया है। भगवान् के नित्यधाम में नित्य-परिकरों की चिन्मय-देह में लीला के लिए एक शक्ति दी गयी है, उसका नाम है 'भाव'। भगवान् के नित्यपरिकर भाव-देह में होते हैं। भाव-देह की प्राप्ति से ही उनका रासलीला में प्रवेश होता है। इसीलिए यह परम गुह्य रहस्य है। यह रहस्य तर्कों के द्वारा सिद्ध हो नहीं सकता। भावलीला में योगमाया का पर्दा हटा रहता है। वहां लोकसंग्रह नहीं है। लोकसंग्रह वहीं है, जहां लोक हैं। जहां जगत् के प्राणी हैं, जहां प्रजा है, लोक है, मनुष्य हैं, वहीं लोकसंग्रह की आवश्यकता है। जहां लोक है ही नहीं, वहां लोक-संग्रह कैसा? जहां लोकालय नहीं है, कर्मयोग करने वाले जीव नहीं हैं-जहां केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं, वहां-'रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' (श्री मद्भागवतगीता 10।33।17)।

भावलीला में मानवी कर्मचेष्टा नहीं होती। मानव-जगत के आदर्श के शिखर तक मानव के कर्म हैं। भाव-लीला में तो लोक का भाव है ही नहीं। जहां यह भावलीला है, वहीं भाव-देह भी है। गोपों ने देखा कि सभी गोपियां अपने-अपने पतियों के पास सोयी हुई हैं। मानव-देह को मानवों के पास छोड़कर वे भाव-देह से, चिन्मय रूप से, दिव्यरूप से वहां आ गयीं जहां भगवान् थे और रास में सम्मिलित हुईं। सूक्ष्म-देह और कारण-देह में कर-चरणादि अंग नहीं होते, पर चिन्मय-देह और भाव-देह में ये सब होते हैं; किंतु वे सब होते हैं

दिव्य अलौकिक। जैसे स्वयं भगवान् ही गोपबालक, गोवत्स और बालकों का सारा साज-सामान बन गये, उसी प्रकार उस नित्य रासलीला में भी स्वयं भगवान् ही 'महाभाव' और 'रसरज' दोनों रूपों में प्रकट होते हैं। वह रासमण्डल इस माया से सर्वथा परे है। वहां न इस माया की देह, न इस माया के मनुष्य और न इस माया में रमण है। माया से विरहित योगमाया के पर्दे को हटाकर आत्मराम श्रीकृष्ण ने आत्मरूप श्रीगोपा नाओं के साथ रमण किया— 'आत्मारामोऽप्यरीरमत् ।' वहां शरीर रूप से स्वयं भगवान् ही हैं, गोपियां भी वे ही हैं—सब कुछ स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, यह कोई कल्पना नहीं है, रास सत्य है, रास नित्य है और रास चिन्मय है।

वह है क्या—यह कौन कहे? कैसे कहे? जो भावुक हैं—जिनका इस भावराज्य में प्रवेश है, वे ही इसका आनन्द जानते हैं पर इस आनन्द को मायिक वाणी कैसे व्यक्त कर सकेगी? जो उस पर आनन्द में मग्न हैं, वे फिर इसके परे क्या है, इस ओर ताकते तक नहीं। यही तो वेदान्तशिरोमणि श्रीमधुसूदन स्वामी ने कहा है—

वंशीविभूषितकरात्रवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'जिनके दोनों हाथ बांसुरी से शोभा पा रहे हैं, श्रीअंगों की कान्ति नूतन मेघ के समान श्याम है, सांवले अंग पर पीतांबर सुशोभित हो रहा है, लाल ओठ पक्के हुए बिम्बफल की सुषमा छीने लेते हैं, सुंदर मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा को भी लज्जित कर रहा है और नेत्र

प्रफुल्ल कमल के समान मनोहर प्रतीत होते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण के सिवा दूसरा कोई भी परम तत्त्व है—यह मैं नहीं जानता।'

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा

तत्रिगुणं निष्क्रियं

ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं

पश्यन्ति पश्यन्तु ते

अस्माकं तु तदेव लोचनमत्काराय

भूयाच्चिरं

कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तत्रीलं

महो धावति ॥

'यदि योगीलोग ध्यान के अभ्यास से वश में किये हुए मन के द्वारा किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योति का साक्षात्कार करते हैं तो करते रहें, हम तो चाहते हैं कि यमुना के किनारे वह जो कोई अनिर्वचनीय सांवला-सलोना तेज दौड़ता फिरता है, वही हमारे नेत्रों में चिरकाल तक चमत्कार (विस्मयपूर्ण उल्लास) उत्पन्न करता रहे।'

यह कल्पना का लोक नहीं है, अपितु परात्पर सत्य का दिव्य लोक है। कोई आवश्यकता नहीं कि इसे किसी को समझाया जाए। भगवान् को इसकी आवश्यकता नहीं कि लोग उनके इस राज्य को मानें ही, पर तो भी इस भावराज्य में प्रवेश होता है भगवत्कृपा से ही। इस भावराज्य में प्रवेश करने पर भक्त प्रभु के सिवा अन्य किसी को मानता, जानता, समझता नहीं। सारा संसार विरोध करे, लाख करे पर उसे तो संसार की कोई परवा ही नहीं। जगत् की समालोचना का विषय यह है ही नहीं।

श्रीवृन्दावन का यह चिन्मय रस है, वहां प्रकाश-ही-प्रकाश है। इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि-ही-वृद्धि है—रूप में, सौंदर्य में,

लीला में, प्रेम में और आनन्द में सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा। यह श्रीराधा-माधव का अतिशय उज्ज्वल धाम है। वहां प्रिया-प्रियतम की अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है। वहां नटनागर श्यामसुन्दर के लीला-विहार का महान् मधुर अगाध सागर अत्यंत प्रशांत होने पर भी नित्य उछलता रहता है और वे उसमें विविध मनोहारिणी अलौकिक भाव-तरंगों के रूप में क्रीड़ा करते रहते हैं। यह कल्पना नहीं, सत्य है। इस परम उज्ज्वल सर्वश्रेष्ठ भाव-राज्य की सीमा में उसी का प्रवेश हो सकता है, जो घृणित भोगों से तथा कैवल्य-मोक्ष से भी सदा विरक्त होकर केवल श्रीराधा-माधव के चरणों में अत्यंत आसक्त हो गया है।

इस प्रेम-मार्ग के पथिक को अहं के सुख की-मोक्ष तक की इच्छा का तथा अहं की स्मृति का भी त्याग करने की तैयारी करके ही इस मार्ग पर पैर रखना चाहिए। जो अपने सर्वस्व को स्वाहा करके उसके भस्माव शेष पर आनन्दमत्त होकर नाच सकता है, वही सर्वत्यागी इस पावन प्रेम-पथ का पवित्र पथिक बन सकता है।

भाव-राज के सभी विलक्षण होते हैं शुभभोग-विराग ।

नहीं समझ में आ सकते वे जागे बिना शुद्ध अनुराग ॥

अपने में अपने से अपने ही होते सब भाव-विशेष ।

भौतिक स-मल विकारों का-भावों का रहता कहीं न लेश ॥

सभी दिव्य, चिन्मय, भगवन्मय, सभी विकार-रहित पर-भाव ।

प्रेमी-प्रियतम बने स्वयं प्रभु लीलारत रहते अति चाव ॥

य ष व अनुस्वारस्य (-) च उच्चारणे यजुर्वेदस्य प्रभावः

डा० बबुनन्दन मिश्रः (मधवापुरम)

यदा कश्चित् हिन्दीभाषावेन्ता संस्कृतपण्डित मुखेन 'य' वर्णस्य 'ज' इति तथैव 'ष' वर्णस्य च 'ख' इति उच्चारणं श्रुणोति तर्हि सः चकितः भवति। जिज्ञासा च तस्य भवति यत् कथं सः एवम् उच्चरति। अत्र एवमुच्चारणे अस्ति किमपि कारणं न वा। वर्णानाम् उच्चारणशिक्षाकाले गुरुणा आदौ तु एवं न निर्दिश्यते।

य ष व अनुस्वारस्य च उच्चारणे वैदिककाले कश्चित् भेदः आसीत्। यद्यपि एतेषां वैशिष्ट्यानां निर्देशः प्रातिशाख्यग्रन्थेषु न लभ्यते तथापि शिक्षाग्रंथेषु अद्यापि उच्चार्यमाणेषु वेदमन्त्रेषु च एतानि वैशिष्ट्यानि स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यन्ते। वैदिककाले तु तानि वैभाषिकाणि आसन्। तानि च वैशिष्ट्यानि यजुर्वेदे विशेषेण प्राप्यन्ते। बहवः संस्कृतपण्डिताः अद्यापि लौकिक संस्कृतस्य पदादौ वर्तमानस्य यकारस्य जकारः तथा च षकारस्य रवकारः इति उच्चार्यमाणाः दृश्यन्ते।

(1) यकारस्य जकारः उच्चारणम्

विशेषरूपेण मैथिलाः बङ्गीयाश्च पण्डिताः 'य' इति अस्य उच्चारणं 'ज' इति कुर्वन्ति। माध्यन्दिनीशाखानुसारेण असंयुक्तस्य यकारस्य उच्चारणं पदादौ सति 'ज' इति भवति। पदमध्येऽपि 'य, ऋ, र, ण, ह-एतैः युक्ते सति सः 'ज' इति उच्चारितः भवति। तथाहि—

पदादौ विद्यमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च ।

आदेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरणेन तु ॥

रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत् ।

यकारकारयुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत् ॥

(माध्यन्दिनीशाखा 2.3-5)

यजुर्वेदस्य उच्चारणे (ऋग्वेदेऽपि), यथा "यद् भूतं यच्च भाष्यम्" इत्यस्य उच्चारणं "जद्भूतं जच्च भावियम्" इति भवति। एवमेव "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यस्य उच्चारणं "सूर्ज आत्मा जगतस्तस्थुखश्च" भवति।

(2) षकारस्य खकारः उच्चारणम्

टवर्गीयध्वनिना अयुक्ते सति 'ष' इत्यस्य उच्चारणं 'ख'

इति भवति। माध्यन्दिनीशिक्षायां केशवीशिक्षायां च एतस्यवैशिष्ट्यस्य उल्लेखः प्राप्यते। तथाहि—

"षकारस्य खकारः स्यात्टुकयोगे तु नो भवेत् ।"

(माध्यन्दिनीशिक्षा 2-1)

'षः खष्टुमृते च' (केशवीशिक्षा 3)

उदाहरणरूपेण "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यस्य उच्चारणं "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इति क्रियते। परञ्च "अत्यतिष्ठदशांगुलम्" इत्यत्र टुक्योगात् षकारस्य उच्चारणं खकारः न भवति।

(3) वकारस्य ण्वः उच्चारणम्

एवमेव पदादिवकारस्य उच्चारणमपि वैशिष्ट्यं विदधाति। माध्यन्दिनीशिक्षानुसारेण अस्य उच्चारणं गुरुः "ण्वः" भवति। तथाहि—

"गुरुर्वण्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत्"

(माध्यन्दिनीशिक्षा 2-6)

वकारस्य दन्तोष्ठयरूप एव (ण्वः)

माध्यन्दिनीशिक्षाकारस्य तात्पर्यं गुरुः वकारः इति कथनेन। तथाहि—

"वकारस्य दन्तोष्ठयम्"

यजुर्वेदे वकारस्य द्विविधमुच्चारणं लभ्यते—

(क) पदादौ "ण्वः"

(ख) पदमध्ये "वः"

शुक्लयजुर्वेदिनस्तु अद्यापि पदादिवकारस्य उच्चारणं दन्तोष्ठयं (ण्वः) कुर्वन्ति। उदाहरणरूपेण "ततो विराडजायत विराजो अधिपुरुषः" इत्यस्य याजुषमुच्चारणं (यजुर्वेदीयम्) एवं भवति—"ततो ण्विराडजायत ण्विराजो अधिपुरुषः" इति। परञ्च पदमध्ये वर्तमानस्य यकारस्योच्चारणं जकारः न भवति तथैव वकारस्य चोच्चारणं ण्वकारः न भवति। तद्यथा—

"तस्माज्जाता अजावयः" इत्यत्र परिवर्तनं विना उच्चारणं यथावत् भवति।

(4) अनुस्वारस्य उच्चारणम् 'ग्गुम् इति

यजुर्वेदे अनुस्वारस्य उच्चारणेऽपि वैशिष्ट्यं दृश्यते। इदं ऋग्वेदेऽपि गृहीतम्। यदा अनुस्वारस्य परवर्तिध्वनिः सोष्मः (श, ष, स) भवति तथैव च यदा प्राणध्वनिः (ह) भवति तदा अस्योच्चारणं "ग्गुम्" इति भवति। तद्यथा—"अं शुना" इत्यस्य उच्चारणं "अग्गु शुना" इति भवति। एवमेव "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यस्योच्चारणं "पुरुष एवेदग्गुं सर्वम्" इति भवति।

दहेज प्रथा एक ज्वलंत समस्या का समाजशास्त्रीय अध्ययन

विजय कुमार

Abstract

दहेजप्रथा वह प्रथा है, जिसमें प्रायः कन्या (वधू) पक्ष वर पक्ष को उसकी मांग नगद या वस्तु के रूप में धन देता है। पारंपरिक रूप से हिन्दू समाज में पहले कन्या दान होता था यानी सबसे बड़ा दान कन्यादान को माना जाता था। मगर अब ये धन दान या दहेज दान के रूप में बदल गया। इसलिए दहेज शब्द ज्यादा प्रचलित हो गया। दहेज प्रथा पहले मुसलमानों में नहीं थी बल्कि वहाँ वर पक्ष वधू पक्ष को 'मेहर' देता था। जो एक प्रकार का महिलाओं के लिए सुरक्षा कवच था। अब अधिकांश मुस्लिम परिवार दहेज का लेन-देन खुल्लम-खुल्ला करते हैं। दहेजप्रथा ने आज भयावह रूप धारण कर लिया है। दहेज हत्या की घटनाएँ पिछले तीन दशकों में तेजी से बढ़ी है, एक अनुमान के मुताबिक भारत में हर एक घंटा पर किसी महिला की दहेज के कारण हत्या होती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में दहेज हत्या के विकराल स्वरूप को दर्शाया गया है एवं उनके कारणों को ढूँढ़ा गया है। दूसरी ओर यह भी पता लगाना है कि दहेज प्रथा हेतु जो भी सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयास किए गए उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? इस शोध-पत्र में कानूनों के कमजोर पहलू पर प्रकाश डालते हुए सुझाव भी दिए जायेंगे।

परिचय :

दहेज उस सम्पत्ति को कहते हैं जो विवाह के समय कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष को दी जाती है। दहेज निषेध अधिनियम की धारा-2 दहेज को परिभाषित करती है। इसके अनुसार किसी

भी प्रकार की सम्पत्ति अथवा मूल्यवान वस्तु, जमानत राशि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विवाह के एक पक्ष द्वारा विवाह के दूसरे पक्ष को अथवा दोनों में से किसी एक के माता-पिता द्वारा दिया जाने वाला धन दहेज कहलाता है। दहेज का अर्थ है कि किसी भी प्रकार की सम्पत्ति अथवा मूल्यवान जमानत राशि प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से विवाह के समय किसी पक्ष द्वारा दिया जाने वाला या लिया जाने वाला धन है। दहेज उन्मूलन हेतु समय-समय पर अनेकों कानून बने जैसे दहेज-अधिनियम 1961, 1984 व 1986 में इसके कई प्रावधान संशोधित किए गए। समय-समय पर इस कानून का सामाजिक स्तर पर लेखा-जोखा करना भी आवश्यक है कि किसी विशेष कानून से उन उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति हुई है जिन उद्देश्यों के लिए उस कानून को पारित किया गया था।

उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य यह दर्शाना है कि दहेज एक सामाजिक अभिशाप है। जिसका दुष्प्रभाव हमारे समाज में कोढ़ के रूप में मौजूद है। फलतः इस शोध-पत्र द्वारा उसके भयावह रूप को चित्रित कर उसके निदान के उपाय खोजे गए हैं। दूसरी ओर भारत सरकार द्वारा बनाए गए विभिन्न कानूनों के कमजोर पहलू को उजागर किया गया है। फिर उस कमजोर पहलू को दूर करने के उपाय सुझाना इस शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य है।

विश्लेषण :

दहेज भारतीय समाज की एक जड़मूल बुराई है। प्राचीन समय में यह रिवाज था कि विवाह के समय दूल्हे और उसके परिवार को उपहार दिए जाते थे। इसका प्रयोग एक ऐसे प्रबंध के रूप में वर-वधू के लिए होता था जो विपत्ति के समय उनके काम आता था। इस व्यवस्था की शुरुआत तब हुई थी जब आमतौर पर लड़कियाँ शिक्षित अथवा रोजगार में नहीं थीं तथा उन्हें पारिवारिक आय को पूरा करने का कम अवसर प्राप्त था। रिवाज के रूप में उपहार देने का एक अन्य कारण भी मौजूद था जैसे - लड़कियाँ पारिवारिक संपत्ति में हिस्से के लिए अधिकृत नहीं थीं, वे पिता के अनुराग से वंचित थीं। अतः पिता दूसरे लिहाज से विवाह के समय पुत्री को कुछ नकद अथवा वस्तुएँ देते थे। दुर्भाग्यवश धीरे-धीरे लड़के या उसके परिवार द्वारा अधिकार के रूप में इस प्रकार का उपहार

माँगने की एक नई प्रथा का विकास हुआ।

दहेज प्रथा बढ़ने के कई कारण हैं। जैसे-पितृसत्तात्मक समाज-दहेज प्रथा के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारक हमारे समाज का पितृसत्तात्मक स्वरूप होना है। इस पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष निजी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी और मालिक है। जबकि नारी सर्वहारा होती है। श्रम के अलावा उसका अपना कुछ भी नहीं होता है। ऐसे समाज में एक लड़की का विवाह प्रेम पर आधारित नहीं होता, आपसी सम्मान व बराबरी पर आधारित नहीं होता, बल्कि एक विकृत किस्म का सौदा होता है। इस तरह पितृसत्तात्मक व्यवस्था का खात्मा जब तक नहीं होता, दहेज प्रथा को समाप्त करना असंभव है।

समाज में शुरू से ही महिला को सशक्त करने की दिशा में काम नहीं किया गया। उन्हें सिर्फ योग्य समझा जाता रहा। सशक्त महिला ही गलत प्रथा का विरोध कर सकती है। चूँकी महिलाएँ सशक्त नहीं हैं। फलतः उन्हें दहेज की बलि बेदी पर चढ़ना पड़ता है। दहेज जैसी कुप्रथा के लिए महिलाएँ खुद जिम्मेदार होती हैं। अक्सर देखने में आता है कि घर की माँ बहन ही अपने बेटे भाई के विवाह में बढ़ चढ़ कर दहेज की माँग करती हैं। उन्हें यह नहीं महसूस होता है कि उन्हें भी एक दिन दहेज रूपी राक्षस का सामना करना होगा।

दहेज से सम्बन्धी अध्ययन :

दहेज सम्बन्धी सर्वेक्षणों के दौरान विभिन्न जातियों, धर्मों, आर्थिक समूहों और समुदायों के 10 हजार परिवार से इंटरव्यू किया गया। इन सबने यह माना

कि दहेज को रोका नहीं जा सकता है। इस तथ्य की पड़ताल इस बात से भी होती है कि सर्वेक्षण के दौरान असम त्रिपुरा और उत्तर-पूर्व के दूसरे राज्यों में भी पिछले 10-15 साल में दहेज की परम्परा काफी तेजी से बढ़ी है। ऐसे ही मुस्लिम, दलित, आदिवासी आदि में जहाँ दहेज का प्रचलन नहीं था वहाँ भी पिछले 10-15 साल में दहेज की प्रथा तेजी से पनपी है। कुछ समय पहले तक असम और त्रिपुरा को दहेज मुक्त समाज माना जाता था।

दहेज की समस्याएँ निम्न जाति की अपेक्षा उच्च जाति में अधिक पाई जाती है।

- मुस्लिम समाज में दहेज की माँग में वृद्धि के कारण कन्या भ्रूण हत्या के मामले लगातार बढ़ रहे हैं।
- प्रति वर्ष 15 हजार से ज्यादा औरतें दहेज के नाम पर सतायी जाती हैं और औसत 6 हजार से 7 हजार औरतें प्रत्येक साल दहेज हत्याओं की शिकार बनायी जाती है।
- एक अनुमान के अनुसार दहेज के संबंध में देश में सालाना सौ अरब रुपये से भी अधिक का लेन-देन होता है।
- भारत के हाल के सर्वेक्षणों के आँकड़े बताते हैं कि 90 मिनट पर एक दहेज प्रताड़ना या हत्या का मामला दर्ज होता है।
- अधिकांश दहेज-हत्याएँ पति के घर के एकांत में और परिवार के सदस्यों की मिलीभगत से होती है।

दहेज देने के प्रमुख कारण :

1. सुयोग्य वर की कमी
2. कुलीन विवाह
3. मंहगी शिक्षा व्यवस्था
4. झूठी प्रतिष्ठा
5. पुरुष प्रधान समाज
6. आर्थिक प्रतिस्पर्धा।

चूँकि हिन्दुओं में यह प्रथा है कि अपनी जाति के अन्दर ही विवाह किया जाना है। 'रोटी बेटी जाति में' वाली कहावत मशहूर है फिर गोत्र में एवं गाँव में शादी नहीं की जाती। इसलिए जाति का दायरा सीमित होने के कारण बेटी के बाप के सामने विकल्प सीमित हो जाते हैं। उन सीमित विकल्पों में 'माँग अधिक आपूर्ति कम' होने के नाते तिलक-दहेज की माँग ज्यादा है। तिलक-दहेज को सामाजिक हैसियत, प्रतिष्ठा, नाम, यश आदि का प्रतीक भी माना जाता है। यानी ज्यादा प्रतिष्ठा के लिए ज्यादा दहेज। चूँकि आज के जमाने में पढ़ाई-लिखाई का खर्च बढ़ गया है। इसलिए वर पक्ष की यह सोच होती है कि वह अपने बेटे की शादी में उससे ज्यादा धन ले। सो, ज्यादा शिक्षितों में दहेज-प्रथा अधिक है।

दहेज के कुप्रभाव :

1. भ्रूण हत्या
2. पारिवारिक विघटन
3. बेमेल विवाह
4. ऋणग्रस्तता
5. आत्महत्या
6. अपराध में वृद्धि
7. मानसिक बीमारियाँ
8. झूठी प्रतिष्ठा

9. पुरुष प्रधान समाज

10. आर्थिक प्रतिस्पर्धा

गरीब एवं दहेज देने में अक्षम परिवार अपनी बेटियों का बेमेल विवाह करने को मजबूर होते हैं, जैसे विदुर से विवाह, विकलांग से विवाह, अपराधी से विवाह, नशाखोर से विवाह, मानसिक रोगी से विवाह आदि। 25 से 30 वर्ष के बावजूद लड़कियों की शादी नहीं होने से वे कुठित हो जाती हैं और अंत तक या तो किसी लड़के के साथ भाग जाती है अथवा परिवार और समाज की इज्जत का ख्याल करके आत्महत्या कर लेती है।

एक ओर बालविवाह प्रथा ज्यादा जागरूकता, शिक्षा, कानून आदि के कारण घट रही है, किन्तु दहेज प्रथा बढ़ने विशेषकर शिक्षित एवं रोजगार प्राप्त युवकों के लिए अधिक दहेज माँगने के कारण लड़कियों के अभिभावक बालविवाह का सरल उपाय अपना रहे हैं जिसमें अपेक्षाकृत कम दहेज देना पड़ता है।

दहेज निषेध अधिनियम (1961):

इस अधिनियम का उद्देश्य दहेज लेने और देने की बुरी प्रथा का निषेध करना है। चूँकी समस्या बुनियादी तौर पर समाज मूलक है अतः सरकार ने इसे रोकने के लिए हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 में संशोधन द्वारा महिलाओं को संपत्ति का अधिकार प्रदान किया है, जबकि आवश्यकता एक ऐसे कानून की थी जो इस प्रथा को दंडनीय बनाए और यह सुनिश्चित करें कि यदि कोई भी दहेज दिया जाए तो इसका लाभ महिला को प्राप्त हो साथ ही इस

अधिनियम का उद्देश्य आम जनता को शिक्षित करना तथा इस बुराई का उन्मूलन करना था। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान :-

- (1) पहले या बाद में पक्ष को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से दी गयी सम्पत्ति दहेज कहलाएगी।
- (2) यदि कोई व्यक्ति इस अधिनियम के लागू होने के बाद दहेज देता अथवा लेता है या दहेज देने या लेने के लिए उकसाता है। वह कारावास जिसकी अवधि पाँच वर्षों से कम नहीं होगी या दहेज के समतुल्य राशि इनमें से जो भी अधिक हो के लिए दंडनीय होगा।
- (3) विवाह के अवसर पर दी जाने वाली भेंट जो उपहार अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए नियमों के अनुकूल सूची में प्रविष्ट हो।
- (4) कोई भी समझौता गैर कानूनी होगा।
- (5) दी गई भेंट पर पत्नी का पूर्ण अधिकार होगा।
- (6) लिखित शिकायत एक वर्ष के अन्दर देना होगा आदि।

इस अधिनियम में अनेकों कमजोरियाँ थी जिसका लाभ दहेज लोभियों ने उठाना प्रारंभ कर दिया। जैसे- विवाह के अवसर पर दिया जाने वाली उपहार दहेज नहीं होगा। दहेज संबंधी लिखित शिकायत एक वर्ष के अंदर देना होगा। दण्ड की समुचित व्यवस्था नहीं एवं प्रचार प्रसार का अभाव होना आदि। पुनः केन्द्र सरकार ने दहेज निषेध अधिनियम में 1986 में संशोधन किया।

दहेज निषेध संशोधन अधिनियम 1986:

- (1) इस संशोधन अधिनियम के तहत 5 वर्ष की जेल तथा दहेज के समतुल्य दण्ड और जमानत भी नहीं मिलेगा।
- (2) लिखित शिकायत एक वर्ष के बढ़ाकर 7 वर्ष कर दिया गया।
- (3) केन्द्र व राज्य सरकार के कर्मचारियों को लिखित ज्ञापन लेना होगा कि मैंने दहेज नहीं लिया है।
- (4) यह अधिनियम दहेज निषेध अधिकारी को नियुक्ति का भी प्रबंध करता है, उसके अधिकार क्षेत्र और उसके कर्तव्य का निर्धारण करता है।
- (5) जहाँ महिला की मृत्यु जलने या शारीरिक चोटों से होती है या सामान्य अवस्था के विपरीत होती है। उसके विवाह के 7 वर्षों के भीतर मृत्यु को दहेज मृत्यु माना जाएगा।

दहेज प्रथा को समाप्त करने के उपाय :-

- (1) स्त्री शिक्षा
- (2) महिला सशक्तीकरण
- (3) महिला राजनीतिक सहभागिता
- (4) जीवन साथी चुनाव में स्वतंत्रता
- (5) प्रेम विवाह
- (6) अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा देना
- (7) युवाओं को प्रेरित किया जाय
- (8) दहेज विरोधी कानून को सख्ती से लागू किया जाए।

(9) प्रचार प्रसार एवं जागरूकता अभियान चलाया जाय।

दिल्ली के एक मुकदमे में (लक्ष्मण कुमार बनाम दिल्ली प्रशासन) माननीय उच्च न्यायालय ने निर्देश दिया की महिलाओं के पास एक बार आर्थिक स्वतंत्रता आ जाये तो दहेज की बुराई अपनी प्राकृतिक मौत मर जाएगी। शिक्षा के बिना आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की जा सकती है। शिक्षा की वजह से ही पश्चिमी देशों की महिलाएँ आर्थिक रूप से स्वतंत्र हैं।

दहेज प्रचलन समाज का कोढ़ है जो भीतर से समाज को खोखला बनाये जा रहा है। दहेज की माँग के कारण कितने ही परिवार की आर्थिक स्थिति चरमरा जाती है, पारिवारिक सुख-शांति छिन्न-भिन्न हो जाती है, किन्तु सारे परिवार को मुजरिम बना देना, उम्रदराज महिलाओं, बुर्जुगों, युवा लड़कियों, गोद में बच्चे के लिए माँ को जेल की चहारदीवारी के अंदर कुछ दिन भी रहना उनके तथा उनके परिवार को तोड़ कर रख देता है।

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि प्राचीन समय में यह रिवाज था कि विवाह के समय दुल्हे एवं उसके परिवार को उपहार दिए जाते थे। दुर्भाग्यवश धीरे-धीरे लड़के या उसके परिवार द्वारा अधिकार रूप में इस प्रकार का उपहार मांगने की एक नयी प्रथा का विकास हुआ। शायद ही ऐसा कोई दिन हो जब सामाचारपत्रों में दहेज उत्पीड़न या दहेज हत्या का कोई मामला प्रकाश में नहीं आता हो। प्रतिवर्ष 15000 से ज्यादा औरतें दहेज के नाम पर सतायी जाती हैं और 6 से 7 हजार

औरतें प्रत्येक साल दहेज की हत्याओं की शिकार बनायी जाती हैं। जाहिर है कि ये सिर्फ वही हैं जिन्होंने पुलिस थाने तक जाने की हिम्मत जुटाई। जब तक समाज के अन्दर दहेज प्रचलन के विरुद्ध एक सशक्त आंदोलन नहीं चलाया जायेगा, इस विनाशकारी प्रचलन का उन्मूलन नहीं हो पायेगा। गाँधी जी ने कानून के माध्यम से नहीं बल्कि छुआ-छूत या अछूतों की समस्या आदि को आंदोलन के जरिये ही जीतने में सफलता प्राप्त की। अभी तक इस बात की समीक्षा नहीं हुई है कि दहेज विरोधी कानूनों का क्या असर हुआ है। देखने में तो ऐसा आ रहा है कि दहेज लेने वालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। दहेज निषेध अधिनियम के तहत परिवार के सदस्यों को विशेषकर महिला सदस्यों को भयावह परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। धारा 304 बी0 तथा 113 बी0 के अन्तर्गत अनुशंसा को पति तथा उसकाने वाले सदस्य तक ही सीमित रखना चाहिए। पूरे परिवार को दोषी ठहराना उचित नहीं है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

- (1) दहेज से संबंधित नियम, प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी इलाहाबाद-आर. दयाल।
- (2) Crime against women - Ram Ahuja.
- (3) Violence in the family - M.E. Wolfgang.
- (4) महिला उत्पीड़न - दहेज प्रताड़ना तथा दहेज हत्या - कान्ता भाटी।
- (5) भारतीय समाज में नारी - पी. शर्मा।
- (6) महिला जागृति और कानून - पी. एन. नाटाणी।
- (7) दहेज फिर कटघरे में, आलेख हिन्दुस्तान हिन्दी दैनिक 18 मई 2005।
- (8) दहेज निरोधक अधिनियम 1961 (1986), यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2002।
- (9) भारतीय दंड संहिता, 1860 प्रोफेशनल बुक पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2006।
- (10) योजना, कुरुक्षेत्र एवं समाज कल्याण मासिक पत्रिकाएँ।

**शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग
कॉलेज ऑफ कॉमर्स
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया**

प्रबंध, रहन-सहन एवं अभिप्रेरण साहित्य

धन प्राप्ति के अनुपम सूत्र	सी. रंजन	200.00
स्वयं को पहचानें	ओरिसन स्वेट मार्डन	150.00
भाग्य स्वयं बनाएं	स्वेट मार्डन	150.00
गृह व्यवस्था	अमर रस्तोगी	200.00
वास्तु एवं सुख संपदा	सी. रंजन	200.00
फेंगशुई से सुख वैभव	सी. रंजन	200.00
क्रय शक्ति प्रबन्ध	सुमन शर्मा	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

स्वतंत्रयोत्तर भारत में महिला शिक्षा की समस्या : एक विश्लेषणात्मक विवेचन

सुभाष चन्द्र प्रभात

सारांश

विश्वव्यापीकरण एवं भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत जैसे विकासशील देश में महिलाओं में शिक्षा की समस्या एक गम्भीर चिन्ता का विषय है। स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के लगभग 61 वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद भी महिलाओं में शिक्षा एवं साक्षरता की स्थिति दयनीय है। हाँलाकि सरकारी, गैर-सरकारी एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा महिलाओं में शिक्षा की समस्या को दूर करने हेतु संवैधानिक प्रावधानों, समितियों का गठन तथा शिक्षा सम्बन्धी नीतियाँ एवं कई कार्यक्रमों आदि कई प्रकार के सराहनीय कदम उठाये गये हैं। इसके बावजूद महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति बेहतर सम्भव नहीं हो पायी है जितनी सरकार एवं जनता की अपेक्षाएँ थी।

जनगणना 2001 के अनुसार देश में महिला साक्षरता-दर मात्र 54.16 प्रतिशत है जबकि पुरुष की साक्षरता-दर 75.85 प्रतिशत यानी पुरुष व महिला के बीच 21.69 प्रतिशत का अन्तर है। इससे स्पष्ट होता है कि आज भी पुरुष एवं महिलाओं के बीच लैंगिक असमानता कम नहीं हुई है। अगर राज्यानुसार महिला साक्षरता-दर का आकलन करें तो उत्तर भारत के हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों यथा बिहार (33.57 प्रतिशत), झारखण्ड (39.38 प्रतिशत), उत्तरप्रदेश (42.98 प्रतिशत), उड़ीसा (59.97 प्रतिशत) एवं मध्यप्रदेश (50.28 प्रतिशत) आदि का साक्षरता-दर अधिक खराब है, जबकि

दक्षिण भारत के राज्यों यथा केरल (87.80 प्रतिशत), मिजोरम (86.13 प्रतिशत) आदि राज्यों की स्थिति बेहतर है। इस प्रकार, शिक्षा की स्थिति में क्षेत्रीय असमानता अभी भी व्याप्त है। देश में व्याप्त निर्धनता, महिलाओं की निम्न सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति, शैक्षणिक अवसरों की असमानता, दोषपूर्ण प्रशासन आदि ऐसे कई कारण हैं जो महिला शिक्षा को व्यापक बनाने में बाधा पहुँचाते हैं।

फलस्वरूप शिक्षा के अभाव में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ यथा निम्न स्वास्थ्य स्तर, निम्न जीवन स्तर, पुरुषों पर अधिक निर्भरता, अन्य सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ आदि उत्पन्न होती रही है। अतः महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति को बेहतर बनाने हेतु परिवार, समाज और सरकार को एक साथ मिलकर दृढ़ता से प्रयास करने की सख्त आवश्यकता है ताकि महिलाएँ परिवार, समाज और राष्ट्र में अपनी स्थिति को बेहतर बना सकें; क्योंकि महिला शिक्षा के अभाव में एक स्वस्थ परिवार एवं समाज की कल्पना सम्भव नहीं है।

भूमिका

यह एक निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा किसी भी राष्ट्र या समाज की प्राणवायु, उसकी प्रेरणा और ऊर्जा है। राष्ट्र का भविष्य उसके द्वारा हासिल किये गये शैक्षणिक स्तर पर निर्भर करता है। शिक्षा और साक्षरता दो अलग चीजें हैं। जहाँ साक्षरता का अर्थ अक्षरों को बोलने, समझने या लिखने तक ही सीमित है, वहीं शिक्षा का अर्थ कहीं अधिक व्यापक है। साक्षरता अगर अक्षर ज्ञान से सम्बन्धित है तो शिक्षा विचारों को समझने, उन्हें ग्रहण करने या आत्मसात् करने का नाम है। इसलिए एडमण्ड बर्क ने कहा कि किसी भी राष्ट्र की सबसे बड़ी सुरक्षा उसकी शिक्षा है। किसी भी देश के लिए स्त्री शक्ति का विशेष महत्व है।

स्त्री स्वयं एक शक्ति ही नहीं, एक जननी भी है, पर उस नवजात शिशु की माँ की गोद बच्चे की पहली पाठशाला होती है। माँ की गोद में मिली शिक्षा ही किसी भी समाज और राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक है। महिला केवल एक माँ ही नहीं, बल्कि एक पथ-प्रदर्शक भी है, जिसमें नेतृत्व की अपार क्षमता देखने को मिली है। हमारे देश में भी आरम्भ से ही महिलाओं की प्रमुख भूमिका रही है। वैदिक काल में भारत में

महिला शिक्षा उन्नत अवस्था में थी। इस काल में महिलाओं को पुरुषों भाँति ही शिक्षा प्राप्त करने और धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। ब्रिटिश काल में प्रारम्भ में महिलाओं की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लार्ड कर्जन (1902) ने देश में महिलाओं की शिक्षा की प्रगति में काफी योगदान दिया। श्री मति ऐनी बेसेंट (1904) ने बनारस में सेंट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय की स्थापना की। राष्ट्रीय महिला परिषद् (1925) की स्थापना के अतिरिक्त देश में अखिल भारतीय महिला शिक्षा सम्मेलन (1927) का आयोजन भी किया। इन प्रयासों से महिला शिक्षा को काफी बल मिला। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद देश में महिलाओं में शिक्षा के प्रचार-प्रसार की ओर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया।

देश के संविधान के प्रारम्भ में यह व्यवस्था की गयी कि राज्य के किसी भी नागरिक के विरुद्ध जाति, प्रजाति, धर्म, लिंग अथवा किसी भी आधार पर विभेद नहीं करेगा इससे महिलाओं को शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति के समान रूप से अवसर उपलब्ध तो होने लगे। इसके बावजूद आज भी पुरुषों की तुलना में महिलाओं की साक्षरता-दर निम्न है। फलस्वरूप महिला शक्ति में छुपी क्षमताओं का उपयोग हम राष्ट्र निर्माण में पूरी तरह से नहीं कर पा रहे हैं। जनगणना 2001 के अनुसार भारत में साक्षरता-दर 65.38 प्रतिशत ही है जिसमें पुरुष साक्षरता-दर 75.85 प्रतिशत तथा महिला साक्षरता-दर 54.16 प्रतिशत है। इस जनगणना में पुरुष व महिला के

बीच 21.69 प्रतिशत का अन्तर है। इससे स्पष्ट होता है कि साक्षरता की दृष्टि से देश में लिंगीय असमानता अभी भी व्याप्त है।

शिक्षा सामाजिक सशक्तीकरण के लिए पहला और मूलभूत साधन है। अब यह माना जाने लगा है कि शिक्षा ही वह उपकरण है जिससे महिला समाज में अपनी सशक्त, समान व उपयोगी भूमिका दर्ज करा सकती है।

शिक्षित महिला न केवल स्वयं लाभान्वित होती है; बल्कि उससे भावी पीढ़ी भी लाभान्वित होती है। शिक्षा किसी भी प्रकार के कौशल की प्राप्ति एवं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण के विकास के लिए पूर्णतया आवश्यक है। महिला की शिक्षा से उसका शोषण रोकने में मदद मिलेगी। निर्णय लेने की क्षमता से घनात्मक एवं सार्थक सम्बन्ध है। शिक्षा द्वारा स्त्रियों के विभिन्न विषयों; जैसे— राजनीति, धर्म, समाज, आर्थिक एवं स्वास्थ्य पक्षों में आनेवाले परिवर्तनों, कुशलता का निम्न स्तर तथा श्रम बाजार में न्यून भागीदारी। महिलाओं की वास्तविक स्थिति से परिवार, समाज एवं राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक स्थिति प्रभावित होती है तथा सामाजिक परिवर्तन को अंजाम देने में शिक्षा एक अभिकरण या साधन के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

अध्ययन का उद्देश्य

अध्ययन के उद्देश्यों में प्रमुख उद्देश्य है— महिलाओं में शिक्षा की कौन-कौन सी समस्या है तथा महिलाओं में निम्न शिक्षा के क्या कारण हैं, का विश्लेषण करना। इसके साथ ही महिलाओं में

शिक्षा की समस्या को दूर करने हेतु प्रमुख सरकारी प्रयासों का विश्लेषण करना तथा अन्त में प्रमाणिक साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष एवं सुझाव प्रस्तुत करना शामिल है।

अध्ययन पद्धति

अध्ययन के अन्तर्गत मुख्यतः द्वितीयक स्रोत से प्राप्त आँकड़ों का ही उपयोग किया गया है। उसमें जनगणना 2001, रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, इसके साथ ही विभिन्न जर्नल, शोध-पत्र, संदर्भ पुस्तकें आदि का भी सहारा लिया गया है। इन सभी तथ्यों एवं आँकड़ों को एकत्र करने के लिए ए0 एन0 सिन्हा सामाजिक अध्ययन संस्थान, पटना, खुदा बक्श, पटना तथा पटना विश्वविद्यालय, पटना के पुस्तकालयों का सहारा लिया गया है।

आँकड़ों का विश्लेषण

वर्तमान समय में महिलाओं में साक्षरता-दर निम्न है। स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के 61 वर्ष गुजर जाने के बावजूद यहाँ महिला साक्षरता-दर की स्थिति काफी निम्न है। अगर लिंगीय आधार पर महिला साक्षरता-दर का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं की साक्षरता-दर पुरुषों की तुलना में कम है जो एक चिन्ता एवं चिन्तन का विषय है। हाँलाकि सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा और साक्षरता के उत्थान हेतु विशेष प्रावधान किये हैं। देश में महिला साक्षरता-दर की स्थिति को अग्र तालिका में प्रदर्शित किया गया है।

तालिका सं.-1: भारत में साक्षरता-दर की स्थिति (प्रतिशत में)

वर्ष	कुल	पुरुष	महिला	साक्षरता दर में अन्तर
1951	18.33	27.16	8.6	18.30
1961	28.30	40.40	15.35	25.05
1971	45.45	45.96	21.97	23.99
1981	43.57	56.38	29.76	26.62
1991	52.21	64.13	39.29	24.84
2001	65.38	75.85	54.16	21.69

स्रोत: सेन्सस ऑफ इण्डिया, 1991 ऐन्ड 2001, प्रोविजनल पॉप्यूलेशन टोटल्स, पेपर-1, रजिस्ट्रार जॅनरल ऐन्ड सेन्सस कमिश्नर, इण्डिया, पृ0-114

तालिका से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी पुरुष और स्त्री साक्षरता-दर में अधिक अंतर पाया जाता है। वर्ष 1951 में 8.86 प्रतिशत महिलाएँ ही साक्षर थी जो जनगणना 2001 में साक्षरता-दर 54.16 प्रतिशत तक पहुँच गयी, लेकिन पुरुषों की तुलना में यह अभी भी 21.69 प्रतिशत कम है। सुखद पहलू यह है कि साक्षरता में लिंगीय अन्तर 1981 से निरन्तर कम हो रहा है।

वर्ष 1981 में पुरुषों तथा स्त्रियों की साक्षरता-दर के मध्य 26.62 प्रतिशत का अन्तर था जो 4.93 प्रतिशत कम होकर वर्ष 2001 में 21.69 प्रतिशत ही रह गया। वैसे तो पुरुषों व स्त्रियों दोनों की साक्षरता-दर में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है। पुरुषों की साक्षरता-दर 1991 में 64.13 प्रतिशत थी जो कि 2001 में बढ़कर 75.3 प्रतिशत हो गयी। इसकी तुलना में स्त्रियों की साक्षरता-दर ने पहली बार 50 प्रतिशत का अँकड़ा पार किया।

महिला शिक्षा के संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अशिक्षित महिलाओं की संख्या 1991 में 200.07 मिलियन थी जो गिरकर 2001 में 189.6 मिलियन हो गयी, फिर भी यह संख्या काफी अधिक है। यह सब सरकार की सकारात्मक नीतियों का प्रतिफल है जिनके अन्तर्गत लड़कियों के लिए अधिक-से-अधिक विद्यालय खोले गये हैं। इसके अलावा देश में समाज की बदलती विचारधारा व सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारत के विभिन्न प्रमुख राज्यों में साक्षरता-दर का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि अभी भी विकसित राज्यों की तुलना में अविकसित राज्यों की महिलाओं का साक्षरता-दर में काफी असमानताएँ हैं। इसे अग्र तालिका में प्रदर्शित किया गया है:

तालिका सं.-2: भारत के राज्यों में महिला साक्षरता-दर और लिंगीय अन्तर (प्रतिशत में)

(वर्ष 2001)

राज्य/क्षेत्र	कुल	पुरुष	स्त्री	स्त्री-पुरुष अन्तर
केरल	90.92	94.20	87.80	6.34
मिजोरम	88.49	90.69	86.13	4.56
लक्षद्वीप	87.52	93.15	81.56	11.59
गोवा	82.32	88.88	75.29	13.59
दिल्ली	81.82	87.37	75.00	12.37
महाराष्ट्र	77.27	86.27	67.51	18.76
हिमाचल	77.13	86.47	65.41	16.06
तमिलनाडु	73.47	82.33	64.51	17.78
गुजरात	69.47	80.50	58.60	21.90
पंजाब	69.95	75.63	63.55	12.08
प. बंगाल	69.22	77.58	60.22	17.36
हरियाणा	68.59	79.25	56.31	22.94
कर्नाटक	67.04	76.24	57.45	18.84
मध्यप्रदेश	64.11	76.80	50.28	26.52
उड़ीसा	63.61	75.95	50.97	24.98
आंध्रप्रदेश	61.11	70.85	51.17	19.68
उत्तरप्रदेश	57.36	70.23	42.98	27.25
झारखण्ड	54.13	67.94	39.38	28.56
बिहार	47.53	60.32	33.57	26.75
भारत	65.38	75.85	54.15	21.69

स्रोत: सेन्सस ऑफ इंडिया, 2001, प्रोविजनल पॉप्यूलेशन टेबुल, सीरीज-1, रजिस्ट्रार जॅनरल ऐन्ड सेन्सस कमिश्नर, इण्डिया, पृ0-123, 124

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि विकसित राज्यों की तुलना में अविकसित राज्यों में महिला साक्षरता-दर की स्थिति ज्यादा खराब है। आँकड़े यही दर्शाते हैं कि पाँच राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों यथा केरल, मिजोरम, लक्षद्वीप, चण्डीगढ़ और गोवा की स्थिति महिला साक्षरता के मामले में सबसे अच्छी है और उन्हें उच्च स्थान प्राप्त है क्योंकि इनमें 75 से 88 प्रतिशत तक महिलाएँ साक्षर हैं। साक्षरता-दर में लिंगीय अन्तर भी इन पाँच राज्यों में तुलनात्मक रूप से बहुत कम (4.0 प्रतिशत से 14.0 प्रतिशत के मध्य) है, लेकिन इसके विपरीत 11 राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों यथा छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान, अरुणाचलप्रदेश, दादर व नागर हवेली, उत्तरप्रदेश, जम्मू कश्मीर, झारखण्ड और बिहार की स्थिति सर्वाधिक चिन्तनीय है; क्योंकि इनमें महिला साक्षरता भारतीय औसत (54.15 प्रतिशत) से काफी कम है। (हाँलाकि इन सभी राज्यों में पिछले दशक में उल्लेखनीय सुधार हुआ है) यह भी उल्लेखनीय है कि इन सभी राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में लिंगीय अन्तर भी बहुत अधिक (18 प्रतिशत से लेकर 33 प्रतिशत के मध्य) है। लिंगीय अन्तर की दृष्टि से तो बिहार, उत्तरांचल, हरियाणा, कर्नाटक एवं महाराष्ट्र राज्यों की स्थिति काफी खराब है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जाति की साक्षरता-दर 54.69 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति की साक्षरता-दर 47.10 प्रतिशत थी जो कि भारत की कुल साक्षरता-दर 64.84 प्रतिशत से काफी कम है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति की साक्षरता-दर तो और भी

शोचनीय है। कुछ बड़े राज्यों की अनुसूचित जाति की महिलाओं की साक्षरता-दर 21 प्रतिशत है जबकि बिहार में 15.58 प्रतिशत, झारखण्ड में 22.55 प्रतिशत, उत्तरप्रदेश में 30.50 प्रतिशत और राजस्थान में 33.87 प्रतिशत है। बिहार के अनुसूचित जनजाति की महिला साक्षरता-दर तो मात्र 15.54 प्रतिशत ही है।

देश में जहाँ तक विद्यालय छोड़ने की दर का सवाल है तो लड़कों की तरह ही लड़कियों में विद्यालय छोड़ने की दर में काफी कमी हुई है। लेकिन, आज भी लड़कियों में विद्यालय छोड़ने की दर लड़कों से काफी अधिक है। साथ ही तालिका से यह भी स्पष्ट है कि पुरुष तथा महिला दोनों में ही दोनों स्तरों (प्राथमिक तथा मिडिल) पर लड़कों के विद्यालय छोड़ने की दर में कमी करने में लड़कों की तुलना में लड़कियों ने बहुत अच्छी प्रगति की है। इन तथ्यों की पुष्टि के लिए मानव संसाधन विकास विभाग द्वारा जारी आँकड़ों को निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है:

तालिका सं.-3: बालिकाओं में विद्यालय छोड़ने की दर (1980-81 से 1999-2000)

वर्ष	प्राथमिक (1 से 5 तक)				
	मिडिल (6 से 8 तक)				
बालिकाओं	कुल लड़के	बालिकाओं विद्यालय छोड़ने की दर में	लड़केविद्यालय छोड़ने की दर में	स्त्री-पुरुष अन्तर	
				कुल	कुल
1980-81	58.7	62.5	56.2	6.3	72.7
79.4	68.0	11.4			
1990-91	42.6	46.0	40.1	40.1	5.9
65.1	59.0	6.0			
1999-2000	40.3	42.3	38.7	3.6	54.6
58.0	52.0	6.0			
(1980.81 और 79.4-58.0 के बीच गिरावट)	58.7-40.3	62.5-42.3	56.2-38.7	6.2-3.5	72.7-54.6
	68.0-52.0	11.4-6.0			
1999.2000 के	= 18.4	= 20.2	= 17.5	= 2.7	= 18.1
	= 21.4	= 16.0	= 5.4		

स्रोत : शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, कुरुक्षेत्र, 2006 पृ0 - 27

तालिका से स्पष्ट है कि प्राथमिक स्तर पर लड़कों में विद्यालय छोड़ने की दर वर्ष 1980-81 में 56.2 प्रतिशत थी जो वर्ष 1999-2000 में 38.7 प्रतिशत ही

रह गई। इस तरह इस अवधि (1980-81 से 1999-2000) में लड़कों में विद्यालय छोड़ने की दर में 17.5 प्रतिशत की कमी आई। वही दूसरी ओर लड़कियों में विद्यालय छोड़ने की दर 1980-81 में 62.5 प्रतिशत थी जो 1999-2000 में 42.3 प्रतिशत ही रह गई। इस तरह इस अवधि में विद्यालय छोड़ने की दर में 20.2 प्रतिशत की कमी आई। हालांकि लड़कियों में विद्यालय छोड़ने की दर में लड़कों से अधिक कमी आई है। लेकिन, लिंगीय अन्तर आज भी काफी ऊँचा बना हुआ है। वर्ष 1980-81, 1990-99 तथा 1999-2000 में प्राथमिक स्तर पर लड़कियों में विद्यालय छोड़ने की दर लड़कों से क्रमशः 62.5 प्रतिशत, 5.9 प्रतिशत, 3.6 प्रतिशत अधिक थी, लगभग इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिडिल स्तर पर दृपरव्य होती हैं

तालिका से यह भी स्पष्ट होता है कि विद्यालय छोड़ने की दर में कमी आने का आशय यह है कि महिलाओं की विद्यालय में दाखिल रहने की दरों में बढ़ोत्तरी हो रही है। यह बात मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग के आँकड़ों से पुष्ट हो जाती है। प्राथमिक और मिडिल दोनों स्तरों पर बालिकाओं के लिए सकल नामांकन अनुपात, प्राथमिक स्तर के सम्बन्ध में 1980-81 ई० में 64.1 प्रतिशत से बढ़कर 1999-2000 में 85.2 प्रतिशत हो गया।

इस अवधि के दौरान मिडिल स्तर के सम्बन्ध में यह 28.6 प्रतिशत से बढ़कर 49.7 प्रतिशत हो गया। वर्ष 1980-81 और 1999-2000 के बीच लड़कियों द्वारा की गई प्रगति (प्राथमिक

और मिडिल स्तरों पर क्रमशः 8.3 प्रतिशत और 12.9 प्रतिशत) की तुलना में काफी अच्छी थी। लेकिन इसके बावजूद उच्च लिंगीय अन्तर अभी भी बना हुआ है। सन् 1999-2000 में प्राथमिक स्तर पर लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात लड़कों से 18.9 प्रतिशत कम है और मिडिल स्तर पर 17.5 प्रतिशत कम है।

उच्चतर शिक्षा (जिसमें कॉलेज, विश्वविद्यालय, अभियांत्रिकी, चिकित्सा, प्रौद्योगिकी के व्यवसायिक कॉलेज आदि शामिल हैं) के अवलोकन करने के बाद पाया गया है कि नामांकित महिलाओं की संख्या 1990-91 के 1.32 मिलियन से बढ़कर 1999-2000 में 3.03 मिलियन हो गयी; लेकिन देश की विशाल महिला आबादी (सन् 2001 ई० में देश की 102.70 करोड़ की आबादी में महिलाओं की संख्या 48.3 प्रतिशत यानि 495.7 मिलियन थी) के मद्देनजर यह संख्या अत्यन्त कम है। लेकिन सुखद पहलू की बात यह है कि कुल नामांकन में महिलाओं के नामांकन का प्रतिशत काफी उन्नत हुआ है और लिंगीय अन्तर काफी कम हुआ है। 1990-91 में कुल नामांकन में महिलाओं का नामांकन 33.0 प्रतिशत था जो 1999-2000 में 6.8 प्रतिशत से बढ़कर 39.8 प्रतिशत तक पहुँच गया। 1990-91 में कुल नामांकन में महिलाओं का नामांकन पुरुषों के नामांकन से 34.0 प्रतिशत कम था। 1999-2000 में यह अन्तर मात्र 20.4 प्रतिशत रह गया। इस प्रकार तुलनात्मक आँकड़ों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि लगभग सभी शैक्षणिक स्तरों पर बालिकाओं का नामांकन बालकों से कम है।

महिला शिक्षा की समस्याएँ

भारत जैसे विकासशील देश में महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति के विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज भी शिक्षा में उच्च लिंगीय अन्तर बना हुआ है और शिक्षा के मामले में लड़कियाँ, लड़कों से काफी पीछे हैं। हालांकि यह लिंगीय अन्तर पहले से काफी कम हुआ है। शिक्षा में उच्च लैंगिक अन्तर बने रहने के कारण निर्धनता है। देश में काफी परिवार गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रहे हैं। योजना आयोग के अनुसार देश में 26.1 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही है। गरीबी की स्थिति में परिवार शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते। इसके साथ-ही-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक विसंगतियाँ और सामाजिक कुरीतियाँ आदि का बने रहना भी काफी हद तक जिम्मेवार है।

इस कारण भी महिलाएँ शिक्षा व्यवस्था से जुड़ नहीं पाती और जुड़ती भी है तो दो चार जमात के बाद बीच में ही पढ़ाई छोड़ देती हैं। लोगों की परम्परागत व रुढ़िवादी मानसिकता, महिला शिक्षा को गैर जरूरी मानता है। चूँकि भारतीय समाज का स्वरूप ही पितृसत्तात्मक है। लोग लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते हैं; क्योंकि पुरुष प्रधान मानसिकता वाले परिवार में आज भी यह धारणा बनी हुई है कि लड़कियाँ पराया धन होती हैं, इसलिए उनकी शिक्षा पर खर्च करना लाभहीन होगा। लड़कियों पर घरेलू दायित्वों का बोझ, बाल विवाह, अधिक शिक्षित होने पर

अधिक दहेज, शिक्षा के लिए लड़कियों को घर से दूर जाने पर सुरक्षा आदि कई कारण उन्हें पढ़ाने के प्रति अभिभावकों को हतोत्साहित करते हैं। आज भी बहुत से मुस्लिम परिवारों में और कई अंधविश्वासी, रुढ़िवादी हिन्दू परिवारों में लड़कियाँ पर्दा-प्रथा और बंदिशों के रहते पढ़ ही नहीं पाती या शिक्षा के उच्च स्तरों तक पहुँच ही नहीं पाती है। आज भी महिलाओं के विरुद्ध हिंसा आम बात है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण-3 (2005-06) के द्वारा संकलित आँकड़ों के अनुसार भारत में पिछले 12 महीनों में 18.9 प्रतिशत महिलाएँ शारीरिक हिंसा का शिकार हुई हैं।

देश के पिछड़े, अनुसूचित जातियों तथा अल्पसंख्यकों के एक बड़े वर्ग की मानसिकता वर्तमान में भी परम्परावादी है जो कि इन वर्गों में महिला साक्षरता की राह में एक बड़ा अवरोध है। न्यून शैक्षणिक स्तर के कारण ही महिलाएँ स्वयं के स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नहीं हो पाती और इसी कारण उनके कल्याण से सम्बंधित उपलब्ध सुविधाओं का ज्ञान उन्हें नहीं हो पाता। यद्यपि सभी शैक्षिक स्तरों पर लैंगिक असमानता आज भी विद्यमान है परन्तु स्त्रियों की स्वयं की साक्षरता-दर व शैक्षिक स्तर में हुई प्रगति को उत्साहजनक माना जा सकता है। महिला शिक्षा का समुचित विकास न होने का एक मुख्य कारण प्रशासन का अभाव है।

महिलाओं की शिक्षा के विकास में अनेक प्रशासनिक कठिनाइयाँ तथा बाधाएँ अनुभव की जाती हैं। लगभग सभी राज्यों में महिला शिक्षा का प्रशासनिक भार भी पुरुष अधिकारियों पर है। पुरुष

होने के कारण सम्भवतः वे न तो नारियों की विशिष्ट आवश्यकताओं को समझ पाते हैं और न ही नारी शिक्षा में विशेष रुचि लेते हैं। निरीक्षण कार्य भी औपचारिकता के निर्वाह तक सीमित रह जाता है। परिणामतः वे महिला शिक्षा के लिए उपर्युक्त कार्यक्रमों का निर्माण व क्रियान्वयन सफलतापूर्वक करने का प्रयास करेंगी तथा नारी शिक्षा के प्रसार में योगदान कर सकेंगी।

स्वतंत्रता के बाद गठित समितियाँ

स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए सरकार द्वारा कई समितियों का गठन किया गया है, उनमें कुछ प्रमुख समितियों का विवरण इस प्रकार है:

(1) दुर्गाबाई देशमुख समिति, 1958

महिला शिक्षा की समस्याओं तथा समाधान करने के उपायों पर विचार विमर्श करने के लिए सन् 1958 में भारत सरकार ने दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति का गठन किया। इस समिति का प्रमुख कार्य नारी शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करके उनके समाधान हेतु सुझाव देना था। इस समिति के सुझाव को स्वीकारते हुए केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने सन् 1965 में राष्ट्रीय महिला शिक्षा परिषद् का गठन किया। इस परिषद् का प्रमुख कार्य लड़कियों व महिलाओं की शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं के निवारण हेतु तथा महिला शिक्षा के प्रसार एवं उसमें सुधार हेतु नीतियों, कार्यक्रमों की प्राथमिकता से सम्बन्धित सुझाव देना है।

(2) हंसा मेहता समिति, 1962

सन् 1962 में राष्ट्रीय महिला शिक्षा परिषद् ने विद्यालय स्तर पर बालिकाओं के पाठ्यक्रम में अन्तर होने अथवा नहीं होने की महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करने हेतु श्री मति हंसा मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति ने विचार-विमर्श के उपरान्त सुझाव दिया कि विद्यालय स्तर पर बालक तथा बालिकाओं के पाठ्यक्रम में अन्तर नहीं होना चाहिए। अतः शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्तिगत क्षमताओं, रूझानों तथा रूचियों से होना चाहिए न कि यौन भेद से। समिति ने यह भी कहा कि कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए जो लड़के तथा लड़कियों के बीच विद्यमान वर्तमान अन्तर को बढ़ाए।

(3) कोठारी आयोग, 1964

सन् 1964 में दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग, जिसने अपना प्रतिवेदन 1966 में दिया था, ने भी महिला शिक्षा की समस्या पर विचार किया तथा अपने सुझाव प्रस्तुत किये। कोठारी आयोग ने मानव संसाधनों के विकास, परिवारों की उन्नति तथा बालाकों के चरित्र-निर्माण में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की शिक्षा को अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया तथा नारी शिक्षा के लगभग सभी पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किये, जिनमें से कुछ प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं— (क) लड़कियों की अनिवार्य शिक्षा हेतु अधिकाधिक प्रयास किये जायें, (ख) लड़कियों की उच्च शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय, (ग) लड़कियों के लिए अल्पकालिक शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय, (घ) नारी शिक्षा के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए ठोस

कदम उठाये जायें, (ड) नारी शिक्षा के संचालन के लिए केन्द्र तथा राज्य स्तर पर प्रशासनिक तंत्र का गठन किया जाय, (च) विवाहित महिलाओं के लिए अंशकालिक अथवा अतिरिक्त शिक्षा तथा अविवाहित नारियों के लिए पूर्ण कालिक शिक्षा की व्यवस्था की जाये।

(4) राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986

सन् 1986 में घोषित नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में नारियों की शिक्षा में व्यापक परिवर्तन लाने की संकल्पना की गई है। शिक्षा को नारियों के स्तर में मूलभूत परिवर्तन लाने के साधन के रूप में प्रयोग करने को कहा गया है। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में महिला शिक्षा से सम्बन्धित निम्न बातें सम्मिलित की गई हैं— पुनर्रचित पाठ्यक्रमों व पाठ्यपुस्तकों, अध्यापकों, नीति निर्धारकों व प्रशासकों के प्रशिक्षण व पुनश्चर्या कार्यक्रमों तथा शिक्षण संस्थाओं की सक्रिय सहभागिता के द्वारा नये मूल्यांकन के विकास को बढ़ावा दिया जायेगा, शिक्षण संस्थानों को महिला विकास के कार्यक्रमों को संचालित करने के लिए प्रोत्साहित किया जायेगा, विभिन्न स्तरों की व्यावसायिक, तकनीकी तथा कृत्रिम शिक्षा में नारियों की भागीदारी पर विशेष बल दिया जायेगा, यौन विभेद न करने की नीति को बढ़ावा दिया जायेगा।

महिला शिक्षा का कानूनी पक्ष

संविधान की धारा 45 में प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के उद्देश्य से निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा को राज्य का एक “नीति निर्देशक” सिद्धान्त घोषित किया गया है। महिलाओं को संवैधानिक अधिकार तो प्राप्त है पर उनके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों

को दूर कर उसे व्यवहारिक रूप में लागू किया जाय। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित 93वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 भी पारित किया गया। संविधान के अनुच्छेद 46 में शिक्षा की दृष्टि से अति पिछड़े हुए समाज के कमजोर वर्गों हेतु सरकार द्वारा शिक्षा की विशेष व्यवस्था करने का प्रावधान भी रखा गया है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 28 के द्वारा देश भर में संचालित सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रतिबंधित की गई। अनुच्छेद 15 (3 व 4) में महिलाओं, बच्चों तथा सामाजिक व शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों पर किसी भी प्रकार की रोक न होने की व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुच्छेद 246 में केन्द्र व राज्य सरकारों में शैक्षिक उत्तरदायित्वों तथा अधिकार क्षेत्रों का भी स्पष्ट विभाजन किया गया है। वर्ष 1976 तक शिक्षा संविधान की राज्य सूची में सम्मिलित थी, परन्तु 1976 में संविधान में किये गये 42वें संशोधन के मुताबिक शिक्षा को समवर्ती सूची में स्थानांतरित कर दिया गया। संविधान (93वाँ संशोधन) अधिनियम 2005 के माध्यम से अनुच्छेद 15(5) को जोड़कर कमजोर वर्गों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्ग के शैक्षिक उत्पादन के लिए शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया गया। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि महिलाओं की अशिक्षा ही शिक्षा की लोक व्यापीकरण में सबसे बड़ी बाधा है।

सरकारी प्रयास

स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद से ही सरकार ने महिला शिक्षा की समस्या को दूर करने के लिए विशेष प्रयास

किये गये हैं। उनमें कुछ महत्वपूर्ण प्रयासों की चर्चा इस प्रकार की जा रही है:

I. पंचवर्षीय योजनाएँ

स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से शिक्षा के विकास हेतु प्रयास किये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) में शिक्षा व अनुसंधान कार्य पर 153 करोड़ रुपये व्यय किये गये, उस समय महिला साक्षरता-दर कम थी। इस योजना में बुनियादी शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा व प्राविधिक शिक्षा के साथ ही संस्थाओं की मान्यता व आधार शिक्षा रखी गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1957-61) में तकनीकी शिक्षण संस्थाओं के विकास पर अधिक बल दिया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66) में शिक्षा व अनुसंधान कार्य के लिए 589 करोड़ रुपये की धन राशि व्यय किया गया जो कि इस योजना व्यय की कुल 7.7 प्रतिशत थी, फिर भी महिला शिक्षा की दशा में कोई सुधार नहीं पाया गया। इस काल में साक्षरता का जो प्रतिशत 28.30 था जिसमें स्त्री साक्षरता 15.35 प्रतिशत रहा। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) में महिलाओं के माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में विज्ञान व व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था व प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को संचालित किया गया, इस योजना काल में 786 करोड़ रुपये व्यय किए गए। पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) में शिक्षा के समान अवसरों का विकास कर आत्मनिर्भर समाज की स्थापना के लक्ष्य को स्वीकार किया गया शिक्षा पर इस काल में 3200 करोड़ रुपये व्यय किए गए। छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में प्रौढ़ शिक्षा की महत्वाकांक्षी योजना प्रारम्भ

की गई जिसमें 15 से 35 वर्ष के निरक्षरों को राष्ट्रीय साक्षरता कार्यक्रम से जोड़ने का प्रयास किए गए। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में औपचारिक, अनौपचारिक, प्रौढ़ शिक्षा के नवीन आविष्कारों पर विशेष ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में एकरूपता स्थापित करने के लिए 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति लागू की गई जिसके अंतर्गत महिला शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिए यह नीति अपनायी गयी। साथ ही तकनीकी व व्यावसायिक क्षेत्रों में महिलाओं की सहभागिता बढ़ाने पर विशेष बल दिया गया। आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति का अनुसरण करते हुए स्त्री शिक्षा को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया गया।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) में महिला सशक्तिकरण नौ मुख्य उद्देश्यों में से एक बन गया और मौजूदा सेवाओं और महिला विशिष्ट एवं महिला से सम्बन्धित क्षेत्रों में शिक्षा, आय संरचना तथा मानवीय शक्ति को सांकेतिक करने का प्रयास किया गया। महाविद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया गया जिसमें शिक्षा पर खर्च 37487 करोड़ रुपये व्यय किये गये। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) में अन्य बातों के साथ अनुवेक्षण योग्य लक्ष्य निर्धारित किया गया जिसमें 4 प्रत्यक्ष रूप से महिलाओं एवं बच्चों से सम्बन्धित हैं तथा 5 प्रत्यक्ष रूप से महिलाओं से सम्बद्ध है। इस योजना में ही विशेष प्रावधान बच्चे 2003 तक प्रवेश पायें एवं 2007 तक सभी स्कूली शिक्षा पूर्ण करें और साक्षरता-दर में 75 प्रतिशत की वृद्धि करना था।

II. शैक्षणिक विकास हेतु कार्यक्रम

देश में शिक्षा की समस्या को दूर करने हेतु सरकार द्वारा विभिन्न कार्यक्रम चलाये गये हैं। उनमें कुछ प्रमुख कार्यक्रमों का विवरण इस प्रकार है:

(1) सर्व शिक्षा अभियान, 2001

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही शिक्षा के क्षेत्र में तीव्र विकास हेतु अनेक प्रयास किए जाते रहे हैं; लेकिन इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही इन प्रयासों की गति और भी तीव्र करने की कोशिशों की गई हैं। इन प्रयासों में देश में वर्ष 2010 तक सभी 14 वर्ष तक के बच्चों को आठवें स्तर तक की शिक्षा पूर्ण करना सुनिश्चित करने हेतु सर्वशिक्षा अभियान के नाम से एक वृहद कार्यक्रम प्रारंभ किया गया है। इसके अतिरिक्त शिक्षा गारंटी योजना व वैकल्पिक एवं अभिनव शिक्षा कार्यक्रम, राष्ट्रीय बालिका शिक्षा कार्यक्रम, गहन क्षेत्रीय और मदरसा आधुनिकीकरण कार्यक्रम संशोधित पाठ्यक्रम फ्रेमवर्क सूचना प्रौद्योगिकी योजना जैसे नए-नए कार्यक्रमों के संचालन के साथ-साथ 86वाँ संविधान संशोधन बिल पास किया गया है। हाल ही में “एडूसैट” नाम से एक शैक्षिक उपग्रह का प्रक्षेपण भी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त गरीबों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा विधेयक, शिक्षा का राष्ट्रीय आयोग, राष्ट्रीय शिक्षा विकास बैंक जैसे नए-नए कदम उठाना भी प्रस्तावित किए गए हैं। इनमें से देश भर में माह नवंबर 2001 से लागू किए गए सर्वशिक्षा अभियान का उद्देश्य वर्ष 2007 तक 6-14 आयुवर्ग के सभी बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा के 5 वर्ष तथा 2010 तक सभी बच्चों के लिए 8 वर्ष सुनिश्चित करना है। यह

कार्यक्रम राज्यों के साथ भागीदारी करके कार्यान्वित किया जा रहा है। जिसके लिए केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच साझेदारी नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) में 85:15, दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) तथा इसके बाद 50:50 के अनुपात में निर्धारित की गई है। इसे 11 लाख बस्तियों के 192 मिलियन बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लक्ष्य रखे गए हैं। इस कार्यक्रम में 8.5 लाख मौजूदा प्राथमिक विद्यालय तथा 33 लाख मौजूदा शिक्षक शामिल किए गए हैं। सर्वशिक्षा अभियान शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक संचालित किसी भी कार्यक्रम की तुलना में सबसे बड़ा और व्यापक कार्यक्रम है और इसको सफल बनाने के लिए हर स्तर से प्रयास किए जा रहे हैं। इस अभियान की सफलता इस बात पर निर्भर है कि हमारी शिक्षा प्रणाली हमारी शैक्षिक आवश्यकताओं को किस हद तक इसमें समाहित कर पाती है। इसके लिए सभी स्तरों पर शैक्षिक प्रशासन की कार्यप्रणाली में अधिकाधिक खुलापन, लचीलापन, उत्तरदायित्व और पारदर्शिता लाने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है।

6 से 14 आयुवर्ग के ऐसे बच्चों के लिए जो किन्हीं कारणों से औपचारिक शिक्षा से बाहर हो रहे हैं, के लिए अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के नाम से वर्ष 1979-80 में संचालित की गई। अनौपचारिक शिक्षा योजना के स्थान पर उसे व्यवहारिक स्वरूप देते हुए शिक्षा गारंटी योजना तथा वैकल्पिक एवं अभिनव शिक्षा के नाम से इस नए कार्यक्रम को 1 अप्रैल, 2001 से देश भर में संचालित किया गया है। यह संशोधित योजना देश के ऐसे भागों में

चलाई जा रही है जहाँ एक किलोमीटर के दायरे में कोई औपचारिक विद्यालय उपलब्ध नहीं है। इस योजना के खर्चों का केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा 75-25 के अनुपात में वहन किया जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा को मौलिक अधिकारों में सम्मिलित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश पर केन्द्र सरकार द्वारा 86वें संविधान संशोधन, 2002 पास कर दिया गया है। इस संशोधन के माध्यम से संविधान के अनुच्छेद 45 में भी एक अनुच्छेद जोड़ा गया है जो इस प्रकार है— 'राज्य को सभी बच्चों को तब तक के लिए शुरुआती देखभाल और शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए प्रयास करना होगा तब तक वह छह वर्ष की आयु का नहीं हो जाता है।' इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 51-ए में संशोधन करके 'जे' के बाद नया अनुच्छेद 'के' जोड़ा गया है। इसमें 6 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु के बच्चे के माता-पिता या अभिभावक अथवा संरक्षक को अपने बच्चे को शिक्षा दिलाने के लिए अवसर उपलब्ध कराने का प्रावधान रखा गया है, अब इस संविधान संशोधन को लागू करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा एक व्यापक कानून का मसौदा तैयार कर लिया गया है जिसे शीघ्र पास कराए जाने के प्रयास किए जा रहे हैं ताकि इसको समुचित रूप से क्रियान्वित करने का मार्ग प्रशस्त हो सके।

(2) राष्ट्रीय बालिका शिक्षा कार्यक्रम, (2004)

भारत सरकार द्वारा प्रायोजित किये गये इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य अतिरिक्त उपक्रमों के माध्यम से प्रारंभिक स्तर पर बालिकाओं की शिक्षा को अतिरिक्त सहायता उपलब्ध कराना है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत बस्ती स्तर पर

बालिकाओं के अनुकूल विद्यालय के रूप में मॉडल विद्यालय का निर्माण करना, लेखन सामग्री, अभ्यास पुस्तिकाओं और वर्दी, जैसी- अतिरिक्त सामग्रियों को मुहैया कराना और प्रतिवर्ष प्रति बालिका 150 रुपये की विद्यमान अधिकतम सीमा के अंतर्गत अन्य किसी स्थानीय तौर पर महसूस की जाने वाली आवश्यकताओं को पूरा करना, विद्यालयों तथा शिक्षकों को पुरस्कार, छात्राओं का मूल्यांकन, उनकी अध्ययन सम्बन्धी समस्याओं को हल करने सम्बन्धी शिक्षण, वैकल्पिक विद्यालयों के साथ मिलकर पाठ्यक्रमों को पूरा करना, मुक्त विद्यालयों के माध्यम से पढ़ाई कराना, शिक्षक प्रशिक्षण और प्रतिवर्ष 60,000 रुपये की अधिकतम सीमा के अंतर्गत बस्ती स्तर पर बालिका देखभाल केन्द्रों, जैसे- अतिरिक्त प्रोत्साहन उपलब्ध कराना, 5 वर्ष की अवधि के लिए प्रति बस्ती 95,000 रुपये की अधिकतम सीमा के अधीन सामुदायिक स्तर से अनुश्रवण आदि की व्यवस्था हेतु अतिरिक्त सहायता उपलब्ध कराना तथा आवश्यक प्रशिक्षण तथा प्रबंधन सहायता प्रदान करने जैसे प्रयोजनों के साथ इस विशिष्ट कार्यक्रम को प्रारंभ किया गया है।

(3) कन्या साक्षरता प्रोत्साहन योजना

अनुसूचित जाति की ऐसी लड़कियाँ जो कक्षा 6, 9 एवं 11 में प्रवेश ले रही हैं, उन्हें सरकार प्रोत्साहन के रूप में क्रमशः 500 रुपये, 1000 रुपये एवं 2000 रुपये प्रति वर्ष उपलब्ध कराती है।

(4) महिला शिक्षा हेतु सघन पाठ्यक्रम

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा कार्यान्वित इस योजना का उद्देश्य उन

महिलाओं को शिक्षित करना है जो विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक कारणों की वजह से अपनी औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रही है। यह योजना उन्हें शिक्षा के साथ-साथ रोजगार के अवसर भी प्रदान करेगी। इस कार्यक्रम के तहत स्वैच्छिक संगठनों को प्राथमिक/माध्यमिक और उच्च स्कूली स्तर की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम संचालित करने हेतु अनुदान प्रदान करने की भी व्यवस्था है और इस हेतु बजट में उपयुक्त मात्रा में प्रावधान किया जा सकता है।

(5) कामकाजी महिलाओं हेतु छात्रावास सुविधा

इसके तहत न केवल कामकाजी महिलाओं को बल्कि रोजगार हेतु प्रशिक्षणरत तथा स्कूल पश्चात व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का अध्ययन कर रही बालिका विद्यार्थियों हेतु सुरक्षित एवं वहनीय आवास व्यवस्था को सुनिश्चित करना है। यह योजना समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत गैर-सरकारी संगठनों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों तथा अन्य एजेंसियों और महिला विकास निगमों, स्थानीय निकायों, विश्वविद्यालयों आदि के माध्यम से संचालित है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

मानव समाज में महिला एवं पुरुष दोनों गाड़ी के दो पहिये के समान हैं। दोनों को विकास हेतु अधिकाधिक क्षेत्रों में लगभग समान रूप से अवसर भी प्राप्त हैं, पर हमारी सामाजिक व्यवस्था व परम्पराओं ने जन्म से ही लड़का व लड़की में भेद किया है। इसी कारण से लड़के-लड़कियों के पालन-पोषण, रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा व चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं को उपलब्ध कराने में अधिकाधिक विभेद पाया जाता है।

लड़के को जहाँ कुल दीपक, पारिवारिक समृद्धि, यश एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक समझा जाता है वहीं लड़की पराई सम्पत्ति व दहेज आदि कारणों से बोझ व अभिशाप समझी जाती है। इसका मुख्य कारण महिलाओं में शिक्षा व साक्षरता का अभाव है। देश की आजादी के 61 वर्षों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी महिला शिक्षा की दशा-दिशा में कोई विशेष रूप से परिवर्तन नजर नहीं आता है। इस कारण से भारतीय सामाजिक स्वरूप व चेतना में जो अपेक्षित परिवर्तन होना चाहिए, वह नहीं हो पाया है। मानवीय संसाधन का पूर्ण विकास, बच्चों के चरित्र निर्माण व देश के चहुमुखी विकास के लिए महिला शिक्षा, पुरुषों की शिक्षा से अधिक उपयोगी है। इसी आधार पर महिला शिक्षा को विकास का आधार स्तम्भ माना गया है। अतः महिला शिक्षा के अधिकाधिक अवसरों का सृजन एक अनिवार्य कदम माना गया है; क्योंकि सुसंस्कृत एवं पूर्ण समाज की रचना शिक्षित महिलाओं से ही संभव है। वास्तव में महिला शिक्षा व साक्षरता के प्रति समर्पण बोध और निश्चल प्रयासों की सख्त जरूरत है। अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि उत्तर भारत के राज्यों यथा बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है; क्योंकि इन राज्यों में दक्षिण भारत के राज्यों की तुलना में साक्षरता-दर निम्न है। महिलाओं में निम्न शिक्षा की समस्याओं का प्रमुख कारण सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक है। आने वाले समय में उक्त सुझावों से महिला शिक्षा व साक्षरता के क्षेत्र में प्रगति का सिलसिला मात्रात्मक व गुणात्मक स्वरूप में उत्तरोत्तर निखरेगा तथा महिला साक्षरता व शिक्षा को सही

दिशा मिलेगी। अतः महिला शिक्षा की समस्या को दूर करने हेतु व्यवहारिक सुझाव निम्नलिखित है: (1) ग्रामीण क्षेत्रों के सरकारी विद्यालयों में बुनियादी सुविधाओं तथा शैक्षिक उपकरणों का होना आवश्यक है जिससे लड़कियों में शिक्षा के प्रति रुझान हो। (2) महिला शिक्षा के लिए स्कूलों की घर से भौगोलिक दूरी को कम किया जाय तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक गाँव, टोलों, भागलों में नवीन स्कूल खोले जाएँ जिससे लड़कियों को अपने निवास स्थान के निकट ही शिक्षा प्राप्त हो सके। (3) जनता में चेतना एवं जागरूकता का प्रसार करने के लिए स्थानीय समाज सुधारकों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं की प्रभावशाली भूमिका हो सकती है इसलिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। पिछड़े तथा कमजोर वर्गों में बालिका शिक्षा के प्रति उत्साह जगाने के लिए आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए ठोस पहल करनी चाहिए। (4) विद्यालयों में योग्य शिक्षकों की नियुक्ति कर शिक्षण कार्य को प्रभावी बनाया जाना चाहिए। शिक्षकों से शिक्षण कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य न लिया जाय और उन्हें निरन्तर प्रशिक्षित किया जाना भी आवश्यक है। महिलाओं को शैक्षिक रूप से और अधिक सुदृढ़ करना होगा, साक्षरता-दर व विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर उनकी स्थिति को निरन्तर उन्नत करना होगा, शिक्षा में लैंगिक असमानता को समाप्त करने हेतु प्रयासरत होना होगा तथा प्राथमिक शिक्षा पर और अधिक ध्यान देना होगा। (5) दूर शिक्षा की व्यवस्था करने से विविध शैक्षिक पृष्ठभूमि वाले तथा विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बिखरे विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या में उनकी आवश्यकता एवं सुविधा

के अनुरूप ज्ञान, कौशल एवं अभिवृत्ति प्रदान करने की विधाएं शामिल करना आवश्यक है। (6) दूरस्थ शिक्षा में उच्च कोटि की अधिगम सामग्री के निर्माण, उत्पादन तथा प्रेषण में तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी माध्यमों का समुचित रूप से व्यापक प्रयोग करके महिलाओं को घर बैठे शिक्षित किया जा सकता है। (7) महिला शिक्षा के प्रसार के लिए गाँव-गाँव में महिला समितियों का गठन करके उन्हें बालिकाओं की शिक्षा सुनिश्चित करने का दायित्व सौंपा जाय तो इससे भी महिला साक्षरता के अभियान को कुछ गति प्रदान हो सकती है।

संदर्भ-सूची

1. बौद्ध, कमल प्रसाद, नारी शिक्षा के विविध आयाम, बुद्ध मिशन ऑफ इंडिया, पटना 2008, पृ० - 32, 33
2. गुप्ता, सरोज कुमार, भारतीय नारी: कल आज और कल, प्रकाशन संस्थान 2007, नई दिल्ली
3. नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे-3(2005-06), इंटरनेशनल इंस्टीच्यूट फॉर पॉप्यूलेशन साइन्सेज, मुम्बई, 2007, पृ०- 498
4. ओझा, ए० एन० भारत की सामाजिक समस्याएँ, क्रॉनिकल पब्लिशिंग प्रा० लि०, नई दिल्ली, 2007 पृ०- 415, 418
5. मालवीय, राजीव, शिक्षा दर्शन एवं समाजशास्त्रीय प्लठभूमि, 2006, पृ०- 195
6. कुरूक्षेत्र, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2006, पृ०- 27
7. स्कूल अटेन्डेन्स ऐन्ड प्राइमरी ग्रेड कॉम्पलेशन, 2001
8. दोषी, एस.एल. ऐन्ड पी.सी. जैन- भारतीय समाज, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2003, पृ०- 377
9. सेन्सस ऑफ इण्डिया, 1991 ऐन्ड 2001, प्रोविजनल पॉप्यूलेशन टोटल्स, पेपर-1, रजिस्ट्रार जनरल ऐन्ड सेन्सस कमिश्नर, इण्डिया, पृ०-114

शोधछात्र, समाजशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

भारत में बाल-श्रमिकों की वर्तमान स्थिति, एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

विकाश वर्मा

सारांश :

बाल श्रम भारत और पूरे विश्व में एक बड़ी समस्या है। भारत में गरीब परिवारों के बहुत से बच्चे गरीबी के कारण काम के लिए भेजे जाते हैं जिसके कारण वह शिक्षा से वंचित रहते हैं। इस प्रकार उन्हें गरीबी से निकल पाने का कोई मौका नहीं मिल पाता जिसमें वे जन्म लते हैं।

भारत में 6 से 14 वर्ष तक के कुल बच्चों की संख्या लगभग 19 करोड़ है जो कुल आबादी का करीब 20 प्रतिशत है। इनमें से 3 करोड़ से भी अधिक बच्चे अभी भी विद्यालयों से बाहर हैं। इनमें से लगभग 2 करोड़ बच्चे बाल श्रमिक हैं। ये बच्चे घरों में नौकर के रूप में कार्य करने के साथ-साथ चाय की दुकानों, स्कूटर एवं कारों की मरम्मत, ढाबों, भवन निर्माण एवं कुलीगिरी आदि के कार्यों में लगे हैं। कालीन उद्योग, बीड़ी तथा पत्तल उद्योग, दियासलाई और आतिशबाजी उद्योगों के साथ-साथ जरी की कढ़ाई आदि जोखिमपूर्ण उद्योगों में लगे हैं।

अधिकांश कार्यरत बच्चे ग्रामीण क्षेत्रों में हैं उनमें से लगभग 60 प्रतिशत दस वर्ष से कम आयु के हैं। बाल श्रम के लिए कई कारक जिम्मेदार हैं जिसमें मुख्य रूप से- बेरोजगारी, गरीबी, जागरूकता का अभाव, कम मजदूरी दर निम्न जीवन स्तर आदि हैं।

परिचय :

समाज चाहे जैसा भी हो उसे कुछ न कुछ ज्वलन्त समस्याओं का सामना करना पड़ता है। विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा विकासशील राष्ट्रों की समस्याएँ भी अनेक जटिलताओं को अपने में समेटे हुए हैं। इन्हीं जटिलतम समस्याओं की श्रृंखला की कड़ी में 'बाल श्रम की समस्या' भी जुड़ी हुई है।

किसी भी राष्ट्र की उन्नति का आकलन उस राष्ट्र में रहने वाले बालकों में अन्तर्निहित होता है। बालक राष्ट्र के स्वरूप के प्रतीक ही नहीं बल्कि उस राष्ट्र की सम्पदा हैं, ताकत हैं जिनपर राष्ट्र की आधारशिला सुरक्षित रहती है। किसी भी देश का बाल समाज जितना ही अनुशासित, क्रियाशील, स्वस्थ, शिक्षित और प्रशिक्षण युक्त होगा उस देश का भविष्य उतना ही उज्ज्वल और उन्नतिशील होगा। यदि देश का यह समाज इन गुणों से विमुक्त है तो आने वाला कल उस राष्ट्र को पतनोन्मुख करने वाला समय सिद्ध होगा।

निश्चय ही बाल-समाज किसी भी राष्ट्र की अत्यन्त बहुमूल्य धरोहर है और यह सम्पदा समाज के भविष्य को निर्धारित करती है। इतना ही नहीं बाल-समाज राष्ट्र की उन चुनौतियों का समुचित रूप से निराकरण करने में सहयोग देता है जिससे राष्ट्र या समाज समय-समय पर सामना करने के लिए बाध्य होते हैं। अतः बाल समस्या के समाधान की प्रक्रिया को कोई भी राष्ट्र या समाज नजरअन्दाज नहीं कर सकता। उनके समुचित विकास में ही राष्ट्र या समाज का विकास निहित है।

बाल श्रम का अर्थ :

बाल श्रमिक शब्दिक रूप में दो शब्दों को मिलाकर बना है। प्रथम 'बाल' और द्वितीय 'श्रम'। 'बाल' का अर्थ बालक की वास्तविकता अवस्था और 'श्रम' का अर्थ श्रम की स्थिति, कार्यभार तथा सामर्थ्य है। निश्चय ही 'बालश्रम' को कोई सर्वमान्य परिभाषा की परिधि में रखना कठिन है। भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। सिल्वा ने 'बाल श्रमिक' को परिभाषित करते हुए उस अवस्था (आयु) को माना है जिसके तहत बालक को उसके मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक विकास के लिए संरक्षण आवश्यक है जबतक

कि वह स्वतंत्र रूप से व्यस्क के समरूप न हो जाय।' होमर फोकर जो संयुक्त राज्य राष्ट्रीय बाल-श्रमिक समिति के अध्यक्ष हैं ने बाल-श्रमिक को इस प्रकार परिभाषित किया है - 'बच्चों द्वारा किया गया कोई कार्य जो उनके कम से कम शिक्षा या मनोरंजन की आवश्यकता में विध्न डालती है।'

इस तरह बाल-श्रम शब्द का बोध उस बाल जनसंख्या द्वारा किया गया श्रम है जिससे उन्हें अर्थ प्राप्त होता है अथवा अर्थ विमुक्त समाज के रूप में बालकों का उपयोग होता है। बाल श्रम से बालाकें के कार्यरत होने की उस अवस्था का बोध होता है जिसके अन्तर्गत उन्हें अर्थलाभ का अवसर मिलता है अथवा उनके द्वारा किये गये श्रम से उनके अपने परिवार को अर्थ का लाभ मिलता है।

बाल श्रम का उद्भव :

बाल श्रम का उद्भव तब हुआ, जब पूँजीवादी वर्ग द्वारा मुनाफा बढ़ाने के उद्देश्य से बच्चों का सामाजिक व अमानवीय शोषण किया गया। जहाँ अमेरिका में पूँजीवादी व्यवस्था की मजबूती हेतु दास प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ, वहीं पूँजीवादी देशों में बाल श्रमिकों के उपयोग का आँकड़ा निरन्तर बढ़ता गया।

बाल-श्रम समस्या का स्वरूप:

हमारे देश में बाल श्रम समस्या एक आम रिवाज के रूप में प्रचलित रही है। बालश्रम का उपयोग पारिवारिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में जैसे-जानवरों को चराने अथवा कृषि से सम्बन्धित कार्यों में किया जाता रहा है। विकास

की गति के साथ ही साथ आठवीं शताब्दी के पश्चात् और चौदहवीं शताब्दी के पूर्व इनके उपयोग के नये द्वार इतिहास के पन्नों में खुले मिलते हैं।

प्राचीन इतिहास के साथ ही वर्तमान में जब हमारा राष्ट्र कई दृष्टियों से विकसित हो चुका है बालश्रम का उपयोग कृषि तथा अन्य क्षेत्रों के अलावा अन्य उद्योग धन्धों से युक्त कल-कारखानों में हो रहा है। संख्या की दृष्टि से भारत में जितने बाल-मजदूर हैं उतने समूचे विश्व में किसी देश में नहीं है, फिर भी भारत में कुल बाल-मजदूर यहाँ की पूरी आबादी के मात्र 5.2 प्रतिशत है जबकि तुर्की में यह प्रतिशत 27.3, थाईलैण्ड में 20.9, बांग्लादेश में 19.5, ब्राजील में 18.8, पाकिस्तान में 16.6, इण्डोनेशिया में 12.4, अर्जेन्टाइना में 6.6 है। एकमात्र पड़ोसी देश श्रीलंका में यह प्रतिशत भारत से कम है अर्थात् वहाँ मात्र 4.9 प्रतिशत बाल मजदूर हैं। भारत में कार्य करने वाले बच्चों की संख्या 1.65 करोड़ से 1.75 करोड़ के बीच आंकी गयी है और लगभग 40 लाख बाल-श्रमिक असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत हैं।

अनुमानतः इस शताब्दी के अन्त तक बाल श्रमिकों की संख्या भारत में 10 करोड़ हो जायेगी। 1981 की जनगणना के अनुसार बाल श्रमिकों की संख्या जो कि 1971 में 100.74 लाख थी उससे बढ़कर 1.45 करोड़ हो गयी। भारतीय रेडकास सोसायटी, नयी दिल्ली के डॉ॰ एन॰ के शारदा द्वारा प्रस्तुत पत्र में दर्शाया गया है कि मार्च 1983 तक बाल श्रमिकों की संख्या बढ़कर 170.65 लाख हो चुकी है। लगभग 13 हजार प्रतिवर्ष के हिसाब से बाल-श्रमिकों

की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। यदि इन आँकड़ों को आधार माना जाय तो मार्च 1990 तक इस संख्या में 1 करोड़ बाल श्रमिकों की वृद्धि और हो जायेगी।

योजना आयोग के आकलन के अनुसार सन् 2000 में देश में लगभग 20.25 मिलियन बाल श्रमिक विभिन्न उद्योग धन्धों में श्रमिक के रूप में कार्यरत हैं जो कि 2009 तक काफी बढ़ने की संभावना है।

बाल श्रमिक को बढ़ावा देने वाले कारक :

भारत में बाल श्रमिक को बढ़ावा देने वाले कई कारक हैं लेकिन मुख्य कारक अशिक्षा, उपेक्षात्मक स्वरूप, कम मजदूरी या अल्प आय, बेरोजगारी, निम्न जीवन स्तर आदि हैं जो बाल श्रम के पनपने के मूल कारणों में सम्मिलित हैं।

अध्ययन का उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्ययन "भारत में बाल श्रमिकों की वर्तमान स्थिति : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण" को चुनने का निम्न उद्देश्य है :-

- 1) बाल श्रमिकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का अध्ययन।
- 2) बाल श्रमिकों की पारिवारिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण।
- 3) बाल श्रमिकों की आवासीय स्थिति का विश्लेषण।
- 4) बाल श्रमिकों का उनके कार्य के प्रति लगाव, सेवा एवं उनके कारणों का विवेचन।
- 5) बाल श्रमिकों के सुधार में सरकार की भूमिका।

उपकल्पना :

किसी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है, किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन सफलतापूर्वक तब तक सम्भव नहीं है जब तक अध्ययन से सम्बन्धित विषय का अनुभव एवं आरंभिक ज्ञान न हो। फलतः अध्ययन विषय को दिशा व वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए अध्ययन से सम्बन्धित निम्नलिखित उपकल्पनाओं का निर्माण किया गया है-

- 1) बालश्रम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहितकर है।
- 2) बालश्रम में शोषण होता है।
- 3) बालश्रम से सामाजिक स्थायित्व में कमी आ रही है।
- 4) बालश्रम आर्थिक अपराध का कारण भी बन जाता है।
- 5) बालश्रम परम्परागत रूप से चला आ रहा है।
- 6) बालश्रम कमजोर आर्थिक वर्ग से सम्बद्ध है।

अध्ययन पद्धति :

प्रस्तुत अध्ययन में द्वितीयक स्रोत के तहत पुस्तकालय में उपलब्ध अध्ययन विषय से सम्बन्धित विभिन्न पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं का उपयोग किया गया है। महत्वपूर्ण तथ्यों को सारणीबद्ध भी किया गया है।

विश्लेषण :

भारत में बाल श्रमिकों की स्थिति भयावह है। यहाँ 5 से 14 वर्ष तक के बच्चे जो बाल श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं, जो विद्यालय जाते हैं तथा जो कहीं नहीं जाते उन्हें निम्न तालिका से देखा जा सकता है।

भारत में 5 से 14 वर्ष के बच्चों की वास्तविक स्थिति (1951-1991) (संख्या करोड़ में)

जनगणना वर्ष	कामकाजी बच्चे		विद्यालय जाने वाले बच्चे		कहीं नहीं जाने वाले बच्चे	
	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%
1951	1.338	15.5	2.352	27.2	4.971	57.4
1961	1.446	12.7	3.459	30.4	6.491	57.0
1971	1.075	7.1	5.069	33.6	8.933	59.2
1981	1.119'	6.1	7.886	43.3	8.954	49.2
1991	1.266'	5.9	11.623	54.4	7.440	34.8

नोट : ' इसके अतिरिक्त उस वर्ष सीमांत बाल मजदूर 24.25 लाख (1.3%) पाये गये।

'इसके अतिरिक्त उस वर्ष सीमांत बाल मजदूर 1.044 करोड़ (4.9) पाये गये।

वस्तुतः बाल-श्रमिकों की समस्या एक केन्द्रीय समस्या है। समूचे भारत में शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों को मिलाकर तथा सभी स्त्रियों-पुरुषों का आकलन करने पर बाल श्रमिकों की स्थिति और भी भयावह हो जाती है जो निम्न सारिणी से प्रदर्शित होती है -

भारत के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बालक तथा बालिका (5-14 वर्ष) श्रमिक

जनगणना वर्ष	ग्रामीण क्षेत्र (संख्या करोड़ में)				शहरी क्षेत्र (संख्या करोड़ में)			
	कुल बालक संख्या	श्रमिक प्रतिशत	कुल बालिका संख्या	श्रमिक प्रतिशत	कुल बालक संख्या	श्रमिक प्रतिशत	कुल बालिका संख्या	श्रमिक प्रतिशत
1961	0.8124	16.6	0.5546	12.3	0.0565	5.4	0.0232	2.4
1971	0.7284	11.4	0.2693	4.6	0.0607	4.1	0.167	1.2
1981	0.6698	9.1	0.3505	5.1	0.0739	3.6	0.0252	1.3
1991	0.7396	9.6	0.3999	5.0	0.928	3.1	0.0337	1.3

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 1961-91 के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में कुल नर बच्चों में बालक श्रमिक की संख्या में कमी की प्रवृत्ति रही है। ग्रामीण क्षेत्र में कुल नर बच्चों में बालक श्रमिक का प्रतिशत हिस्सा 1961-81 के दौरान 16.6 प्रतिशत से घटकर 9.1 प्रतिशत हो गया किन्तु 1991 में यह प्रतिशत हिस्सा थोड़ा सा बढ़कर 9.6 प्रतिशत हो गया। ग्रामीण क्षेत्र में कुल बच्चियों में बालिका श्रमिकों की संख्या तथा प्रतिशत हिस्सा 1961-71 के दौरान कम हुआ किन्तु 1971-81 में बालिका श्रमिकों की संख्या तथा प्रतिशत हिस्सा में वृद्धि हो गई। पुनः 1981-91 के दौरान ग्रामीण क्षेत्र में बालिका श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई किन्तु प्रतिशत

हिस्सा थोड़ा सा घट कर 5.1 प्रतिशत से 5 प्रतिशत हो गया। शहरी क्षेत्र में बाल श्रमिकों की संख्या 1961-91 के दौरान बढ़ती गई किन्तु कुल शहरी बालकों में प्रतिशत हिस्सा 5.4 प्रतिशत से घटकर 3.1 प्रतिशत हो गया। शहरी क्षेत्र में 1961-71 के दौरान बालिका श्रमिकों की संख्या तथा कुल शहरी बच्चियों में उनका प्रतिशत हिस्सा कम हुआ- 2.4 प्रतिशत से 1.2 प्रतिशत किन्तु 1971-81 के दौरान उनकी संख्या तथा प्रतिशत में वृद्धि हुई। फिर 1981-91 के दौरान उनकी संख्या में वृद्धि हुई किन्तु प्रतिशत हिस्सा वही रहा।

भारत में राज्यवार बाल-श्रमिकों की संख्या से भी बाल श्रमिकों की वर्तमान स्थिति का पता चलता है। निम्न तालिका में भारत के प्रमुख राज्यों में बाल श्रमिकों में प्रतिशत वृद्धि को देखा जा सकता है।

भारत के प्रमुख राज्यों में बाल श्रमिकों में प्रतिशत वृद्धि

राज्य	बालक श्रमिक	बालिका श्रमिक
आन्ध्र प्रदेश	-3.30	29.02
बिहार	-21.44	-0.76
गुजरात	-11.18	-2.85
हरियाणा	-9.30	99.71
कर्नाटक	5.47	54.24
केरल	-41.12	-32.56
मध्य प्रदेश	9.69	52.81
महाराष्ट्र	13.43	49.05
उड़ीसा	-8.40	84.58
पंजाब	-24.21	132.62
राजस्थान	-10.05	31.78
तमिलनाडु	-0.12	69.88
उत्तर प्रदेश	-2.31	-22.68
पश्चिम बंगाल	-4.88	57.68
सम्पूर्ण भारत	-3.51	32.23

स्रोत : एनालिसिस ऑफ वर्कफोर्स इन इंडिया, ओकेजनल पेपर नं.-8, 1986, रजिस्ट्रार जनरल भारत एवं जनगणना आयुक्त, भारत सरकार, गृह मंत्रालय, नई दिल्ली।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि सबसे ज्यादा वृद्धि पंजाब (132.6 प्रतिशत), हरियाणा (99.7 प्रतिशत), उड़ीसा (84.6 प्रतिशत), तमिलनाडु (69.9 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (57.7 प्रतिशत), कर्नाटक (54 प्रतिशत), मध्य प्रदेश (52 प्रतिशत), महाराष्ट्र (49 प्रतिशत), राजस्थान (31.8 प्रतिशत) और आन्ध्र प्रदेश (29 प्रतिशत) में हुई। इस प्रकार विकसित और पिछड़े दोनों तरह के क्षेत्रों में बालिका श्रमिक बढ़ी हैं।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न खतरनाक व्यवसायों में बच्चे कार्य कर रहे हैं जो उनके स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है तथा उस माहौल में कार्य करके बच्चे समय से पहले मृत्यु के गाल में समा जाता है। इसे निम्न तालिका से देखा जा सकता है।

व्यवसाय/प्रक्रिया	बाल श्रमिकों की संख्या
1. माचिस उद्योग	45,000
2. दरी-कालीन बुनाई	4,50,000
3. कालीन उद्योग	1,00,000
4. जरी उद्योग	3,00,000
5. बीड़ी उद्योग	3,27,000
6. काँच उद्योग	50,000
7. पीतल बर्तन उद्योग	45,000
8. ताला उद्योग	10,000
9. चीनी मिट्टी बर्तन उद्योग	45,000
10. रेशम उद्योग	4,409
11. वस्त्र उद्योग	1,100
12. चाकू निर्माण	3,000
13. रेशम बुनाई	10,000
14. काँच की खान	28,000
15. पटाखा उद्योग	13,000

स्रोत : नीरा बुरो, 'बार्न ई वर्ड' (1997) राष्ट्रीय श्रम संस्थान गाजियाबाद (उ०प्र०) इंडियन एक्सप्रेस दिनांक 25.10.1996

बाल श्रमिक अपराध को भी बढ़ावा देता है। निर्धनता के कारण बहुत सारे बच्चे सड़कों पर अपना जीवन गुजारते हैं और विभिन्न प्रकार के अपराध यथा-छिनतई, वेश्यावृत्ति, सेंधमारी, चोरी, हत्या आदि करने लगते हैं जो समाज के लिए कलंक है। इसे तालिका के माध्यम से भी देखा जा सकता है-

बाल-अपराध की गणना

अपराध	7 से 12 वर्ष		12 से 16 वर्ष	
	बालक	बालिका	बालक	बालिका
1. हत्या	21	6	258	29
1. बलात्कार	12	01	148	03
3. स्त्रियों/ बच्चियों का अपराध	03	01	38	03
4. अन्य का अपहरण	11	0	40	03
5. रॉबरी	01	0	65	02
6. सेंधमारी	297	11	1262	22
7. चोरी	522	42	2025	93
8. डकैती	08	0	33	0
9. धोखाधड़ी	01	0	25	02

स्त्रोत : क्राइम इन इण्डिया (1994), पृ०-199

बालश्रम पर आयोग एवं अधिनियम :

भारत में बालश्रम उन्मूलन के लिए कई आयोग गठित किए गए -

- (क) रॉयल कमीशन ऑफ लेबर
- (ख) श्रमज जाँच समिति
- (ग) राष्ट्रीय श्रम आयोग
- (घ) बालश्रम पर गुरुपद स्वामी आयोग तथा
- (ङ) बाल श्रम पर शांता मेहता समिति आदि।

वस्तुतः हमारे देश में बाल-श्रमिकों की सुरक्षा के प्रावधान बहुत पहले से हैं। सन् 1881 में फैक्ट्री अधिनियम बना, जिसमें फैक्ट्री में काम करने के लिए न्यूनतम उम्र निर्धारित की गई। सन् 1886 में श्रम अधिनियम पारित किया गया।

फैक्ट्री अधिनियम, भारतीय खान अधिनियम, भारतीय बंदरगाह संशोधन अधिनियम, मोटर वाहन श्रमिक अधिनियम, बीड़ी और सिगरेट मजदूर स्थित एवं रोजगार अधिनियम जैसे अन्य प्रावधान भी किए गए।

बाल उन्मूलन के लिए संवैधानिक और सरकारी प्रयास :

बच्चों को बाल श्रम से बचाने के लिए हमारे संविधान में अनेक प्रावधान किये गये हैं। हमारे संविधान का अनुच्छेद 15, राज्यों की महिलाओं और बच्चों की, सुरक्षा के लिए विशिष्ट प्रावधान करने की शक्ति देता है।

अनुच्छेद 24 में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों एवं अन्य जोखिम पूर्ण कार्य में नियोजन का प्रतिरोध किया गया है। अनु० 39 (ई० एफ०) में आर्थिक आवश्यकताओं की वजह से किसी व्यक्ति से उसकी क्षमताओं से परे काम करवाने का प्रतिरोध किया गया है तथा शैशवों तथा बालकों को शोषण से संरक्षित करने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अनु० 45 में बालकों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का निर्देश राज्य सरकारों को दिया गया है। इन संवैधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण विधान हैं जो बच्चों को विभिन्न व्यवसायों से कानूनी सुरक्षा देते हैं। फैक्ट्री एक्ट 1948 किसी भी फैक्ट्री में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को रोजगार के बारे में निषेधात्मक व्यवस्थायें निर्देशित करता है। खान एक्ट 1952 खानों में काम करने के लिए न्यूनतम आयु 15 वर्ष निर्धारित करता है। बागान श्रम एक्ट 1951, 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों को चाय, कॉफी और रबर के बागानों में रोजगार निषेधित करता है। बाल श्रमिक अधिनियम 1986 बच्चों के कुछ व्यवसायों में प्रवेश पर रोक लगता है और कुछ अन्य व्यवसाय प्रकारों की दशाओं का नियमितीकरण करता है।

1987 की राष्ट्रीय बाल श्रम नीति के अन्तर्गत बाल श्रमिकों को शोषण से बचाने और उनकी शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन तथा सामान्य विकास पर जोर देने की व्यवस्था की गयी है। बाल मजदूरी उन्मूलन प्राधिकरण की स्थापना सरकार द्वारा उठाए गए कदमों में एक सार्थक कदम कहा जा सकता है। यह प्राधिकरण बाल मजदूरी, विशेष रूप से जोखिम वाले

व्यवसायों में कार्यरत बाल मजदूरी प्रथा मिटाने हेतु नीतियों एवं कार्यक्रमों का आयोजन करेगा।

निष्कर्ष एवं सुझाव :

बाल श्रमिकों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि श्रम समस्या युगों से चली आ रही है। विभिन्न कारणों के अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त निर्धनता, अपर्याप्तता, जनाधिक्य, बेरोजगारी एवं जागरूकता का अभाव इत्यादि के कारण ही अल्प व्यस्क बालकों को श्रमिक के रूप में कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वैसे विभिन्न संवैधानिक प्रावधान और सरकारी एवं गैर सरकारी उपाय बाल श्रम उन्मूलन के लिए किए गए हैं लेकिन फिर भी यह समस्या समाज में बनी हुई है।

वस्तुतः इसके लिए जिस संकल्प शक्ति की आवश्यकता है उसकी कमी अभी तक हमारे प्रयासों में बनी हुई है। सरकारी कानूनों द्वारा उन बच्चों को सुरक्षा नहीं प्रदान की जा सकती जो बढ़ती हुई ग्रामीण दरिद्रता और शहरी क्षेत्रों में जीवन संघर्ष के कारण कमाई करने के लिए बाध्य हैं। बाल मजदूरी रोकने के लिए अधिक समर्पित और संगठित प्रयास करने होंगे। इसके लिए समयबद्ध लक्ष्य निर्धारित करना होगा। बाल श्रम उन्मूलन सम्बन्धी कानूनों की निगरानी करने वाली निगरानी समितियों और कार्यान्वयन तंत्र को अधिक प्रभावी और अधिकार सम्पन्न बनाना होगा। इसके अतिरिक्त बाल श्रम उन्मूलन के लिए अनेक सुझाव हैं जिसको अपनाने से बाल श्रम की समस्या से मुक्ति मिल सकती है वे निम्न हैं :-

1. आवासीय शिविर - 9 से 14

वर्ष के बाल श्रमिकों के लिए आवासीय शिविर लगाया जाए। इन शिविर में बच्चों के सर्वांगीण विकास पर जोर डाला जाए। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, खेलकूद, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि शामिल किया जाए।

2. व्यावसायिक प्रशिक्षण - शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा देना भी बड़ा व्यावहारिक उपाय है। इससे बच्चे कई गुण सीखकर बाद में उसे अपनी जीविका का साधन बना सकेंगे।
3. विभिन्न सरकारी विभागों का सहयोग - बाल मजदूरी जैसी सामाजिक बुराई को समाज से समाप्त करने के लिए सरकार के विभिन्न विभागों को मिलकर काम करना होगा।
4. लोगों की भागीदारी - बच्चों की सभी परियोजनाओं में स्थानीय लोगों का सहयोग लिया जाना चाहिए।
5. प्रोत्साहन - किसी भी कार्यक्रम को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए प्रोत्साहन भी बहुत जरूरी है। बच्चों के साथ काम करने वाले लोगों को बच्चों में दिलचस्पी लेनी चाहिए। बच्चों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिससे वह बाल श्रम छोड़कर पढ़ाई या अन्य व्यावसायिक शिक्षा को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो।

इन सभी उपायों को अपनाने से बाल श्रम का उन्मूलन हो सकेगा।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. कपाडिया, कामिनी आर० एवं उषा नायडू - 'चाइल्ड लेबर एण्ड हेल्थ : प्रॉब्लम्स एण्ड प्रोस्पेक्ट्स, टाटा इंस्टीच्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई (1985)
2. अवस्थी, दिलीप- 'ग्लास इण्डस्ट्री : कटिंग कार्नेस : इंडिया टुडे, 31 दिसम्बर, 1986
3. अनिल अवाचत - 'द वार्म एण्ड द वेफ्ट-1' इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली खण्ड-गण्ड सं० 34, 20 अगस्त 1988
4. बेकेले ए० एवं जे० बायडेन (सं०) - 'कम्बेटिंग चाइल्ड लेबर' (1988) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, जेनेवा।
5. यूनिसेफ - 'चिल्ड्रेन एण्ड वीमेन इन इण्डिया - 1990' (1991), नयी दिल्ली।
6. घोषणा ए० - 'स्ट्रीट चिल्ड्रेन ऑफ कलकत्ता : ए सिचुएशन एनालिसिस (1992)
7. आमोद कण्ट एवं आर० एन० वर्मा - 'नेगलेक्टेड चाइल्ड (1993)' : प्रयास, नयी दिल्ली।
8. यूनिसेफ - 'एक बच्चा होने का अधिकार' (1994)
9. 'क्राइम इन इंडिया' नेशनल क्राइम रिकार्ड्स ब्यूरो (1994) एवं (1991), गृह मन्त्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली।
10. कुलश्रेष्ठ, डी० के० एवं एस० के० शर्मा - चाइल्ड लेबर इन मुगदाबाद मेटलवेयर इण्डस्ट्री, द इकोनॉमिक टाइम्स, 1994
11. मिश्रा, जी०पी० एवं पी०एन० पाण्डेय - 'झणलाई ऑफ चालल्ड लेबर : एन इन्वेस्टीगेशन (लेख) लेबर एण्ड डेवलपमेंट, खण्ड-1, सं०-1, जुलाई-दिसम्बर, 1995
12. मीरा बुरो - 'वॉर्न टू वर्क' : चाइल्ड लेबर इन इण्डिया (1997) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

यू०जी०सी० (नेट)

रिसर्च स्कॉलर

समाजशास्त्र विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना।

बालश्रम एक सामाजिक समस्या : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

मो० इरशाद अली

किसी भी राष्ट्र के लिए बालश्रम की कुप्रथा किसी नासूर से कम नहीं है। यह हमारी विडंबना है कि हम विश्व में अधिकतम बालश्रमिकों की संख्या वाले कुछ देशों में से एक हैं। हमारे देश के अलावा पड़ोसी देश नेपाल से प्रतिवर्ष बच्चे “ट्रैफिकिंग” के घृणित अपराध के द्वारा भारत में लाए जाते हैं और बालश्रम की आग में झोंक दिया करते हैं इसके अलावा इनकी तस्करी भी की जाती है।

दरअसल बालश्रम एक प्रथा या रोजगार का साधन मात्र नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक-आर्थिक समस्या है, जिसकी जड़ें हमारी व्यवस्था में गहरी पैठ बना चुकी हैं। वास्तविक रूप में देखा जाए तो बालश्रम का बड़ा कारण गरीबी, बढ़ती आबादी, अशिक्षा, सामाजिक-विषमता, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम की शिथिलता तथा सस्ता बालश्रम का होना मुख्य कारण है। ऐसा माना जाता है कि पूरी विश्व में लगभग छः (6) से चौदह (14) वर्ष के पचीस करोड़ बच्चे खतरनाक और गैर-खतरनाक उद्योग एवं व्यवसाय में बंधुआ मजदूर के रूप में काम कर रहे हैं। लिहाजा वे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आजाद बचपन से वंचित हैं।

वैसे तो विश्व स्तर पर बालश्रम उन्मूलन एवं पुनर्वास के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, यूनेस्को, यूनीसेफ, आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ प्रयासरत हैं। फिर भी बालश्रम की समस्या का समाधान अभी भी विश्व के सामने चुनौती बना हुआ है। इसके अलावा बच्चों के शोषण को रोकने वाले अनेक कानून पहले से ही उपस्थित हैं। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि बालश्रमिक एक हकीकत समस्या के रूप में है। जहाँ तक उद्योगपतियों ओर नियोक्ताओं का

संबंध है तो इनका विचार है कि बच्चों को काम पर रखना कोई शर्म की बात नहीं है। ये कहते हैं कि उन्हें तो हम लोग घरेलू नौकर के रूप में रखते हैं और अच्छी प्रकार से देखभाल करते हैं और विशेष अवसरों पर अतिरिक्त पैसा और उपहार भी देते हैं।

किसी भी समाज में बालश्रम की समस्या का होना उसके विकास के मार्ग में बहुत बड़ा बाधक होता है, क्योंकि किसी भी समाज में बालकों के जीवन में विकास होगा तो समाज का विकास होगा, क्योंकि यही बालक कल के समाज के भविष्य हैं और इन्हीं के हाथों में समाज के विकास की डोरी है। यदि इनको सही अवसर दिया जाए तो इसमें कोई दो राय नहीं है कि यह समाज को प्रगति की ओर ले जाने में सक्षम न हो। इनके विकास पर पूर्णरूप से बल देना चाहिए और जहाँ तक हो सके इनके विकास में रुकावट को दूर करने का पूर्णतः प्रयास करना चाहिए। प्रत्येक बालक समाज के लिए प्रगति का चूका है, जो जितना ठीक चलेगा उतना ज्यादा समाज विकसित होगा।

भारत में बालश्रम की स्थिति : -

भारत देश में लगभग 2.50 करोड़ बाल-बालिकाएँ खतरनाक उद्योगों में कार्यरत हैं। केन्द्र ने गुरुपदस्वामी समिति को बनाया, जिसकी अनुशंसा के आधार पर बालश्रमिक (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 को लागू किया गया। इस अधिनियम की धारा-3, भाग-ए के अनुसार, 15 खतरनाक पेशों तथा 57 प्रक्रियाओं पर बालश्रम को प्रतिबंधित कर दिया गया। इस धारा का उल्लंघन करनेवाले नियोजकों को धारा 14 के द्वारा एक साल की सजा और अधिकतम 20 हजार रुपये जुर्माना का प्रावधान किया गया है। केन्द्र सरकार के द्वारा 10, अक्टूबर, 2006 को उक्त अधिनियम में संशोधन कर घरेलू कामगारों या नौकर ढाबा, रेस्टोरेंट, होटल, मोटर दुकान, चाय दुकानों, रिसोर्ट्स एवं अन्य मनोरंजन केन्द्रों में बालश्रम नियोजन को प्रतिबंधित कर दिया गया है। वैसे देखा जाए तो भारत में बालश्रम सदा से ही नीति-निर्माताओं के लिए चिंता का विषय रहा है। इस प्रथा पर अंकुश लगाने के लिए देश में निम्नलिखित कानून लागू किए गए हैं। जैसे:-

- चाइल्ड (प्लेजिंग ऑफ लेबर) अधिनियम, 1933।
- चाइल्ड लेबर-प्रोहिबिशन एण्ड रेग्यूलेशन अधिनियम, 1986।

- एम्प्लायमेंट ऑफ चिल्ड्रेन अधिनियम, 1938।
- द इंडियन फैक्ट्रीज अधिनियम, 1948।
- प्लांटेशंस लेबर अधिनियम, 1951।
- द माइंस अधिनियम, 1952।
- मर्चेन्ट शिपिंग अधिनियम, 1958।
- स्टेट शॉप एण्ड एस्बलिशमेंट्स अधिनियम।
- बीड़ी एवं सिगार वर्कर्स (कंडिशन ऑफ एम्प्लॉयमेंट) अधिनियम, 1966।

इसके अलावा वर्ष 1986 ई० में राष्ट्रीय बालश्रम नीति के अस्तित्व में आने से भारत में बालश्रम उन्मूलन के प्रयासों को एक नयी दिशा मिली। इस नीति का उद्देश्य खतरनाक व्यवसायों/उद्योगों में कार्यरत बालश्रमिकों का योजनाबद्ध तरीके से पुर्नवास करना है। इसके अलावा इनके जीवन के विकास में जितने भी बाधक हैं उनको दूर करना परम लक्ष्य के रूप में रखा गया है। इस प्रकार यह पता चलता है कि भारत में बालश्रम की समस्या एक गंभीर समस्या के रूप में उभर कर सामने आ रही है, जिसे दूर करना अति आवश्यक है। यदि इसका समाधान नहीं किया गया तो पता नहीं देश का क्या होगा। इसलिए इस ओर ध्यान देना अति आवश्यक है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य : -

भारत देश में वर्तमान समय में देश की कुल आबादी का 15.42 प्रतिशत बच्चे हैं और अन्य देशों की ही तरह भारत में भी बालश्रम की समस्या अत्यन्त ही गंभीर होती जा रही है। यूनेस्को ने भारत को उन देशों में शामिल कर दिया

है जो सबको शिक्षा देने का लक्ष्य पूरा नहीं कर पाए हैं। यूनेस्को ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि “सबके लिए शिक्षा” के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बाल मजदूरी है। बालश्रम करनेवाले अधिकांश बच्चे ग्रामीण क्षेत्रों के हैं और उनमें भी लगभग 60 प्रतिशत 10 वर्ष से कम आयु के हैं। व्यापार एवं व्यवसाय क्षेत्र में 23 प्रतिशत तथा घरेलू कार्यों में 37 प्रतिशत बालश्रमिक कार्यरत हैं। जहाँ तक शहरी क्षेत्रों का सवाल है वहाँ उन बच्चों की संख्या अधिक है, जो कैटीन, रेस्टोरेंट और फेरी लगाने में संलग्न हैं। कुछ बच्चे तो खतरनाक उद्योगों में कार्यरत हैं। जैसे - तमिलनाडु के कुछ जिलों में पटाखा और माचिस के कारखानों में लगभग 50,000 बच्चें कार्यरत हैं। उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद के काँच के कारखानों में लगभग 46,000 बच्चे कार्यरत हैं और कालीनों के कारखानों में 1,00,000 बच्चे काम रहे हैं। इसी प्रकार बनारस में 5,000 बच्चे रेशम बुनने के कार्य में तथा दिल्ली में 60,000 से अधिक बच्चे ढाबों या चाय की दुकान पर कार्य कर रहे हैं।

इसी प्रकार मिर्जापुर में काम करनेवाले बच्चे भागने की कोशिश में पीटे जाते हैं और इन्हें वर्षों वेतन भी नसीब नहीं होता है। 1986 ई० में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन द्वारा कराये गए थे जिसके अनुसार भारत में बालश्रमिकों की संख्या 1 करोड़ 73 लाख है। जबकि वहीं वर्ष 2001 की जनगणना के आँकड़ों के मुताबिक यह संख्या 1 करोड़ 25 लाख है। राष्ट्रीय श्रम संस्थान के ताजा आँकड़ों के अनुसार वर्तमान समय में 6 से 14 वर्ष तक के कुल बच्चों की संख्या 22 करोड़ है, जो कुल आबादी की 22 प्रतिशत है। भारत में 2 करोड़ 26 लाख

बच्चे पूर्णकालिक श्रमिक के रूप में तथा 1 करोड़ 85 लाख बच्चे अंशकालिक श्रमिक के रूप में कार्यरत हैं। इन सभी आँकड़ों से एक बात साफ स्पष्ट होता है कि बालश्रम की समस्या का संकेन्द्रण कुछ राज्यों और उद्योग विशेष तक ही सीमित है। यह एक चिंताजनक स्थिति है, जिसपर समय रहते विचार करना अनिवार्य है। यदि इन पर विचार नहीं किया गया तो आनेवाले समय में बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसलिए इस ओर हमें विशेष रूप से ध्यान देना होगा ताकि समय से पहले इस समस्या का समाधान किया जा सके और बालश्रम की समस्या को दूर किया जा सके।

बिहार और बालश्रमिक की स्थिति : -

यदि गौर से देखा जाए तो आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के बाद बिहार ऐसा चौथा राज्य है जहाँ बालश्रमिक 11 लाख से अधिक है। राज्य सरकार ने इसके लिए न्यूनतम मजदूरी 89 रुपये निर्धारित की है। लेकिन बाल मजदूरों को 20-25 रुपये मुश्किल से प्राप्त होते हैं। इसलिए राज्य सरकार ने “बिहार राज्य बालश्रमिक आयोग, अधिनियम, 1996” बनाया था। परन्तु 1999 ई० में प्रथम बार इसका गठन किया गया। बिहार देश का पहला राज्य है, जहाँ बालश्रमिक आयोग अधिनियम को गठित किया गया था। फिर भी देखा जाए तो बिहार में बालश्रम की समस्या में लगातार वृद्धि हो रही है। यहाँ प्रत्येक स्थानों पर बाल श्रमिकों को काम करते हुए देखा जा सकता है। चाहे वह चाय की दुकान हो या ढाबा हो सभी स्थानों पर बाल श्रमिकों का शोषण किया जा रहा है। इनका शोषण आर्थिक, मानसिक

और शारीरिक सभी रूपों में किया जा रहा है और इसमें लगातार वृद्धि हो रही है।

बालश्रम के कारण

वैसे देखा जाए तो बाल श्रम के एक कारण नहीं हैं बल्कि इसके पीछे कई कारण हैं जो बालश्रम को बढ़ावा देते हैं, इनमें निम्नलिखित हैं। जैसे : -

- निर्धनता।
- अशिक्षा एवं अज्ञानता।
- वृहत् परिवार।
- परिवार में किसी कमानेवाले व्यक्ति का न होना,
- परिवार का नकारात्मक रवैया एवं दुर्व्यवहार।
- शैक्षणिक विफलता।
- श्रम कानूनों का सही तरीके से काम न करना।
- अनिवार्य शिक्षा का न होना।
- सरकार का निष्क्रिय होना।
- गाँवों-मोहल्लों में सामन्तों, जमींदारों, ठेकेदारों तथा मालिकों द्वारा उत्पीड़न एवं सामाजिक वंचना, आदि।

ये ऐसे मुख्य कारण हैं, जिनसे बालश्रम को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिल रहा है। ये सभी ऐसे कारण हैं जिसके कारणस्वरूप बालश्रम की जड़ें मजबूत हो रही हैं। यदि इसकी उपस्थिति इसी प्रकार से रही तो ऐसा नहीं लगता है कि समाज का स्वरूप बालश्रम से मुक्त हो पाएगा, क्योंकि ये ऐसे कारण हैं जिसकी समाप्ति करना काफी कठिन कार्य है। इस बारे में भारत के राष्ट्रपिता मोहनदास करमचन्द्र गाँधी ने स्पष्ट कहा था कि “यदि इन समस्याओं को दूर नहीं किया गया तो इसमें कोई दो राय नहीं है कि कुशल समाज की कल्पना करना कोरा सपना है जो व्यर्थ है।”

संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधान

1. संविधान का अनुच्छेद 24 : - इसके अंतर्गत 14 वर्ष की आयु से कम बच्चे को किसी भी कारखाना, खान या अन्य खतरनाक व्यवसाय में लगाने पर प्रतिबंध।
2. संविधान का अनुच्छेद 39 (≥):- सरकार द्वारा अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करना कि सुनिश्चित रूप से बालकों की सुकुमार व्यवस्था का दुरुपयोग न हो।
3. संविधान का अनुच्छेद 39 (π):- सरकार द्वारा यह सुनिश्चित करना कि बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ उपलब्ध हों।
4. संविधान का अनुच्छेद 45 : - 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को सरकार द्वारा निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था सुनिश्चित किया जाना।
5. संविधान का अनुच्छेद 21 (δ):- संविधान के 86वें संशोधन, 2002 के माध्यम से बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है।
6. भारतीय दण्ड संहिता धारा 82:- 7 वर्ष या इससे कम आयु के बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है।
7. दण्ड प्रक्रिया संहिता धारा 125:- संतान और साथ में बच्चे, चाहे वे वैध अथवा अवैध संतान हो, भरण- पोषण के भत्ते के हकदार होंगे।

8. संरक्षण एवं परिपाल्य अधिनियम:- न्यायालय की संस्तुति पर अव्यस्क के हित को ध्यान में रखते हुए उसकी या उसकी संपत्ति 1890 या दोनों के बारे में संरक्षक नियुक्त करने की व्यवस्था।
9. कारखाना अधिनियम, 1948 :- बच्चों को अस्वस्थ कर परिस्थितियों में श्रम पर लगाना प्रतिबंध लगाना।
10. शिशु अधिनियम, 1961 : - बच्चों को श्रम साध्य या खतरनाक कार्यों में सेवायोजन पर प्रतिबंध। (यथा संशोधित, 1978)
11. किशोर न्याय अधिनियम, 1986:- बच्चों के हित के लिए तथा उपेक्षित एवं अपचारी बच्चों को देखभाल, विकास तथा पुनर्वास के यथा संशोधित, 2000 साथ-साथ समुचित न्याय व्यवस्था सुनिश्चित करने हेतु प्राथमिक कानून।
12. राष्ट्रीय बाल आयोग (प्रस्तावित):- बच्चों के विकास और उनसे संबंधित समस्याओं के सभी पहलुओं का अध्ययन और समस्याओं के निराकरण के लिए आवश्यक कदम उठाना आदि महत्वपूर्ण अधिनियम है, जिसके द्वारा बालश्रम की समस्याओं को दूर किया जा सकता है।

बालश्रम की समस्या से निजात के उपाय : -

जैसा कि हम सभी लोग जानते हैं

कि वर्तमान समय में बालश्रम संबंधी समस्या एक वैश्विक समस्या के रूप में विशेषकर पिछड़े देशों में उभरकर सामने आ रही है। बालश्रम की समस्या से निजात पाने के लिए सर्वसाधारण को खुले मन से प्रयत्न करना होगा और पूँजीपतियों पर कठोर रूप से अंकुश लगाना होगा तथा सरकार को अपने द्वारा बनाए गए कानूनों का सख्ती से पालन करना होगा। बालश्रम के कारणों में गरीबी, शिक्षा, बेरोजगारी और कम मजदूरी दर आदि प्रमुख हैं। इसलिए विभिन्न विभागों के सहयोग से कार्यक्रमों का सीधा लक्ष्य पीड़ित बच्चों को दिलाने का प्रयास करना चाहिए। जिससे उन परिवारों को वैकल्पिक आय का स्रोत मिल सके जो इन बाल मजदूरों की कमाई पर निर्भर होते हैं। ऐसे गरीब परिवारों की स्वास्थ्य, पोषाहार, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से सस्ते कपड़े, मिट्टी का तेल, आदि अन्य आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध करायी जाए, जिससे इन परिवारों में मृत्यु दर और जन्मदर कम हो तथा इनकी औसत आयु बढ़े।

इसके आलावा बाल श्रमिकों को इस समस्या से मुक्त कराने के लिए उनके पुनर्वास की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके साथ-साथ पारंपरिक व्यवसायों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। व्यवसाय में लगे छोटे सदस्यों को प्रशिक्षण एवं स्थानीय ग्रामीण बैंकों से ऋण दिलवाकर उनकी स्थिति मजबूत करना चाहिए। बालश्रमिकों को शिक्षा का लाभ भी देना चाहिए। हमारी वर्तमान शिक्षा की अच्छी व्यवस्था हो। यदि गरीब बच्चे किसी प्रकार से पढ़-लिख भी गए तो उन्हें नौकरी नहीं मिलती है। इसलिए रोजगारपरक शिक्षा ही बालश्रम की

समस्या पर अंकुश लगा सकती है और समाज के विशेष मार्गों से इसे जोड़ सकती है। क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा विशेष साधन है, जिसके द्वारा इनके जीवन में विशेष रूप से परिवर्तन लाया जा सकता है। शिक्षा की उपयोगिता के बारे में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा था कि “शिक्षा के द्वारा जीवन के अंधकार को दूर किया जा सकता है।”

बालश्रम उन्मूलन के लिए 10वीं योजना में राष्ट्रीय बालश्रम परियोजना के अंतर्गत कवर किए गए, जिलों की संख्या 100 से बढ़कर 250 कर दी गई है। इसके अलावा दोपहर का भोजन कार्यक्रम से मिलनेवाली खाद्य सुरक्षा के द्वारा बाल श्रमिकों की संख्या को कम करने पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इसके साथ ही सबको शिक्षा मुहैया कराने के उद्देश्य से शुरू किए गए सर्व शिक्षा अभियान से भी बच्चों के बीच साक्षरता को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा भारत सरकार और अमेरिकी श्रम विभाग ने देश के 21 जिलों में बालश्रमिकों के पुनर्वास के लिए इंडस (इंडो-यूएस) नाम की एक संयुक्त परियोजना आरंभ की है। इसका लक्ष्य एकीकृत रूप से परियोजनागत क्षेत्र में जोखिमभरी उद्योगों में लगे बालश्रम का पूर्ण रूप से उन्मूलन करना लक्ष्य रखा गया है।

इस योजना से 80,000 बच्चे लाभान्वित हो रहे हैं। बालश्रम (संरक्षण एवं नियमन) अधिनियम, 1986 के अन्तर्गत खतरनाक समझे जानेवाले 64 देशों में 14 से कम उम्र के बच्चों को काम कराने पर विशेष रूप से रोक लगा दिया है। अब यह दायरा घर और होटलों तक भी बढ़ा दिया गया है और

सभी स्थानों पर बालश्रमिकों को मुक्त कराने के लिए लगातार प्रयास किया जा रहा है। परन्तु एक बात तो पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि केवल सरकार के कदम उठाने से नहीं होगा बल्कि इस ओर हम सभी लोगों को बढ़-चढ़ कर भाग लेना होगा तथा इसे दूर करने के लिए मिल-जुलकर काम करना होगा और इसे पूर्ण रूप से दूर भगाने का प्रयत्न करना होगा तभी एक अच्छे समाज का विकास होगा और अपना भी देश बालश्रम के अभिशाप से मुक्त होगा।

इस प्रकार यदि हमलोग मिलकर काम करेंगे तो आशा है कि बालश्रम की समस्या से निजात पा लेंगे और इसे पूर्ण रूप से समाप्त कर देंगे। वैसे वर्तमान समाज में लोगों में जागरूकता आयी है और इस ओर लगातार सुधार भी हो रहा है। कुछ हद तक इसमें सुधार भी देखने को मिल रहा है। इसके लिए सरकार और गैर-सरकारी संगठन बढ़-चढ़कर कर इसे दूर करने तथा समाप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों तथा योजनाओं को चला रहे हैं और इसके प्रति लोगों में जागरूकता जगाने तथा रुचि लेने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं।

संदर्भ समूह : -

1. भारत में कल्याण प्रशासन : डॉ॰डी॰आर॰ सचदेव - किताब महल।
2. सोशल प्रॉब्लम्स इन इंडिया: राम आहूजा - रावत पब्लिकेशन्स।
3. ह्यूमन राईट्स इन कंस्टीट्यूशनल लॉ, 1994: डी॰डी॰बसु।
4. कुरुक्षेत्र : नवम्बर, 2007।
5. योजना : मई, 2008।
6. सहारा न्यूजपेपर : जून, 2008।

शोधार्थी,
पटना विश्वविद्यालय,
पटना - 800 005

महिला सशक्तिकरण एवं पंचायतीराज: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण बिहार के सन्दर्भ में

कुन्दन कुमार सुमन एवं डॉ० गिरीश गौरव

सशक्तिकरण की अवधारणा को महिलाओं के संदर्भ में एक विशेष अर्थ में प्रयोग 20वीं सदी के 8वें दशक के मध्य में मिलती है। क्योंकि लगभग एक दशक पूर्व महिलाओं का संसार प्रसिद्ध आंदोलन 'विमेन लिब' का प्रारंभ हो चुका था। अतः इस समय तक महिला सशक्तिकरण एक वैश्विक मुद्दा बन चुका था। दलितों, शोषितों, वंचितों के सशक्तिकरण की चर्चा एवं प्रयास स्वातंत्र्योत्तर काल से ही छाया था। चूँकि स्त्रियों की स्थिति भी वंचितों, शोषितों की तरह ही थी, इसलिए उनके सशक्तिकरण पर भी ध्यान दिए जाने की कवायद शुरू हुई। सशक्तिकरण को शोषण, दमन, अन्याय तथा अन्य विषमताओं को मिटाने की दिशा में एक प्रभावी अस्त्र के रूप में देखा गया तथा सभी विषमतामूलक प्रश्नों के उत्तर के रूप में देखा गया। स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों के बारे में विचार-विमर्श को उनके सशक्तिकरण के केन्द्र बिन्दु में रखा गया। संसार भर में अनेक स्त्री-मुक्ति आंदोलनों के दौरान उभरे विमर्शों, बहसों, आलोचनाओं और मुद्दों का ही प्रतिफल हुआ कि राजनैतिक अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया गया।

हालांकि स्त्रियों की प्रस्थिति में सुधार भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन का भी मुख्य मुद्दा था। उस दौरान के सभी भारतीय समाज सुधारकों, बुद्धिजीवियों ने विधवा पुनर्विवाह का निषेध, सती प्रथा, शिक्षा में महिलाओं के साथ सख्त भेद-भाव, बाल-विवाह इत्यादि कुरीतियों में खिलाफ जंग छेड़ा। और इन कुरीतियों के मिटाने हेतु तत्कालीन शासन का भी भरपूर सहयोग किया। लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन की बागडोर गाँधी जी के हाथ में आने के बाद स्त्रियों की स्थिति उत्तरोत्तर उन्नत

होती गई। क्योंकि उन्होंने स्त्रियों की स्थिति को उन्नत बनाने की ओर विशेष ध्यान देने की नीति अपनाई, ताकि समाज की आधी आबादी को स्वतंत्रता आंदोलन से वंचित नहीं रखा जा सकता, साथ-ही-साथ उन्होंने आजादी के आंदोलन में स्त्रियों को पूर्ण भागीदारी का मौका दिया। इसी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के बाद सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाने हेतु अनेक कानून बने, यथा- पिता की संपत्ति में बेटियों को भी उत्तराधिकार, स्त्रियों को अभिभावकत्व का अधिकार, तलाक देने का अधिकार, दहेज निषेध कानून इत्यादि।

सशक्तिकरण का आंग्ल रूपांतरण 'एमपावरमेंट' है। जो सशक्तिकरण में 'शक्ति' यानि 'पावर' केन्द्र में है। अतः व्यापक अर्थों में सशक्तिकरण का तात्पर्य भौतिक सम्पत्ति या पूँजी, बौद्धिक संसाधन तथा वैचारिक परिदृश्यों पर नियंत्रण प्राप्त करने की स्थिति से है। जो सत्ता या शक्ति-संबंध अस्तित्व में है उनको चुनौती देने तथा शक्ति/सत्ता के स्रोतों पर ज्यादा नियंत्रण हासिल करने की प्रक्रिया को ही सशक्तिकरण कहेंगे। अर्थोरेटी यानि प्राधिकार एक न्यायसंगत सत्ता है। 'न्यायसंगति' दोनों पक्षों को दिखानी चाहिए उस पक्ष को भी जो इसका अधिकारी है और उस दूसरे पक्ष को भी, जो पहले पक्ष के 'निणयों' को मानने को बाध्य है। इसलिए सशक्तिकरण को उस प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके तहत व्यक्ति या समूह द्वारा हासिल तथा संचालित प्राधिकार एवं सत्ता के बूते उन शक्तियों का प्रभावशाली ढंग से मुकाबला किया जाता है, जो उनके सामूहिक हितों के रास्ते में अवरोध पैदा करते हैं।²

स्त्री-सापेक्ष सशक्तिकरण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जो स्त्रियों को अपने जीवन पर स्वामित्व तथा नियंत्रण के योग्य बनाती है। यह उनके लिए चयन के अवसरों में विस्तार के जरिए संभव होता है। यह उस प्रक्रिया का नाम है जो पुरुषों की सत्ता तथा प्राधिकारिता को चुनौती देकर अथवा खारिज करके लिंगीय समानता का माहौल बनाती है। लेकिन सीमित अर्थ में स्त्री सशक्तिकरण का मतलब उस प्रक्रिया से है, जो स्त्रियों की स्थिति को परिवार के साथ-साथ समाज एवं समुदाय में बेहतर बनाती है। उसके स्तर को उन्नयन के रास्ते को शिक्षा रोजगार तथा राजनीतिक भागीदारी जैसी कार्य नीतियों के सहयोग से प्रशस्त किया जा सकता है।

भारत में महिला सशक्तिकरण को एक अवधारणा के रूप में पहली बार छोटी पंचवर्षीय योजना में प्रवेश मिला। सशक्तिकरण की अवधारणा को प्रो० सच्चिदानंद शक्ति को चुनाव करने की योग्यता या क्षमता के रूप में देखते हैं।³ आगे उनका मानना है कि सशक्तिकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से भी है, जो उन

लोगों/जमातों को चुनाव करने के योग्य बनाता है, जो इस योग्यता से पूर्व में वंचित रहे हैं।⁴ सशक्तिकरण एक परिवर्तनकारी प्रक्रिया है ऐसे लोग जो अपने जीवन में चुनाव करने में काफी सक्षम होते हैं, बहुत शक्तिशाली भी हो सकते हैं, लेकिन वे 'सशक्त' नहीं हो सकते, क्योंकि वे कभी 'असशक्त' नहीं रहे।

1947 में मिली आजादी के बाद से अब तक भारतीय राजनीति के व्यापक फलक पर स्त्रियों ने प्रत्येक धारा और प्रत्येक संगठन में अपनी हैसियत दर्ज की है। वह चाहे सत्ता और शासक दलों की राजनीति हो, या फिर संघर्ष और विकल्प की राजनीति। लेकिन हर जगह अपने को स्थापित करने के लिए उन्होंने पुरुषों के तौर-तरीके या फिर कहे कि पुरुषवादी रास्ता अख्तियार किया है। जहाँ कहीं वे पुरुषवादी रास्ते को अपनाते हैं सक्षम नहीं हो पाई हैं या उसे स्वीकार नहीं कर पाई है, वहाँ उन्हें या तो असफलता हाथ लगी है या फिर उन्होंने राजनीति से अपने संबंध तोड़ लिए हैं या फिर मुख्यधारा से अलग-अलग हो गई है। पुरुषवादी राजनीति की एक ज्वलंत मिसाल है राजनीति में अपराध और पैसे एक ही सिक्के के दो पहलू बन गए हैं। मैं दोनों तत्व महिलाओं को राजनीति में प्रवेश पर अड़ंगा लगाते हैं। आमतौर पर औसत स्त्रियों के पास इतनी सम्पत्ति नहीं होती कि वे पुरुषों के चुनाव में पैसे खर्च कर सकें। अपराध और पैसे पर आधारित राजनीति ने विरासत वाली परंपरा को मजबूत किया है तथा संघर्ष के जरिए अपने बल पर राजनीति में जगह बनाने वाली स्त्रियों के हौसले को पस्त किया है। लेकिन फिर भी इस जमात में स्त्रियाँ आगे आई हैं, और उनकी संख्या दिनोदिन बढ़ती ही जा रही है।

पिछले लगभग तीन दशकों से राजनीति में स्त्रियों के प्रवेश की एक

नई प्रवृत्ति सामने आई है। जिसकी बुनियाद परिवारवाद है, यानि नेताओं की पत्नियों, बहनों, बेटियों, बहुओं की जमात। यह राजनैतिक विरासत वाली जमात से अलग है। इस जमात को पारिवारिक अधिकारों के सामाजिक विस्तार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यानी पति यदि राजनीतिज्ञ है, तो पत्नी का कोटा भी संसद या विधानसभा या स्थानीय निकाय में स्वाभाविक रूप से सुरक्षित हो जाता है। इसके लिए पत्नी, बेटी, बहू का राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय होना जरूरी नहीं है। बिहार की प्रथम महिला मुख्यमंत्री श्रीमती राबड़ी देवी इसी जमात से आनेवाली बिहार की शिखर स्त्री बनीं। दीगर बात है कि 'राजनैतिक सशक्तिकरण' की इस प्रक्रिया में ऐसी जमात भी कालांतर में राजनीति में अपनी स्वतंत्र पहचान बना लेती हैं।

बिहार में राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया में थोड़ी तेजी के आसार बिहार की दलगत राजनीति में हाल के दो विधानसभाओं के चुनाव में नजर आती है। 2005 में हुए बिहार विधानसभा चुनाव- 1 के नतीजों ने स्त्रियों की भागीदारी में बढ़त को रेखांकित किया है। वह भी तब, जबकि कुल 1265 प्रत्याशियों में स्त्रियों की तादाद महज 97 यानि मात्र 7.6 फीसदी रही। इनमें से 24 यानि 25 फीसदी ने अपनी सीटें जीतीं।⁵ विधानसभा की 243 सीटों में 24 सीटों पर स्त्रियों ने कब्जा जमाकर बिना आरक्षण के ही 10 फीसदी हस्सेदारी हासिल कर ली। कई सीटों पर तो वे स्थापित पुरुष उम्मीदवारों को तो कई पर दुर्दांत अपराधियों को भी पछाड़ा। इनमें कई ने विरासत वाली परंपरा का प्रतिनिधित्व किया तो कई ने संघर्ष के रास्ते विधानसभा के पायदान तक पहुँच बनाई।

नवंबर 2005 में हुए विधानसभा चुनाव- 2 के बाद फिर बिना आरक्षण के स्त्रियों ने 24 सीटों पर जीत दर्ज

की। यानी उनकी भागीदारी 10 फीसदी है। इनमें 16 सत्ता पक्ष में है तथा आठ विपक्ष में। विधानसभा में विपक्ष के नेता पद पर राबड़ी देवी राजनीति की शिखर स्त्री हैं।

फरवरी 2005 के बिहार विधानसभा के लिए पहली बार इतनी संख्या में स्त्रियाँ निर्वाचित हुई थीं। नवंबर- 2005 के चुनावों में कुल 2135 उम्मीदवारों में से 136 स्त्रियाँ थीं, यानि पिछली बार के मुकाबले इनका प्रतिशत कम रहा। लेकिन विभिन्न दलों के उम्मीदवारों की कुल तादाद इस बार 1064 रहीं, जिनमें से 92 स्त्रियाँ रहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विभिन्न दलों ने कुल मिलाकर 8.64 फीसदी ही स्त्रियों को टिकट दिया। इन 92 उम्मीदवारों में से 24 यानी 26 फीसदी स्त्रियों ने चुनाव जीता है। निष्कर्ष यह कि पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों में चुनाव जीतने की क्षमता अधिक है। इसके कारणों की जाँच एक दिलचस्प अध्ययन का विषय है, जो स्त्री और राजनीति के सम्बंधों के कई छुपे हुए पहलुओं को उजागर कर सकता है। साथ ही स्त्रियों के राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया के बारे में भी कुछ महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भाकपा तथा माकपा ने इस बार पुनः स्त्रियों की अनदेखी की। जहाँ भाकपा ने दो महिलाओं को उम्मीदवार बनाया वहीं माकपा ने किसी भी महिला को उम्मीदवार नहीं बनाया। हालांकि भाकपा (माले) ने कुल 11 फीसदी महिला उम्मीदवारों को टिकट दिया था। लेकिन तीनों वामदलों में से एक भी महिला विधानसभा के लिए निर्वाचित नहीं हो सकीं। इस बार लिबरेशन वामदलों का अगुआ जरूर बना है, किन्तु एक भी क्रांतिकारी महिला कामरेड के बगैर। वामपंथ के समग्रता में अपनी इस असफलता पर विचार करने का मुख्य मुद्दा है।

बिहार में स्थानीय निकाय के चुनावों में सभी स्तरों पर 50 फीसदी स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित कर वर्तमान सरकार ने हजारों की संख्या में महिलाओं की राजनीति और सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित की। स्थानीय निकाय में विजित स्त्रियों की वर्गीय, जातीय, पृष्ठभूमिगत संरचना शोध और अध्ययन का प्रमुख मुद्दा है। इससे सामाजिक बदलाव के साथ-साथ राजनैतिक सशक्तिकरण के महत्वपूर्ण आयाम सामने आ सकेंगे।

पंचायत चुनाव में महिलाओं के लिए 50 फीसदी आरक्षण के बजाय आधी आबादी को त्रि-स्तरीय पंचायतीराज व्यवस्था में पूरा अधिकार देना कहीं ज्यादा समीचीन होगा। विश्व के किसी भी देश ने प्रत्यक्ष राजनैतिक सत्ता के किसी भी स्तर पर स्त्रियों के लिए 50 फीसदी आरक्षण का प्रावधान अभी तक नहीं किया है। विश्व में स्वीडन एकमात्र ऐसा देश है जहाँ बिना आरक्षण के 40-50 फीसदी तक स्त्रियाँ सत्ता के शीर्षस्थ निकाय में पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से अपनी भागीदारी दर्ज करती आई हैं।

बिहार में 1978 में जनता पार्टी की सरकार ने पंचायत चुनाव कराए थे। तब परिवर्तन की लहर का असर था। यह सरकार विरोधीभासी चरित्र वाले कई दलों के एकदल में संगठित होने के बावजूद सत्ता के विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखनेवाली सरकार थी। पंचायत चुनाव तो हुए किन्तु पंचायतीराज स्थापित करने में सरकार सफल नहीं हो पाई। स्त्रियों को 33 फीसदी आरक्षण के क्रांतिकारी फैसला को कानून बनाकर पी०वी० नरसिंह राव सरकार ने पंचायतीराज को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। बिहार की राजद सरकार ने 21वीं सदी में बिहार का पहला पंचायत चुनाव- 2001 में सम्पन्न कराया। 24 सालों के अंतराल हुए पंचायत चुनावों का यह

राजनैतिक-लोकतांत्रिक शो खून-खराबे में डूबा हुआ था। बिहार की राजद सरकार ने एक कदम आगे बढ़ते हुए स्त्रियों को 50 फीसदी तथा अति-पिछड़ों को भी उचित आरक्षण देकर गैर-दलीय आधारों पर ताजा चुनाव कराए। इस ताजा चुनाव में भी हिंसा हुई, लेकिन पिछले चुनाव के मुकाबले बहुत कम।

पंचायत चुनाव- 2006 के चुनाव परिणामों के आँकड़े दर्शनीय हैं, जिसमें सभी पदों में स्त्रियों की भागीदारी को दर्शाया गया है :-

पंचायत चुनाव- 2006

संस्थाएँ	कुल पद	सामान्य जाति	अनु० जाति	अनु० जनजाति	पिछड़ा वर्ग
ग्राम पंचायत					
मुखिया	8466	5549	1381	1068	1468
स्त्री	3784	2611	561	17	595
पंचायत सदस्य					
स्त्री	52074	36293	7448	305	8028
ग्राम कचहरी					
सरपंच	8466	5549	1381	1068	1468
स्त्री	4013	2631	654	049	679
पंच	115479	77179	18898	891	18900
स्त्री	54448	36501	9033	534	8380
पंचायत समिति					
सदस्य	11566	7516	1887	91	2078
स्त्री	5371	3602	808	40	921
कुल	259456	172694	42392	1939	42798
स्त्री	119690	81538	18504	945	18603

जिला परिषद् - 2006

संस्थाएँ	कुल पद	सामान्य जाति	अनु० जाति	अनु० जनजाति	पिछड़ा वर्ग
अध्यक्ष					
अध्यक्ष	38	25	06	00	07
स्त्री	18	12	03	00	03
सदस्य					
सदस्य	1162	756	192	09	217
स्त्री	568	381	85	02	100
प्रमुख					
प्रमुख	531	346	89	04	92
स्त्री	287	164	36	00	37
कुल					
कुल	1731	1127	287	13	316
स्त्री	873	557	124	2	140

त्रिस्तरीय पंचायतीराज संस्थाओं में कुल 2 लाख 60 हजार पद हैं, जिनमें से लगभग आधे पर महिलाओं का कब्जा हो गया। उनमें अनेक उदाहरण भी दर्शनीय हैं।

- कटिहार के बलरामपुर प्रखंड के किशोरी पंचायत में एक भिखारी महिला हलीमा खातून अपनी मजबूत प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर मुखिया बनी। यह सीट महिला के लिए आरक्षित थी⁸
- किशनगंज में किशनगंज प्रखंड के टेउसा पंचायत से सरपंच पद का चुनाव चाय की दुकान देने वाली शिमला देवी ने जीतीं⁹
- किशनगंज में जिला परिषद् अध्यक्ष के पद पर पढ़ी-लिखी महिला स्वीटी सिंह काबिज हुईं¹⁰
- बेगूसराय जिला परिषद् में 34 में से 18 सीट महिला जीतीं¹¹
- मुजफ्फरपुर की गिरीजा देवी UNO में महिला सशक्तिकरण पर आयोजित व्याख्यान में भाषण दिया।

उपरोक्त तथ्य 50 फीसदी आरक्षण का ही परिणाम है। पंचायत चुनावों में जीत हासिल करनेवालों में पुराने प्रत्याशियों की तादाद बहुत कम है। 50 फीसदी आरक्षण के साथ-साथ एकल पदों पर भी आरक्षण की व्यवस्था ने पिछले पंचायत चुनावों के दौरान बने ग्रामीण सामाजिक, राजनैतिक परिदृश्य को एक हद तक बदल दिया है। पिछले चुनावों में जैसे प्रतिनिधियों की तादाद अच्छी खासी थी, जो 1978 के बाद पंचायत चुनाव की प्रक्रिया ठप्प हो जाने के कारण अनौपचारिक तथा अवैध रूप से ग्रामीण 'सत्ता' पर दबदबा बनाए रख रहे थे और चुनाव होते ही वैध रूप से सत्ता पर काबिज हो गए। 24 वर्षों में पीढ़ियाँ

बदल जाती है। इसलिए ऐसी पुरानी जमात की नई पीढ़ी की भी पिछले चुनावों में अच्छी दखल रही थी। 33 फीसदी आरक्षण के कारण महिलाओं की संख्या भी 40 हजार से ऊपर थी और इनमें से बहुत कम अपने बूते चुनावी समर जीतने वालों में से थी। ज्यादातर प्रतिनिधि राजनैतिक पारिवारिक पृष्ठभूमि से आई थीं।

इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता है कि 50 फीसदी आरक्षण पूर्व मुखियों, सरपंचों की बहू-बेटियों, पत्नियों को निर्वाचित होने का मौका देकर विरासत की परंपरा को भी एक हद तक मजबूत करेगा। किन्तु 2006 के चुनावों में बहुत सारे नतीजे वैसी स्त्रियों तथा पुरुषों के पक्ष में गए हैं जिनकी कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं है। ऐसे भी नतीजे सामने आए हैं, जहाँ दबंगों ने शिकस्त खाई है और ईमानदार छवि वाले स्त्री-पुरुष प्रत्याशी जीते हैं। ऐसे नतीजे जनता द्वारा विकास और काम के प्रति आग्रह को वरीयता देने की मानसिकता को रेखांकित करते हैं।

भारतीय पंचायतों में 10 लाख स्त्रियाँ कार्यरत हैं। बिहार के नतीजों के बाद इस तादाद में करीब एक लाख की बढ़त हो गई है। जहाँ कहीं वे पंचायतों के शीर्ष पर हैं, वहाँ उन्होंने आमजनों के पक्ष में एजेंडे को बदला है, भ्रष्टाचार घटाया है, प्रशासन को बेहतर बनाया है और नीतियों की रूपरेखा तैयार करने में स्त्रियों, बच्चों तथा परिवारों के प्रति ज्यादा संवेदनशील नजरिया अपनाया है।¹³

अतः सत्ता में स्त्रियों की बढ़ती भागीदारी के साथ-साथ सत्ता की संस्कृति में महिला के प्रति संवेदनशीलता का विकसित होना भी जरूरी है। इस अर्थ में कोई पुरुष किसी स्त्री से

ज्यादा 'संवेदनशील' हो सकता है और कोई स्त्री किसी पुरुष से भी ज्यादा पेट्रियार्कल ! बिहार में इसकी ताजा मिसालें हैं- नीतीश कुमार और राबड़ी देवी। राबड़ी देवी के राज में स्त्री-संगठनों पर लाठियाँ बरसी है। और नीतीश कुमार ने अपने शासन के शुरुआती दौर में एक नक्सली स्त्री को रोहतास में पुलिस द्वारा सार्वजनिक रूप से अपमानित किए जाने के मामले को 'स्त्री-अस्मिता' से जोड़कर प्रशासन को सख्त निर्देश दिए। इसलिए महिलाओं के राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया में संवेदनशीलता का समावेश भी उतना ही जरूरी है, जितना उनका सशक्त होना।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- (1) कुमार, तरुण (2007) नारी एवं नारीवाद, तर्क-वितर्क, वाणी प्रकाशन, पृ० 44.
- (2) मंडल, बी०बी० : (2005) एमपावरमेंट ऑफ अनऑरगेनाइज्ड वूमन वर्कर्स इन इण्डिया, बेनी ए० एक्का तथा अनिरुद्ध प्रसाद (सं०), सोशल एमपावरमेंट थ्रू डेवलपमेंट इंटरवेंशन्स, जेवियर इन्स्टीच्यूट ऑफ सोशल सर्विस राँची.
- (3) सच्चिदानन्द : (2007) एमपावरमेंट ऑफ दलित्स थ्रू पंचायतीराज : द बिहार एक्सपीरियंस, सीरीयल्स पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.
- (4) वही.
- (5) जेंडर स्टडीज यूनिट : (2007) पटना.
- (6) चुनाव आयोग, बिहार विधानसभा चुनाव-2006 रिपोर्ट.
- (7) वही.
- (8) वही.
- (9) हिन्दुस्तान, दैनिक, पटना (2006), 28 मई.
- (10) वही.
- (11) वही.
- (12) वही.
- (13) यू०एन०एफ०पी०ए० (2005) : स्टेट ऑफ वर्ल्ड पॉपुलेशन रिपोर्ट.

कुन्दन कुमार सुमन : शोध छात्र (प०वि०वि०), समाजशास्त्र विभाग

डॉ० गिरीश गौरव : एम०ए० (प०वि०वि०), पी०एच०डी० (म०वि०)

बिहार में पंचायतीराज एवं महिला सशक्तिकरण: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. बी. पी. मंडल एवं गजनफर आलम

परिचय :

भारत के संविधान निर्माताओं ने गाँधीजी तथा 1948 में गाँधीवादी पी. के. सन्थानम के प्रस्तावित संशोधन को संविधान सभा ने स्वीकार करते हुए राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत भारतीय संविधान के अनुच्छेद - 40 में व्यवस्था दी कि 'राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठायेगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।' इसी संकल्पना को साकार करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री मोहन लाल सुखाड़िया की अध्यक्षता में 1959 को नागौर जिले में पंचायती राज की नींव रखी गई फिर, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों में इस की स्थापना की गई।

बिहार में पंचायतीराज अधिनियम 2006 लागू किया गया है, जिसके द्वारा पंचायतीराज व्यवस्था और सशक्त हो गयी है। बिहार देश का पहला राज्य है जहाँ पंचायती राज में महिलाओं को 50% आरक्षण मिला है। महिलाओं को मिले आरक्षण से यह उम्मीद जगी है कि अधिकतर निर्वाचित महिलाएँ गरीबी, भूखमरी, गैर-बराबरी, बेरोजगारी के प्रति सचेत हो गयी है और उनमें संवेदना है।

अध्ययन का उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है।

1. बिहार में पंचायती राज व्यवस्था और महिलाओं की प्रस्थिति पर प्रकाश डालना।
2. इस व्यवस्था के माध्यम से महिलाओं के सशक्तिकरण का मूल्यांकन करना।
3. इस शोध-कार्य द्वारा यह पता लगाना कि महिलाएँ कहाँ तक इस व्यवस्था में भागीदारी कर रही हैं।
4. इस शोध-पत्र द्वारा यह पता लगाया जायेगा कि पंचायती राज व्यवस्था किस रूप से महत्वपूर्ण योगदान कर रही है।
5. महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सहभागिता को ज्ञात करना।
6. महिलाओं में हो रहे राजनैतिक सामाजीकरण का पता लगाना आदि।

शोध की उपकल्पनाएँ :

1. पंचायती राज व्यवस्थाओं के कारण महिलाओं का सशक्तिकरण हो रहा है।
2. इस व्यवस्था के कारण महिलाओं का राजनीतिक समाजीकरण हो रहा है।
3. बिहार में 50% आरक्षण होने के कारण सभी वर्ग की महिलाएँ राजनीति में जुड़ रही हैं।
4. महिलाओं में शैक्षिक तथा राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है।
5. आज महिलाएँ स्वावलम्बी हुई हैं।
6. महिलाओं ने पंचायती राज व्यवस्था में कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए हैं जो कि राजहित में हैं आदि।

अध्ययन पद्धति :

1. अनुसंधान के क्षेत्र के रूप में गया, मधुबनी, अररिया, किशनगंज, सीतामढ़ी, पश्चमी चम्पारण एवं बिहार के कुछ महत्वपूर्ण जगहों की महिलाओं का अध्ययन किया गया है।
2. प्रस्तुत शोध-पत्र में उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि से सूचनादाताओं का चुनाव किया गया है।
3. सूचनादाताओं द्वारा तथ्यों का संकलन अनुसूची के माध्यम से साक्षात्कार विधि की सहायता से किया गया है।

विश्लेषण :

भारत के संविधान निर्माताओं ने गाँधीजी तथा 1948 में गाँधीवादी पी. के. सन्थानम के प्रस्तावित संशोधन को संविधान सभा ने स्वीकार करते हुए राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत भारतीय संविधान के अनुच्छेद-40 में व्यवस्था दी कि 'राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठायेगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।' इसी संकल्पना को साकार करते हुए तत्कालिन प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री मोहन लाल सुखाड़िया की अध्यक्षता में 1959 में नागौर जिला में पंचायती राज की नींव रखी गई फिर, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों में स्थापना की गई। पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर सातवीं पंचवर्षीय योजना तक पंचायती राज संस्थाओं की स्थिति काफी कमजोर रही। वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य सरकारों की कृपा पर निर्भर रही, क्योंकि उन्हें संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था। तत्कालीन प्रधानमंत्री नरसिंहाराव के नेतृत्व में केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्री श्री बैंकट स्वामी ने संसद के पटल पर एक विधेयक रखा जिसे राष्ट्रपति द्वारा 24 मार्च 1993 को मंजूरी मिल गई। अतः संविधान में 73वाँ व 74वाँ संशोधन किया गया। संविधान के 73वाँ व 74वाँ संशोधन अधिनियम 1992 के फलस्वरूप भारतीय संविधान में भाग-9 जोड़कर अनुच्छेद - 243 (क से ण तक) जोड़ते हुए पंचायतीराज संस्थाओं को संवैधानिक ऊर्जा प्रदान कर दी। देश

में आधी आबादी महिलाओं की है, इसलिए यह स्वभाविक है कि उन्हें भी देश के विकास में पुरुषों के समान भूमिका निभाने का अवसर मिलना चाहिए। इस संविधान संशोधन में महिलाओं के लिए एक-तिहाई (33%) सीटें आरक्षित की गई हैं। अब लगभग सभी राज्यों में पंचायतों के चुनाव हो चुके हैं। आज भारत में 09 लाख से अधिक महिलाएँ निर्वाचित प्रतिनिधि हैं जो दुनिया के किसी भी देश में नहीं हैं।

बिहार में पंचायतीराज अधिनियम 2006 लागू किया गया है, जिसके द्वारा पंचायतीराज व्यवस्था और सशक्त हो गयी है। इस अधिनियम के तहत न्याय पंचायतों/ग्राम कचहरियों का गठन किया गया, जिससे ग्रामीणों को उनके द्वार पर ही उचित न्याय मिल सके। बिहार पंचायतों का निर्वाचन मई-जून 2006 में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। बिहार देश का पहला राज्य है जहाँ पंचायती राज में महिलाओं को 50% आरक्षण मिला है।

महिलाओं को मिले आरक्षण से यह उम्मीद जगी है कि अधिकतर निर्वाचित महिलाएँ गरीबी, भुखमरी, गैर-बराबरी, बेरोजगारी के प्रति सचेत हो गयी हैं और उनमें संवेदना है। इसलिए विकास के कार्यों में गुणात्मक बदलाव आने की संभावना है। इसके अलावा वे नशाखोरी और घरेलू हिंसा को भी अपनी चर्चा का विषय बना सकती हैं। अनुकूल वातावरण में वे इस दिशा में कारगर कदम भी उठा सकती हैं। इससे भी बढ़कर जीवन की बुनियादी आवश्यकता जैसे- रोटी, कपड़ा और मकान में इनकी भूमिका अहम होने लगी है कि जो की महिला सशक्तिकरण को इंगित कर रहा है।

बिहार सरकार ने महिला सशक्तिकरण हेतु पंचायतीराज एवं अन्य माध्यम से अनेक कार्यक्रम चलाए हैं। जैसे- मुख्यमंत्री कन्या विवाह योजना, मुख्यमंत्री कन्या सुरक्षा योजना, मुख्यमंत्री नारी शक्ति योजना, अंतर्जातीय विवाह योजना, मुख्यमंत्री सामर्थ्य योजना, किशोर न्याय कार्यक्रम, बालविवाह निषेध कार्यक्रम, वैकल्पिक पारिवारिक देखभाल कार्यक्रम। कार्यस्थलों पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न, मानव व्यापार निवारण कार्यक्रम, पोषाहार वितरण एवं कार्यान्वयन, दुलार योजना, स्कूल पूर्व शिक्षा, जननी एवं बाल सुरक्षा योजना आदि। बिहार में पहली बार जेन्डर बजट पेश किया गया, जो सरकार द्वारा उठाया गया ऐतिहासिक कदम है। सरकार की इन योजनाओं एवं कार्यक्रमों से महिला सशक्तिकरण को बल मिला है। बिहार में पैदा होने वाली नारी आज गर्व महसूस कर रही है। वह नारी अब अबला नहीं, सबला कहला रही है। बिहार देश में एक मॉडल बनकर उभरा है। आज इस कदम से महिलाओं में मौन क्रांति की शुरुआत हो चुकी है।

परिणाम :

पंचायतों में आरक्षण के फलस्वरूप जो महिलाएँ चुनकर आयी हैं। वे इस सत्य को उजागर कर रही हैं कि महिलाएँ निष्क्रिय एवं निःसहाय नहीं हैं। आरक्षित सीटों के अलावा अन्य सीटों पर चुना जाना इसका संकेत है। चुनाव परिणाम ने साबित किया है कि सवर्ग जाति के साथ-साथ पिछड़ी जाति, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की महिलाएँ भी अब पंचायत में अपना प्रभुत्व जमा रही हैं और सफलता के परचम लहरा रही हैं। उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है कि -

- बिहार के पूर्वी चम्पारण जिले के डिन्जी भिरखिया-छिपुलिया गाँव की मुसहर जाति की महिला गिरजा देवी को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने महिला विकास प्रकोष्ठ और आर्थिक एवं सामाजिक मामले के विभाग के 15वें सत्र में भाषण देने के लिए न्यूयार्क आमंत्रित किया।
- महिला सशक्तिकरण में सकारात्मक भूमिका निभाने के लिए मधुबनी जिले के लखनौर पंचायत समिति की सदस्य तिलिया देवी को वर्ष 2006 के नोबेल शांति पुरस्कार के लिए नामित किया गया था।
- कटिहार जिले के बलरामपुर प्रखण्ड के किरौरा ग्राम की हलिमा खातून ने पंचायत प्रमुख का चुनाव जीता। हलिमा अपनी पेट की आग बुझाने के लिए भीख माँगा करती थी।
- मैं कभी सोंच भी नहीं सकती थी कि इस उच्च जाति के पंचायत में मैं मुखिया बन सकती हूँ - नगीना मोची, गया (बिहार)
- श्री अखलाक अहमद ने अपनी पुस्तक 'पंचायतीराज के उभरते मुद्दे' में शोध कर लिखा है कि 50% पदों पर महिलाओं को आरक्षण मिलने के कारण उनको स्वाभिमान और गौरव मिला है।
- ग्रामीण बिहार के पुरुष अपने आप को 'मुखियापति' कहकर गौरव महसूस करते हैं। उनकी पहचान उनकी पत्नी से है जो पहले नहीं थी।
- मुजफ्फरपुर की पंचायती राज

के तहत चुनी गई महिलाओं ने एक आन्दोलन चलाया कि सभी महिलाओं को साक्षर बनाया जाये, जिससे वे कम से कम अपना दस्तखत सही ढंग से कर सकें एवं आवश्यक कागजात को स्वयं पढ़ सकें।

- गया जिला में शोध के फलस्वरूप पाया गया कि चुनी गई महिला प्रतिनिधि पुरुष प्रतिनिधियों की तुलना में ज्यादा काम करती हैं तथा वे तुलनात्मक रूप से ईमानदार भी होती हैं।
- शीला कुमारी, अंगूरी खातून, पायल, सावित्री, बेबी, ललिता, गुड़िया खातून आदि बिहार की बेटियों ने विभिन्न क्षेत्रों में नाम रोशन कर बिहार का मान बढ़ाया है, आदि।

यह सही है कि केवल राजनीतिक सशक्तिकरण से ही महिलाओं का सम्पूर्ण सशक्तिकरण नहीं होगा। बल्कि इसका लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उत्पादन और आय अर्जन के क्षेत्र में महिलाओं को आगे आना होगा, स्कूलों, कॉलेजों में उनके दाखिलों का प्रतिशत बढ़ाना होगा। स्वास्थ्य एवं पौष्टिक आहार की मात्रा बढ़ानी होगी तभी एक स्त्री सही अर्थों में सशक्त हो पायेगी। जिसके लिए बिहार सरकार ने अनेकों कार्यक्रम एवं योजनाएँ तो चलाई हैं किंतु सही रूप से उसका कार्यान्वयन नहीं हो पा रहा है। पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं को 50% आरक्षण दिए जाने के बावजूद भी उनकी भूमिका नगण्य रहने के दो प्रमुख कारण हैं। पहला ढाँचागत गतिरोध तथा दूसरा पुरुष मानसिकता।

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि बिहार भारत का

एक ऐसा मॉडल राज्य बनकर उभर रहा है, जहाँ महिलाओं के लिए असीम सम्भावनाएँ हैं। यहाँ महिलाओं को केवल पंचायती राज में ही 50 प्रतिशत आरक्षण नहीं मिला है बल्कि पंचायत शिक्षक, शिक्षामित्र, न्यायमित्र, रोजगार सेवक आदि में भी इतना ही आरक्षण देकर महिला सशक्तिकरण का मार्ग प्रशस्त किया है। नारी सशक्तिकरण की वास्तविक उपलब्धि यह है कि वह स्वयं पर विश्वास रखकर अपने नारीत्व पर गर्व करे। अपने शर्तों पर जिन्दगी जीने का उसमें साहस हो। यह काम यहाँ पंचायती राज व्यवस्था बखूबी निभा रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. रोज ऑफ कॉन्फिलिक्ट एमांग द वर्किंग वुमेन - पुष्पा सिन्हा।
2. बिहार में पंचायतीराज व्यवस्था - डॉ. खगेन्द्र कुमार।
3. द चेंजिंग पोजीशन ऑफ इंडियन वुमेन- एम. एन. श्रीनिवास।
4. रिजर्वेशन एज ए स्ट्रेडजी फोर पॉलिटिक्स एम्पावरमेंट - रचना सुचिनमयी।
5. बिहार पंचायती राज अधिनियम- 2006।
6. पंचायतीराज के उभरते मुद्दे - डॉ मनोज कुमार एवं अखलाक अहमद।
7. वीमेन वेलफेयर एण्ड डेवलपमेंट - डी. चौधरी।
8. रोल ऑफ वुमेन इन पंचायती राज दि एडमिनिस्ट्रेटर, टवस गप्प।
9. सूचना एवं जन-सम्पर्क विभाग - बिहार, जून - 2008 तथा मई -2008।
10. कुरुक्षेत्र मई, 2007 व अगस्त 2008।

डॉ. बी. पी. मंडल

विभागाध्यक्ष, वरिष्ठ व्याख्याता,
समाजशास्त्र विभाग, बी०एन०कॉलेज,
पटना।

गजनफर आलम

नेट (यू०जी०सी०), शोधप्रज्ञ,
समाजशास्त्र विभाग, पटना
विश्वविद्यालय, पटना।

सूचना प्रौद्योगिकी- महिला सशक्तिकरण का सशक्त माध्यम : एक विवेचन

डॉ. अफरोज एकबाल

भूमिका:

महिला सशक्तिकरण एक प्रक्रिया का नाम है, जिसमें महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के प्रयासों का पुनर्बलन किया जाता है, ताकि वे अपने दबू प्रकृति के आवरण से बाहर निकलकर आत्मनिर्भर एवं स्वावलंबी बन सकें। यह प्रयास उनकी योग्यता का चतुर्दिक सशक्तिकरण करता है, ताकि उनकी अभिरुचि स्पष्ट हो सके, संसाधनों का समुचित उपयोग किया जा सके और परिवार एवं समुदाय में सहभागी संबंधों का पूरा लाभ उठाया जा सके।

सशक्तिकरण का अर्थ किसी कार्य को करने या रोकने की क्षमता से है, जिसमें महिलाओं को जागरूक करके उन्हें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य संबंधित साधनों को उपलब्ध कराया जाये। ताकि उनके लिए सामाजिक न्याय और पुरुष महिला समानता का लक्ष्य हासिल हो सके।

यह सच है कि आज महिलाओं ने अपने आप मुख्यधारा में शामिल होने का प्रयत्न कर रही है। परन्तु उनके इस विकास में उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ सूचना प्रौद्योगिकी का भी अत्यंत योगदान है जिसने मानसिक तौर पर नारी को निरन्तर विकास की ओर प्रगतिशील किया है और वह परस्पर अपने साक्ष्य की ओर बढ़ते हुए सम्पूर्ण भूमंडल को अपनी मुट्ठी में बंद करने हेतु उत्सुक हो सकी है। लेकिन रुकावटें अब भी हैं और उसे नित्य समकालीन समस्याओं से संघर्ष कर अपना अस्तित्व कायम करना है तथा विकास की ओर अग्रसर रहना है।

उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध-पत्र का महत्वपूर्ण उद्देश्य यह बतलाना है कि महिला सशक्तिकरण में सूचना प्रौद्योगिकी ने किस प्रकार महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी का सम्पूर्ण उपयोग कर महिला को सबल एवं आत्मनिर्भर बनाने के उपाय भी खोजने का प्रयत्न किया गया और यह भी दर्शाया गया है कि भारत सरकार को अपनी विभिन्न योजनाओं को क्रियान्वयन कर महिलाओं तक खास कर ग्रामीण महिलाओं तक सूचना प्रौद्योगिकी को पहुँचाया जाए जिसमें उनका सबलीकरण हो सके।

विश्लेषण :

महिला सशक्तिकरण की शुरुआत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 08 मार्च 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस से माना जा सकता है। पुनः महिला सशक्तिकरण की पहल 1985 में महिला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नौरोबी में की गई। 1975 से 1985 के दशक को महिला दशक, 1974 को महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप में मानाया गया। भारत ने भी महिला सशक्तिकरण के लिए अनेक कदम उठाएँ। 31 जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन हुआ जिसके माध्यम से सदियों से पिछड़े, शोषित, एवं उपेक्षित नारी वर्ग के विकासार्थ विशेष ध्यान दिया जा रहा है। वर्ष 2001 में भारत सरकार ने “महिला सशक्तिकरण वर्ष” घोषित किया तथा राष्ट्रीय महिला शक्ति सम्पन्न नीति 2001 की घोषणा की।

सूचना प्रौद्योगिकी एक वृहद अवधारणा है, जिसमें सूचना प्रक्रिया और उसके प्रबंध सभी पहलू शामिल हैं। भारत में यूरुपियों के आगमन से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की नई अवधारणा का सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश सरकार ने यूरोप में हो रहे वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कारों का प्रयोग भारत में ब्रिटेन के हितार्थ किया, लेकिन अपरोक्ष रूप से भारत में अंग्रेजों के माध्यम से ही यूरोप में होने वाले विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का प्रवेश प्रारम्भ हो गया। महिला सशक्तिकरण में सूचना एवं प्रौद्योगिकी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज शिक्षा के क्षेत्र में, स्वास्थ्य के क्षेत्र में रोजगार के क्षेत्र में, महिला आन्दोलन के क्षेत्र में, सामाजिक उत्थान आदि के क्षेत्र

मे महिलाओं के विकास में सूचना प्रौद्योगिकी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

दिखने में चाहें सशक्तिकरण की बात कितनी भी आकर्षक क्यों न लगे, एक कड़वी सच्चाई यह है कि अधिकांश स्त्रियों के लिए अपनी क्षमता और प्रतिभा के विकास की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं। महिला आन्दोलन के प्रारंभिक दौर में मीडिया लगातार स्त्रियों के खिलाफ समाज के विविध अपराधों के प्रति ध्यान आकर्षित करता रहा। 1980 के दशक में इस प्रकार के अपराधों की खबरें रोजमर्रा की बात बन गई। सार्वजनिक जीवन और सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से स्त्रियों के समानता की चर्चा जोर-शोर से होती रही है। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज सूचना प्रौद्योगिकी युग में भी महिला शिक्षा के सम्पूर्ण मुद्दे एकदम उदासीन हैं। क्योंकि स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद केवल 54 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर हैं जबकि पढ़े-लिखे पुरुषों का प्रतिशत 75 है। शिक्षा प्रणाली का आज जो स्वरूप है, दरअसल वह गरीबों, जनजातियों, दलितों और अल्पसंख्यक समूहों को अशक्त बनाने का जरिया बन गया है। इस वर्ग में शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक वंचित स्त्रियाँ और लड़कियाँ रही हैं दूसरी ओर बुनियादी शिक्षा संबंधी सार्वजनिक रिपोर्ट में प्रकाशित 17 समाचार-पत्रों के सर्वेक्षण से पता चला कि 1998-99 में समाचार पत्रों में विदेशी निवेश और प्रौद्योगिकी हस्तांतरणों पर 8549 लेख, विदेश व्यापार पर 3431, रक्षा पर 2652 और शिक्षा पर केवल 988 लेख छपे। इस बात से

यह प्रमाणित होता है कि सूचना एवं प्रौद्योगिकी का उपयोग शिक्षा के प्रसार में कम योगदान था। मगर आज इसका प्रयोग इस क्षेत्र में ज्यादा हो रहा है।

हालांकि भारत में हार्डवेयर और साफ्टवेयर की भारी कीमतों की वजह से कम्प्यूटर का व्यापक उपयोग नहीं हो पा रहा है। लेकिन इंटरनेट से दूर शिक्षण के जगत में क्रांतिकारी बदलाव आ रहा है। 80 के दशक में जब तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी ने स्कूलों में कम्प्यूटर क्रांति का आह्वाहन किया था। फलतः इसका कहीं न कहीं प्रभाव लड़कियों की शिक्षा पर पड़ा और इस प्रकार महिला सशक्तिकरण के मार्ग में आगे की ओर बढ़ी हैं। आज तो महिलाएँ धड़ल्ले से इस का प्रयोग कर अपना चहुमुखी विकास कर रही हैं। मगर आवश्यकता इस बात की है कि इसे गाँवों तक पहुँचाया जाए जिससे गाँवों की महिलाओं का भी विकास हो सके।

महिला आन्दोलन के इतिहास पर नजर डाली जाए तो इसके विकास में मीडिया की अहम भूमिका रही है। यह मात्र संयोग नहीं है कि सामयिक महिला आन्दोलन उभरने और मजबूत होने के दौरान ही महिला पत्रकारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। लेकिन अगर महिलाओं से जुड़े मुद्दों के कवरेज को मात्रा की दृष्टि से देखा जाए तो स्थिति उत्साहपूर्वक नहीं लगती। सोनिया वथला ने पाँच अंग्रेजी समाचार-पत्रों का अध्ययन किया, जिसके लिए 1981ए 1975ए 1959 व 1993 वर्षों के एक-एक नमूने को शामिल किया था। इस अध्ययन का निष्कर्ष था कि स्त्रियों से संबंधित 57%

समाचार अपराध और हिंसा की खबरों के थे। नमूनों में शामिल किए गए 584 संपादकीयों में से केवल 8 ही महिलाओं के मुद्दों के बारे में थे। दिलचस्प बात यह थी कि 1981 से 1993 तक हिंसा की खबरों में भी कमी आई। 1980 के दशक में जब महिला संगठनों ने हिंसा का मुद्दा उठाया और दहेज मौतों और बलात्कार के खिलाफ आवाज उठानी शुरू की थी, तब मुकाबले हिंसा की खबरों में अब कोई नई बात नहीं रह गई।

पिछले लगभग डेढ़ दशक में यह अवधारणा जोर पकड़ने लगी है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने महिला आन्दोलन को अधिक प्रखर बनाया तथा महिला के आन्दोलन को सफल बनाकर अपनी माँग को मनवाने की भूमिका अदा की। अतः महिला सशक्तिकरण में सूचना प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चाहे वह महिला आन्दोलन को आगे बढ़ाकर या ज्ञान का द्वीप महिलाओं में जलाकर।

मध्यवर्गीय परिवारों की दिन-प्रति-दिन की दुनिया को दर्शाने वाले धारावाहिकों की शुरुआत से महिलाओं के लिए एक सुखद परिणाम निकला था। इन्होंने हिन्दी फिल्मों की स्त्रियों को दी जाने वाली संकीर्ण उबाऊ भूमिकाओं से हटकर नायिका, खलनायिका, सास-बहू के झगड़ों से दूर, स्त्री को नई छवि और पहचान दी है। अब कॉलेज की लड़कियों, कामकाजी महिलाओं, कठोर माताओं, कारोबारी महिलाओं, तड़क-भड़क वाली युवतियों और अन्य की भूमिकाएँ अधिक दिखने लगी हैं।

आजकल महिला चरित्रों पर आधारित कई धारावाहिक तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तन में जीवनशैली के चयन का धर्मसंकट प्रदर्शित कर रहे हैं जिसमें विवाह पर स्त्री/पुरुष गमन, तलाक, पुनर्विवाह की समस्याओं को उच्च सामाजिक ड्रामा के रूप में पेश किया जाता है। कुछ अन्य धारावाहिक बदलती परिस्थितियों से जूझते परिवारों को दिखा रहे हैं। अब चाहे ये परिवर्तन कमाऊ बेटी के नौकरी से या बहू के विद्रोही स्वभाव के कारण हो। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अभी भी कई महिला सशक्तिकरण के लिए प्रयास करते नजर आते हैं। फलतः ये धारावाहिक या मनोरंजन के साधन भी महिला सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

इंटरनेट का विशाल कौतूहलपूर्ण संसार भी दुनिया के साथ जुड़ने और संपर्क स्थापित करने की असीम संभावनाएँ पेश करता है। नेट पर भी स्त्री-पुरुष भेद परिलक्षित हो रहा है, क्योंकि नेट पर संपर्क स्थापित करने वालों में पुरुषों की अधिकता है। इसका एक भयावह परिणाम इंटरनेट पर अश्लीलता के प्रसार के रूप में सामने आया है। नेट उन्नत प्रौद्योगिकियों के इस्तेमाल में साइबर सेक्स के प्रसार के लिए स्त्रियों का शोषण, उन्हें वस्तु बनकर पेश करने का चलन है।

परंतु सिर्फ इंटरनेट महिलाओं का शोषण ही मात्र नहीं करते बल्कि इस माध्यम से महिलाओं का चहुमुखी विकास भी होता है। आज महिलाएँ अपने ज्ञान का विकास इस माध्यम से कर रही हैं, पश्चिम के अच्छे प्रभावों का अपने पर

उतार रही हैं तथा महिला सशक्तिकरण के लिए विदेशों में हो रहे प्रयासों को समझ रही हैं। अतः इंटरनेट महिलाओं को उत्पाद की वस्तु बनाकर बेच रहा है तो दूसरी ओर महिलाओं को अनेक ज्ञान प्रदान कर उसे सबलीकरण भी कर रहा है।

यदि स्त्रियों व लड़कियों के सशक्तिकरण के लिए जन संचार माध्यमों का इस्तेमाल करना है तो यह जरूरी हो जाता है कि सबसे पहले तो महिला विकास के दृष्टिकोण से मीडिया के कार्य का विवरण एकत्र किया जाए और फिर उसका आकलन किया जाए। ऐसे दृष्टिकोण से मीडिया का अध्ययन एक अनवरत प्रक्रिया बन जानी चाहिए। ऐसे अध्ययनों के निष्कर्षों का प्रसार किया जाना चाहिए तथा मीडिया और उसके काम काज को जनसाधारण के लिए पारदर्शी और स्पष्ट बनाया जाना चाहिए। वृत्त चित्र निर्माताओं में महिलाओं की एक अच्छी खासी संख्या है। ये लोग जनसाधारण और महिलाओं को ध्यान में रखकर कई क्रांतिकारी सामाजिक फिल्में बना रहे हैं। इन लोगों की फिल्मों के प्रदर्शन के लिए दूरदर्शन पर स्थान उपलब्ध कराने से देश में लोकतंत्र और विकास की बहस को आगे ले जाने में मदद मिलेगी।

आज अनेक ज्ञान के माध्यमों की वृद्धि से अशिक्षित महिलाएँ भी कैमरे का संचालन कर रही हैं, जिससे उनको रोजगार मिल रहा है और महिलाएँ सबलीकृत हो रही हैं। अहमदाबाद में सेवा संगठन ने ऐसी कामकाजी महिलाओं को अपने ही यथार्थ को दर्शाने के लिए वीडियो फिल्में बनाने का प्रशिक्षण दिया

था। तिलोनियां में एस. डब्ल्यू. आर. सी. में ग्रामीण महिलाओं को कम्प्यूटर का कुशल इस्तेमाल सिखाया जा रहा है।

जहाँ तक इंटरनेट का सवाल है तौली-कार्पुज जैसे आर. टी. सी. विशेषज्ञों का कहना है कि विकासशील विश्व के सामने ऐसी सस्ती बुनियादी नेट सेवाएँ विकसित करने की चुनौती मौजूद है, जो साइबर कैफे, लाईब्रेरियों आदि के माध्यम से लोगों को तत्काल उपलब्ध हो। तौली कार्युज ऐसी अर्न्तराष्ट्रीय संचार नीतियाँ और मानकों के निर्धारण पर जोर देता है, जो स्त्रियों की और उनसे जुड़े मुद्दों की मीडिया कवरेज की गुणवत्ता व मात्रा पर ध्यान दे सके।

संचार माध्यमों ने भी महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया है। महिलाएँ अब अपने आप को स्वतंत्र एवं पुरुषों के बराबर अगर महसूस कर रही हैं, तो उसके पीछे सबसे बड़ा कारण है— संचार माध्यम। कहानी घर-घर की, क्योंकि सास भी कभी बहू थी, देश में निकला होगा चाँद आदि सीरियलों ने सारी चेतना के साथ उसकी संवेदना और सोच को भी अवसरवादी बना दिया है। परिणामतः विवाहेतर संबंधों का प्रचलन भारतीय समाज में भी बढ़ता जा रहा है।

“ब्यूटी कांटेस्टों” में महिला परिधानों में तकनीकी बदलाव ला दिया है। मानसिक रूप से भले ही न, पर शारीरिक रूप से सुंदर दिखने की चाहत ने महिलाओं को सूचना और प्रौद्योगिकी ने अपनी ओर खींचा है। इसके अलवा दहेज, बेरोजगारी, समय पर विवाह न होना आदि भी महिलाओं के जीवन में

तीव्रगामी परिवर्तन कर उन्हें स्वावलंबी बना दिया है जो निःसन्देह एक अच्छी उपलब्धि है। इसी स्वावलंबन की वजह से महानगरीय महिलाओं ने पराधीनता या फिर रिशतों की गुलामी से मुक्ति के लिए प्रतीकात्मक विरोधस्वरूप चूड़ी-कंगना, नथ, झुमके आदि पहनना लगभग बंद कर दिया है, जो नारीवादी चेतना को उग्र अधिकारिता परक जीवन जीन को प्रेरित कर रहा है। वैसे भी संक्रमणकालीन समाज में यदि अच्छाइयाँ होती हैं, तो कुछ बुराइयाँ भी। लेकिन बुराइयों को देखकर प्रयोग आविष्कार या परिवर्तन बंद कर दिया जायेगा तो समाज बिल्कुल ठहर जायेगा। क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का गहना है।

सूचना प्रौद्योगिकी और इंटरनेट ने विश्व महिलाओं को बहुत सुंदर और विशिष्ट नागरिक बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। व्यक्तियों के मध्य संचार तात्कालिक हो गया है। इधर-उधर फ़ैली तमाम सूचनाएँ प्रसंस्करण के बाद ज्ञान में तब्दील हो रही हैं। इंटरनेट पर बुलेटिन वार्ड की और चर्चा कक्ष तथ इंटरनेट ब्राउसर्स नागरिकों के मध्य सूचना के आदान-प्रदान, परिचर्चा और संपर्क प्रोत्साहित कर रहे हैं। महिलाएँ अब अधिक बुद्धिमान और स्वस्थ के रूप में विकसित हो रही हैं। पर्याप्त सुविधा और विश्राम के लिए साधनों का निर्माण किया जा रहा है। ताकि महिलायें सृजनात्मक कार्यों की ओर अधिकाधिक ध्यान दे सकें और कला तथा समृद्धि को पुष्ट कर सकें।

सूचना प्रौद्योगिकी ने एक ओर तो सशक्तिकरण हेतु सम्पूर्ण प्रयास किया है जो कहीं न कहीं सफल होता प्रतीत

भी हो रहा है। मगर सूचना एवं प्रौद्योगिकी ने महिलाओं के शोषण एवं उसके उत्पीड़न को भी बढ़ावा दिया है। आज महिलाएँ उपभोग की वस्तु बनी हुई हैं। इंटरनेट, पत्र-पत्रिका, संचार, मीडिया, मनोरंजन के साधन आदि पर महिलाओं के अश्लील चित्र या भद्दी बातों को प्रसारित किया जा रहा है। महिलाएँ आज अपने को अधिक सुरक्षित नहीं महसूस कर रही हैं। कारण साइबर स्पेस ने साइबर अपराध तथा व्यक्ति नागरिक की हिफाजत को दांव पर लगा दिया है। सॉफ्टवेयर चोरी, हैकिंग, धोखाघड़ी, बौद्धिक, शोषण, आदि के माध्यम से महिलाओं का कहीं न कहीं शोषण हो रहा है। फलतः महिलाएँ सूचना, प्रौद्योगिकी के विकास को अपने ऊपर अभिशाप भी मान रही हैं। अतः स्पष्ट है कि 20वीं शताब्दी की सूचना समाज के समक्ष महिलाओं के लिए चुनौतीपूर्ण दस्तक दे रही है।

निष्कर्ष :

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी ने महिला सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। स्त्रियों से सम्बन्धित बहुत सी मान्यताएँ आज टूट रही हैं। कल तक स्त्री को मात्र कोख की सामग्री माना जाता था मगर आज वह समाज को चलाने वाली शक्तिशाली स्त्री बनने के तरफ बढ़ रही है। ठीक है, रास्ते बहुत आसान नहीं हैं मगर सूचना प्रौद्योगिकी ने उन सभी मान्यताओं को तोड़ने का प्रयत्न किया है, जो कभी इतने कठोर हुआ करते थे कि उसके विषय में सोचना भी पाप था। आज महिलाएँ परिवार की चहारदीवारी को

लांघ रही हैं तो उसमें कहीं न कहीं सूचना प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण भूमिका है। यह सच है कि आज महिलाओं ने अपने आप को मुख्य धारा में शामिल कर लिया है, परन्तु उनके इस विकास में उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ सूचना प्रौद्योगिकी का भी अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिसने मानसिक तौर पर नारी को निरंतर विकास की ओर गतिशील किया है और वह परस्पर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए सम्पूर्ण भूमंडल को अपनी मुट्ठी में बंद करने हेतु उत्सुक हो सकी। लेकिन रुकावटें अब भी हैं और उसे नित्य समकालीन समस्याओं से संघर्ष कर अपना अस्तित्व कायम करना है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :-

1. भारतीय समाज की संरचना – एन. सी. ई. आर. टी.।
2. द चेंजिंग पोजीशन ऑफ इंडियन वूमन – एम. एन. श्रीनिवास।
3. भारतीय महिलाएँ : दशा एवं दिशा – सुभाष शर्मा।
4. वीमेन एण्ड सोसायटी इन इंडिया – नीरा देसाई।
5. वीमेन वेलफेयर एंड डेवलपमेंट – डी. चौधरी।
6. कुरुक्षेत्र – दिसम्बर 2001 एवं दिसम्बर 2007।
7. योजना – मार्च 2004 व अक्टूबर 2008।
8. बदलते भारत की समस्याएँ – जे. पी. सिंह।
9. भारत – 2001 तथा भारत . 2008।
10. प्रतियोगिता दर्पण– दिसम्बर 2005 ए सितम्बर 2008 तथा नवम्बर 2008।

समाजशास्त्र विभाग
गर्वमेन्ट पी. जी. कॉलेज,
नारायण नगर, पिथौरागढ़,
उत्तराखंड

रूढ़िवाद, साम्प्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता

विकास चन्द्र रंजन

मूल अवधारणाएं

रूढ़िवाद: सबसे पहले रूढ़िवाद का अर्थ समझें। रूढ़िवाद का अर्थ है धार्मिक ग्रंथों (जैसे बाइबिल, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, गीता) की मान्यताओं और सिद्धांतों को अविवाद्ध मानना। अनुयायी इसे ऐतिहासिक सत्य के रूप में देखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अनुयायी कट्टर दृष्टिकोण अपनाते हैं, वे अक्सर अपने स्वतंत्र राष्ट्र की मांग भी करते हैं। इसे भी ग्रंथों की भविष्यवाणी के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार रूढ़िवाद के कारण एक विशिष्ट समुदाय समाज की मुख्य धारा से अलग हो जाता है। पुलिस, सेना आदि की मदद से शेष समाज इन्हें दबाने या खत्म करने की कोशिश करता है, खासतौर पर तब जब ये कानून का उल्लंघन करने लगते हैं। साम्प्रदायिकता, हिंसा और दंगे फैलाती है। रूढ़िवाद और साम्प्रदायिकता के बीच अंतर यह है कि सामुदायिक आधिपत्य के अलावा साम्प्रदायिक दंगों का और कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता है। रूढ़िवाद एक संगठित आंदोलन है जिसका उद्देश्य विशेष रूप से धार्मिक प्रकृति के दृष्टिगत सामाजिक लक्ष्यों को बढ़ावा देना है। कार्यात्मक रणनीति में शांतिपूर्ण और युद्ध जैसे प्रयोग और आंदोलन शामिल हैं।

साम्प्रदायिकता: दूसरी ओर साम्प्रदायिकता का अर्थ है राजनीतिक उद्देश्यों से सामाजिक परंपराओं का सामुदायिक शोषण। इसका उद्देश्य है स्थापित समूहों के हितों को ठेस पहुंचाना। इस प्रकार साम्प्रदायिकता ऐसी विचारधारा है जिससे कोई समुदाय या सामाजिक समूह अपनी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक अभिलाषाओं की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। इसका अस्तित्व विशिष्ट प्रस्तावों और कार्यक्रमों पर निर्भर है। सामाजिक परिवर्तन के दौरान यह अस्तित्व विशिष्ट प्रस्तावों और कार्यक्रमों पर निर्भर है। सामाजिक परिवर्तन के दौरान यह

सक्रिय बनता है। भारत में साम्प्रदायिक औपनिवेश काल में उभरी। साम्प्रदायिक राजनीति धर्म और परंपरा के बल पर अपनी योजनाएं बनाते हैं। राजनीतिक संघटन हेतु इतिहास की व्यवस्था की जाती है। साम्प्रदायिक संगठनों में लोकतंत्र के लिए जगह नहीं है। इनका प्रजातिवादी दृष्टिकोण होता है और वे प्रजातिवाद का प्रचार करते हैं। वे समानतावाद को अनैसर्गिक समझते हैं। और पितृसत्ता का पारिवारिक और सामाजिक नियम के रूप में समर्थन करते हैं। साम्प्रदायिकता शब्द का प्रयोग दो तरह से किया जाता है:

1. विश्वास-व्यवस्था और
2. सामाजिक परिघटना।

पहले दृष्टिकोण के अनुसार साम्प्रदायिकता एक विचार-व्यवस्था का परिणाम है। इसके लिये घनिष्ठ सामुदायिक एकता आवश्यक है जो सही नहीं है। प्रायः देखा गया है कि समुदाय में आंतरिक मतभेद मौजूद हैं। ऐसे में इतिहास काम आता है। साम्प्रदायिकता के समर्थक समुदाय के समान दुःखों और लक्ष्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। दूसरे समुदायों की अपेक्षा उस समुदाय की अनन्यता पर जोर दिया जाता है जिससे अपने अधिकारों के लिए लड़ना अत्यंत सहज बनता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भारत में साम्प्रदायिकता उपनिवेशवाद की देन है जिसमें ब्रिटिश शासक प्रमुखता देकर विभिन्न समुदायों में मौजूद धार्मिक विरोधाभासों का प्रयोग करते थे। आजादी के बाद भारत के आर्थिक आधुनिकीकरण से आर्थिक अवसरों में वृद्धि हुई है परंतु इससे प्रतिस्पर्धा कम नहीं हुई है। नौकरियों में कम अवसर मिलने के कारण विभिन्न समुदायों में ईर्ष्या है। 1947 में राजनीतिक आजादी के कारण देश के दो भागों में बंटवारे से भयंकर साम्प्रदायिक रक्तताप हुआ।

धर्मनिरपेक्षता

भारत में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को रूढ़िवाद और साम्प्रदायिकता द्वारा उत्पन्न समस्याओं का हल करने के लिए अपनाया गया है। यह राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं जैसे जीवन के क्षेत्रों से धर्म का स्पष्ट अंतर दर्शाता है। प्रत्येक धर्म का आदर होना चाहिए और निजी तौर पर प्रचार होना

चाहिए। वैचारिक शब्दों में यह विश्वासों और प्रचलनों की वह व्यवस्था नहीं है जो राजीतिक विचारधारा के साथ मिलती है। कुल मिलाकर धर्मनिरपेक्षता धर्म को राज्यतंत्र से अलग करती है। यह इस दृष्टिकोण का भी समर्थन करती है कि सभी समुदायों को राज्य द्वारा समान अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त धर्मनिरपेक्षवादियों को सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति विवेकपूर्ण ढंग से तालमेल रखना चाहिए और सामाजिक जीवन को समतावादी तरीके से समझना चाहिए। धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय उन विचारों से है जो धार्मिक शिक्षा के विपरीत हैं। इसे धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से जोड़ा गया है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के विभिन्न वर्ग धार्मिक प्रतीकों और धार्मिक संस्थाओं से मुक्त होते हैं। धर्मनिरपेक्षता का विचार पश्चिम में आधुनिक विज्ञान और प्रोटेस्टैंट धर्म की बोली से दक्षिण एशियाई समाजों में आया है। यह परिवर्तन समस्याओं से भरा है और इसे सही प्रक्रिया के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता।

रूढ़िवाद के पहलू

अवधारणा के रूप में “रूढ़िवाद” का प्रयोग सर्वप्रथम 1910-1915 में किया गया था जब अज्ञात लेखकों ने साहित्य के 12 खण्ड प्रकाशित किए जो “फंडामेंटल्स” कहलाए। 20वीं शताब्दी के आरंभ में मुद्रण जगत ने इस शब्द का प्रयोग उत्तरी अमेरिका में रूढ़िवादी प्रोटेस्टैंट समूहों के संदर्भ में किया। ये समूह बाइबिल की उदार व्याख्याओं के बारे में चिंतित थे। इससे चिंतित होकर रूढ़िवादियों ने विश्वास (आथा) के कुछ “मूल सिद्धांतों” पर

जोर दिया। इसमें ईसा मसीह का जन्म, दैवत्व और पुनर्जीवन और धार्मिक ग्रंथ की विश्वसनीयता शामिल थी। ये और अन्य मूल सिद्धांत 12 पुस्तिकाओं में 1910-1915 के बीच प्रकाशित हुए जो “दि फंडामेंटल” (मूल सिद्धांत) कहलाए। इस प्रकार “रूढ़िवाद” की अवधारणा के विशिष्ट प्रयोग की शुरुआत हुई। बुनियादी आंदोलन वह आंदोलन है जो किसी धर्म ग्रंथ को बुनियादी मुद्दे के रूप में मानता है और जीवन का मार्गदर्शक समझता है। कुछ रूढ़िवादी यह मानते हैं कि धर्म ग्रंथ की व्याख्या करना आवश्यक नहीं है क्योंकि इसमें अर्थ स्वतः स्पष्ट होता है। इससे प्रायः किसी भी प्रकार की असहमति के प्रति असहनशीलता पैदा हो जाती है। इसलिए यह आशंका होती है रूढ़िवादी संकीर्ण और धर्मांध होते हैं।

टी.एन. मदान (1993) ने कहा है कि रूढ़िवादी शब्द समकालीन विश्व में लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है। उनके अनुसार इसका अभिप्राय विभिन्न मानदंडों, मूल्यों और मनोवृत्तियों से है जो या तो रूढ़िवादियों की आलोचना करते हैं या उनकी भर्त्सना करते हैं, इस शब्द का प्रयोग अधिकतर सांप्रदायिकता के स्थान पर भी किया जाता है। वास्तव में रूढ़िवाद शब्द आवरण शब्द (उसंदांमज जमतउ) हो गया है। इसका अर्थ यह है कि संसार में होने वाले विभिन्न रूढ़िवाद आंदोलन वास्तव में एकसमान नहीं होते परंतु वे कई प्रकार से एक दूसरे से अलग होते हैं। परंतु वे “परिवार” की समरूपता में जुड़े होते हैं। रूढ़िवादी आंदोलन सामूहिक चरित्र के होते हैं। इन आंदोलनों का चमत्कारी नेताओं द्वारा

प्रायः नेतृत्व किया जाता है जो सामान्यतया मनुष्य होते हैं। 1979 के ईरानी आंदोलन का नेतृत्व अयातुल्लाह खुमैनी ने किया था और हाल ही में सिक्ख रूढ़िवाद की लहर संत भिंडरावाले ने चलाई थी। रूढ़िवादी नेता धार्मिक नेता नहीं होते। मौलाना मौदूदी जो भारत में जमाते इस्लामी के संस्थापक थे एक पत्रकार थे और के.बी. राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के संस्थापक के.बी. हेडगेवार एक चिकित्सक थे।

रूढ़िवादी वे व्यावहारिक लोग हैं जो सभी अशुद्ध जीवन शैलियों को शुद्ध करने का प्रयास करते हैं, वे सभी भ्रष्ट जीवन शैलियों को अस्वीकार करते हैं। उदाहरण है परंपरागत और अंधविश्वास भरी जीवन शैली का आलोचक दयानंद मार्गी। इस प्रकार मौदूदी ने वर्तमान मुस्लिम जीवन पद्धति को “अज्ञानी” कहा और भिंडरावाले ने “पतित” सिक्खों का उल्लेख किया जो अपनी दाढ़ी बनाते हैं, अपने बाल काटते हैं और परंपरागत सिक्ख जीवन पद्धति का पालन नहीं करते। इसलिए रूढ़िवाद आंदोलन न केवल धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं के बारे में होते हैं बल्कि वे आमतौर पर जीवन पद्धतियों के बारे में भी होते हैं।

रूढ़िवादी आंदोलन उन व्यक्तियों के लिए प्रतिक्रियाशील होते हैं जो इनमें भाग लेते हैं जैसे नेता और उसमें भाग लेने वाले लोग। इसका अर्थ है वे पुनः परिभाषित मूल सिद्धांत जिनमें आज की जरूरतें शामिल हैं। इसमें आमतौर पर परंपरा का सुधार निहित होता है। यह परंपरा की एक खोज भी कही जा सकती है। दयानंद प्रकरण में इसे बहुत

अच्छी तरह समझाया गया है। ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मान्तरण की चुनौती के प्रत्युत्तर में स्वामी ने हिंदू धर्म विकसित करने का प्रयास किया। उन्होंने दावा किया कि वेद ही हिंदू धर्म का एक मात्र सत्य रूप है और उन्होंने वेदों के लिए आह्वान किया।

ईरान में खुमैनी ने इस्लामी राज्य विकसित किया जो काजियों के संरक्षण पर आधारित था। फिर भिंडरावाले ने अपने तात्कारलिक उत्तराधिकारियों की शिक्षाओं की अपेक्षा श्री गुरु गोविन्द सिंह की शिक्षाओं पर जोर दिया। **धार्मिक प्राधिकार का दावा और संस्कृति की आलोचना रूढ़िवादी के दो पहलू हैं।** राजनीतिक शक्ति का अनुसरण रूढ़िवादी

के लिए अत्यंत आवश्यक है। उत्तर भारत में आर्यसमाजी प्रबल राष्ट्रवादी थे और उनके आंदोलन में राजनीतिक स्वर था। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जिसे सांस्कृतिक संगठन कहा गया है, उसके घनिष्ठ संबंध राजनीतिक दलों और विशेषरूप से संघ परिवार से रहे हैं। इसमें हिंदू राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक और राजनीतिक दोनों पहलू शामिल हैं। इससे पता चलता है कि रूढ़िवादी आंदोलन प्रायः हिंसक क्यों हो जाते हैं और धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा को क्यों अस्वीकार कर दिया जाता है। वे सर्वसत्तावादी हैं और विरोध सहन नहीं कर सकते। हालांकि ये आंदोलन आधुनिक समाज में एक विशेष भूमिका

भी निभाते हैं जिसे नकारा नहीं जा सकता। इसलिए उद्देश्यपरक बौद्धिक विश्लेषण में रूढ़िवाद को एक विशिष्ट श्रेणी के रूप में माना जाना चाहिए। यह धर्म तंत्र नहीं है।

सन्दर्भ सूचि:-

1. टी. एन. मदन (सं.), रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
2. बार्थ ए., रिलिजन ऑफ इंडिया, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली।
3. श्री निवास एम. एन. एंड शाह ए. एम., हिंदूइज्म, इंटरनेशनल एनसायक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सेस, मैकमिलन कंपनी एंड फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क।

यू.जी.सी. नेट,
बीआरए, बिहार विश्वविद्यालय

मुंशी प्रेमचन्द साहित्य

निर्मला	125.00	प्रतिज्ञा	125.00
अहंकार	150.00	सेवासदन	200.00
सद्गति	100.00	गबन	200.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	150.00	कफन	200.00
न्याय	100.00	गोदान	250.00
चांदी की डिबिया	100.00	वरदान	125.00
कलम, तलवार और त्याग	125.00	प्रेमाश्रम	300.00
चुनी हुई कहानियां	200.00	कर्मभूमि	225.00
नारी जीवन की कहानियां	200.00	रंगभूमि	350.00
होली का उपहार	150.00	मानसरोवर (भाग-1)	200.00
मानसरोवर (भाग 1 से 8)	1600.00		

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053; फोन : 9811710900

धर्म एवं आर्थिक व्यवस्था

रणवीर कुमार

धर्म एवं समाज

क्या आपने अंग्रेजी फिल्म “दि गॉडज मस्ट बी क्रेजी” देखी है। यह अत्यंत दिलचस्प फिल्म है जिससे धर्म के उद्गम और विकास के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है। मोटे तौर पर छिपे रहस्य को समझने का मानव द्वारा किया गया प्रयास ही धर्म कहलाता है। शक्तियों का डर धर्म से जुड़ा हुआ है। जैसा कि आप जानते हैं, जीवन रहस्यों से भरा हुआ है। मृत्यु जन्म, सृजन और जीवन खुद अपने आप में एक रहस्य है। धर्म हमारे आस-पास के रहस्यों को खोलता है समाजशास्त्र के आरंभ से ही समाजशास्त्री मानव और धर्म को समझने में लगे हुए हैं। धर्म हमारे जीवन का एक आधार है और हमारी बोल-चाल में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। मिथक रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों द्वारा यह हमारे जीवन को अर्थ प्रदान करता है। धर्म से हमें अतीत का बोध और भविष्य के लिये लक्ष्य मिलते हैं।

धर्म एवं अर्थव्यवस्था

सामान्यतः अर्थशास्त्र वस्तुओं के उत्पादन और वितरण से संबंधित है। मनुष्य उत्पादन और वितरण की प्रक्रियाओं से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। किन्तु वस्तुओं का उत्पादन और वितरण होगा, यह समाज की खपत विशेषताओं के सामान्य प्रारूप पर निर्भर करता है। पिछले भाग में हमने कहा कि धर्म हमारी कथनी और करनी को प्रभावित करता है। स्वाभाविक है कि धार्मिक मान्यताएं और मूल्य काम धंधे और उपभोग के प्रति भी मानव व्यवहार पर असर डालते हैं। जिस धर्म में मनुष्य की मुक्ति का मार्ग कठोर परिश्रम माना गया है, उसके अनुयायी निश्चित रूप से समर्पित और ईमानदार श्रमिक होंगे। दूसरी ओर, यदि किसी धर्म में काम को पापों की सजा के रूप में देखा गया हो तब तो उसमें समर्पित और ईमानदार श्रमिक मिलने से रहे। इस बात को एक अलग तरह से देखें।

यदि किसी धर्म में काम के प्रति ईमानदारी और लगन पर बहुत जोर हो तो अनुयायी कारखानों में श्रमिकों के शोषण को नजरअंदाज भी कर सकते हैं।

धार्मिक मान्यताएं उपभोग को भी प्रभावित करती हैं। यदि किसी धर्म के अनुयायी शुद्ध शाकाहारी हों, तो मांस की मांग ही नहीं होगी। यदि किसी समाज में शंखों का धार्मिक महत्व हो तो उन्हें सुरक्षित/ संरक्षित किया जायेगा। यदि मद्यपान निषिद्ध हो तो शराब के कारखानों को बंद कर दिया जायेगा। इसलिए यह कहना सही है कि धर्म मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करता है। अक्सर यह भी देखा गया है कि आर्थिक संकटों से धर्म उत्पन्न होता है। भारत की अनेक जनजातियों में भूमि हस्तान्तरण और गरीबी की वजह से नये धार्मिक पंथों का उदय हुआ है। नये ‘मसीहे’ या पैगंबर इन पंथों के माध्यम से संकट का सामना करने का प्रयास करते हैं। अभी तक हमने दर्शाया कि धार्मिक मान्यताएं और मूल्य उत्पादन, वितरण और उपभोग को प्रभावित करते हैं। कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर जैसे शास्त्रीय विचारकों ने इस संबंध पर और विशेषतः पूंजीवाद पर गहरा चिंतन किया है।

धर्म एवं पूंजीवाद

प्रत्येक युग की अपनी विशिष्ट अर्थव्यवस्था होती है। सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद इसके कई उदाहरण हैं। उत्पादन, वितरण और उपभोग का स्वरूप और संगठन विविध आर्थिक व्यवस्थाओं में एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हैं। 15वीं और 16वीं शताब्दियों में यूरोप में विज्ञान, दर्शन एवं पुनर्जागरण (रनेसान्स) के प्रभाव से सामंतवाद का पतन हो रहा था। अनेक सामंतवादी देशों में कैथोलिक चर्च की मजबूत जड़ें थीं। सामंतवाद के परिवर्तन के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी परिवर्तन आने लगा। कैथोलिक चर्च के धर्मसिद्धांतों को नई विचारधाराओं ने चुनौती दी। ‘पोप’ का आधिपत्य, राष्ट्र के कार्य में चर्च का दखल विशेष रूप से कड़ी आलोचना के विभिन्न यूरोपीय देशों में अनेक प्रोटेस्टेंट पंथों का उदय हुआ। बहुत से विद्वानों ने पूंजीवादी और धर्म के संबंध और विशेषरूप से प्रोटेस्टेंटवाद को समझने का प्रयास किया। कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर ऐसे दो विद्वान हैं, जिन्होंने इस संबंध पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला।

(i) कार्ल मार्क्स (1818-1883)

मार्क्स ने अपना ध्यान धर्म पर नहीं बल्कि पूंजीवादी

व्यवस्था के अध्ययन पर केंद्रित किया। पर पूंजीवाद के अध्ययन के दौरान उसने समाज के बारे में एक व्यापक दृष्टिकोण का भी विकास किया जिसके अंतर्गत समाज के लगभग सारे पहलू विशेषतः धर्म और राजनीति शामिल थे। मार्क्स की सामाजिक परिकल्पना का एं ऐसा आर्थिक आधार था जो धर्म, राजनीति और कला आदि से गठित अधिरचना को बाधित करती है। जर्मनी के यहूदी समाज के सदस्य होने के नाते मार्क्स ने हेगल और फ्यूअरबॉक की बौद्धिक विरासत का लाभ उठाया। दूसरे शब्दों में मार्क्स द्वारा धर्म के विषय में विचार मोटेतौर पर हेगल और फ्यूअरबॉक के विचारों की प्रतिक्रिया के रूप में हैं।

हेगल : हेगल ने मानव इतिहास को तीन युगों में विभाजित किया जो कि “परम आत्मा” के विकास से जुड़े हुए हैं। यह परम आत्मा क्या है। यह उस शक्ति का नाम है जो व्यक्तिगत और वस्तुगत तत्वों का एकीकरण है। साधारण शब्दों में यह मनुष्य और सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था के बीच तर्कशास्त्रीय एकता है। इतिहास के पहले दौर या युग में यह परम आत्मा कला का रूप लेती है। दूसरे युग में “धर्म” का, तीसरे व अंतिम युग में “संपूर्ण ज्ञान” का रूप लेती है। दूसरे युग में मनुष्य ईश्वर के बारे में सोचने लगता है। हेगल कहता है कि मनुष्य और ईश्वर का संबंध मनुष्य और मनुष्य के संबंध में प्रतिबिंबित होता है।

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, पहली बात यह है कि मनुष्य जीवन आदर्श या दिव्य क्षेत्र/ जगत का भौतिक रूपांतर है, दूसरी और धर्म यह दर्शाता है कि मनुष्य किस प्रकार अपने बारे में सोचता है या अपनी कल्पना करता है। यदि हम

पहली बात को बढ़ायें तो हम देख सकते हैं कि धर्म वह नींव है जिस पर अनेक सामाजिक व्यवस्थाएं या आदि संरचना टिकी हुई हैं। ईसाई धर्म का उदाहरण देते हुए हेगल कहता है कि इसके उदय के कारण ही उदारवादी राष्ट्र पनप सकें। हेगल की विचारधारा में एक कमी है। यह सही है कि वह मनुष्य और ईश्वर के भेद को खत्म अवश्य करता है, पर ऐसा मालूम होता है कि धार्मिक विचारों का उच्च मार्ग दर्शक शक्ति के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व है। फिर भी यह बात विवादास्पद है।

(ii) फ्यूअरबॉक

फ्यूअरबॉक के अनुसार धर्म मनुष्य के आत्मबोध का वास्तविक रूप है। ईश्वर मनुष्य के गुणों का प्रतिबिंब है, जिसे उच्च स्थान दिया गया है। ईश्वर का ज्ञान आत्मिक ज्ञान है, और ईश्वर का बोध आत्म बोध है। मनुष्य के विचार ही उसके भगवान हैं। ईश्वर के माध्यम से मनुष्य को पहचाना जा सकता है, और मनुष्य के माध्यम से उसके ईश्वर को। फ्यूअरबॉक के विचार में धर्म के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य अपने बारे में क्या सोचता है। फ्यूअरबॉक के विचार में धर्म के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य अपने बारे में क्या सोचता है। फ्यूअरबॉक मानता है कि धार्मिक विचारों की जड़ मनुष्य के मन में ही होती है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने की क्षमता सीमित होने के कारण मनुष्य एक सर्वशक्तिमान ईश्वर का निर्माण करता है, जो सारे गुणों से निपुण है।

(iii) हेगल और फ्यूअरबॉक की आलोचना

कार्ल मार्क्स फ्यूअरबॉक से एक कदम

आगे बढ़ा। उसने यह सवाल किया; कैसी सामाजिक परिस्थितियां मनुष्य को धर्म की ओर आकृष्ट करती हैं। मार्क्स के विचारों को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न अत्यंत स्वाभाविक सिद्ध होता है। आप तो जानते ही हैं कि मार्क्स के अनुसार समाज मानव की चेतना को निधारित करता है। अतः जिन समस्याओं के हल के लिए धर्म आवश्यक होता है वे सिर्फ व्यक्तिगत ही नहीं, बल्कि विशिष्ट शोषक सामाजिक परिस्थितियों से पैदा होती है। इस प्रकार, मार्क्स के विचार में धर्म समाज से ही पैदा होता है। मोटेतौर पर मार्क्स के धर्म पूंजीवाद संबंधित विचार तीन मुद्दों से संबद्ध हैं: प्रथम, धर्म सिर्फ एक माया है, जो समाज की वास्तविक शोषक परिस्थितियों को छुपाता है, दूसरा, धर्म विरोध प्रकट करने का माध्यम अर्थात् अलगाव का एक रूप है, तीसरा, धर्म का पतन आलोचना से नहीं, बल्कि उन सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन से होगा, जिन्होंने धर्म को जन्म दिया।

(iv) मार्क्स: धर्म एक विचारधारा है

धर्म के दो कार्य हैं; यह शासक वर्ग की राजनीतिक विचारधारा के रूप में काम करता है। धर्म आम जनता के लिए नशीली वस्तुओं के समान है। मार्क्स के धर्म संबंधित विचार 19वीं शताब्दी के प्रशियाई राष्ट्र और प्रोटेस्टैंट धर्म के अनुभव से प्रभावित रहे हैं। प्रशियाई राष्ट्र प्रोटेस्टैंट धर्म को प्रोत्साहन और रक्षा प्रदान कर रहा था, जिसकी मार्क्स ने आलोचना की। इसका कारण यह था कि प्रोटेस्टैंट धर्म उस नये वर्ग की विचारधारा के रूप में काम करने लगा जो सामंतवाद के पतन के बाद उभरा।

(v) मार्क्स: धर्म अलगाव का रूप है

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज और वस्तु उत्पादन वाली बाहरी विशेषता के रूप में भी धर्म को समझा है। जैसा कि आप जानते हैं, वस्तु मनुष्य के श्रम का फल होता है। इसमें श्रम का सामाजिक पहलू वस्तु के रूप में सामने आता है। यहां उत्पादकों और उनके श्रम का संबंध उनके बीच के संबंध के रूप में नहीं बल्कि उनके अपने श्रम की वस्तुओं के बीच के संबंध के रूप में दर्शाया जाता है। इस प्रकार पुण्य वे सामाजिक वस्तुएं हैं जिनके गुण इंद्रियों से समझे नहीं जा सकते हैं। तब मनुष्यों के संबंध वस्तुओं के बीच के संबंध बनते हैं ऐसे में पुण्यों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। इसी तरह धर्म जो मनुष्य से अलग किये गये श्रम का फल है, स्वतंत्र होकर मनुष्य पर हावी होता है। मनुष्यों के सामाजिक संबंध पराये वस्तुओं के संबंधों की तरह लगने लगते हैं, पुण्य-पदार्थों और धर्म दोनों के स्तर पर इस प्रकार धर्म अलगाव पैदा करता है। इस जीवन के दुखों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य परलोक की कल्पना करता है। फ्यूअरबॉक के अनुसार

मनुष्य की चेतना को बदलना होगा, ताकि उसे वे गुण वापस मिल जाये जो उसने ईश्वर को प्रदान कर दिये हैं।

जब हर प्रकार के शोषण का विनाश हो तो धर्म की आवश्यकता ही नहीं होगी। जब मनुष्य स्वतंत्र होकर आपसी संबंध कायम कर सकें और दुखों का अंत हो तो धर्म की क्या आवश्यकता। मार्क्स कहता है: “धर्म के विरुद्ध संघर्ष... अप्रत्यक्ष रूप से उस विश्व के विरुद्ध संघर्ष है जिसका आध्यात्मिक अंग धर्म है” (1975: 38)।

मैक्स वेबर (1864-1920)

मैक्स वेबर ऐसे दूसरे जर्मन विद्वान हैं जिन्होंने यूरोप में पूंजीवाद के उदय का अध्ययन की मूल धारणा तर्कसंगति या तर्कसंगतिकरण पर है। तर्कसंगतिकरण के अंतर्गत दो प्रक्रियाएं साथ-साथ सामने आती हैं: प्रथम जादुई विचारों में परिवर्तन और दूसरी, विचारों का क्रमबद्ध या व्यवस्थित होना और उनमें एक प्रकार की स्वाभाविक एकरूपता का आ जाना। (गर्थ और मिल्स 1952-51)।

वेबर तर्कसंगतिकरण की इस धारणा का प्रयोग धर्म, विज्ञान, कला, प्रशासन

और राजनीति में परिवर्तन को समझने के लिए करता है। वेबर मानता है कि पूंजीवाद का जन्म आर्थिक क्षेत्र के तर्कसंगतिकरण की उच्चतम कोटि से हुआ। वेबर मानता है और सिद्ध करता है कि विचार विकास की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं। पूंजीवाद के विकास में प्रोटेस्टैंट पंथों के विचारों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मैक्स वेबर द्वारा रचित “प्रोटेस्टैंट एथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म” 1904 और 1905 के बीच जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। तब से यह दुनिया भर के समाज वैज्ञानिकों के लिये चर्चा का विषय बना है। खासतौर पर दूसरे महायुद्ध के बाद तीसरी दुनिया (विकासशील देशों) के विद्वान भी इस चर्चा में हिस्सा लेने लगे।

सन्दर्भ सूचि:-

1. मजुमदार, डी.एन. और मदन टी.एन., एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल एंथ्रोपोलोजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई।
2. ओ. डेय और थोमस, एफ., द सोशियलॉजी ऑफ रिलिजन, प्रेंटिस हाल, इंग्लेवुड क्लिफस, न्यू जेर्सी।
3. प्रभु. पी.एन., हिन्दू सोशल आग्रनाइजेशन, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई।

श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी	इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ. सुधा सिंह	200.00
उत्तरांचल की लोककथाएं	राकेश चक्र	150.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1	अन्तोन चेखव	200.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2	अन्तोन चेखव	200.00
ओ. हेनरी की अमर कहानियां	ओ. हेनरी	150.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	प्रेमचन्द	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053 फोन : 9811710900

धर्म के प्रकार्यवादी सिद्धांत

नीलम कुमारी

विकासवाद का पुनरावलोकन

उन्नीसवीं शताब्दी में धर्म की जो विकासवादी व्याख्या जोर-शोर से प्रचलित हुई, वह प्रत्यक्षवाद, प्रज्ञावाद तथा धार्मिक भावनाओं के मिश्रण पर आधारित थी। धर्मों की प्रगतिवादी व्याख्या से उत्पन्न विकासवादी अवधारणाएं अधिकतर अनुमानों पर आधारित थीं। दूसरे शब्दों में, उस समय समाज का एक और विशेष रूप से धर्म का इतिहास पर्याप्त ज्ञान सामग्री की बजाय अनुमानों के सहारे रचा गया।

धर्म के विकासवादी सिद्धांतों में धर्म की व्याख्या व्यक्तिगत विचार, प्रक्रियाओं अथवा मनोवैज्ञानिक धारणाओं (अर्थात् “भय”, “आश्चर्य”, “स्वप्न” आदि) के संदर्भ में की गई विकासवादी सिद्धांतों के विरोधियों को यह आधार मंजूर नहीं था। उनका कहना था कि सामाजिक तथ्यों की व्याख्या प्राकृतिक अथवा व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं सामाजिक कारणों के आधार पर की जानी चाहिए।

विकासवादी विद्वान धर्म को इसलिए नहीं समझ पाए क्योंकि उन्होंने पहले से ही धर्म को “अज्ञान” का प्रतीक तथा “तर्कहीनता का वाहक” मान लिया था। उन्होंने आज के युग में रह रहे पूर्व-आधुनिक अथवा “आदिम” समाजों पर गौर करके अथवा उनके बारे में एकत्रित विवरणों को पढ़कर धर्म और समाज की उत्पत्ति की व्याख्या करनी चाही। ऐसा करने में एक अंतर्निहित पूर्वधारणा (जिसे प्रगतिवादी विचार भी कहा जाता है) यह थी कि पश्चिमी और औद्योगिक समाज (जिनके वे विद्वान थे) शेष समाजों से अधिक विकसित तथा अधिक सभ्य थे। विकासवाद के आलोचकों का मत था कि सार्विकीय (नदपअमतेंस) सिद्धांत विकसित करने के लिए इस पूर्व-धारणा को बेअसर या प्रभावहीन करना होगा। इन आलोचकों ने आदिम समाजों के बारे में उटपटांग ढंग से इकट्ठे किए गए तथ्यों पर आपत्ति की और तथ्यों के वैज्ञानिक ढंग से संकलन को महत्व दिया।

नृजातिशास्त्रियों तथा नृजातिविवरणशास्त्रियों द्वारा आदिम तथा अन्य समाजों के बारे में कड़ी मेहनत से एकत्र किए गए आंकड़े प्रकाशित किए जाने से पहले भी धर्म तथा अन्य विषयों को समझने के लिए प्रकार्य का विचार प्रयुक्त होता था। पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा नैतिक क्षेत्रों की गतिविधियों के बीच प्रकार्यात्मक संबंधों के बारे में लिखा था। उनकी मान्यता थी कि इनमें से किसी एक क्षेत्र में परिवर्तन होने पर अन्य क्षेत्रों में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन होने लगता है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में इंग्लैण्ड में मैलिनॉस्की और रैंडक्लिफ-ब्राउन तथा अमेरिका में पार्सन्स और मर्टन के प्रयासों से प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को लोकप्रियता मिली तथा इस दृष्टिकोण ने धर्म के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अधिकतर प्रकार्यवादियों ने धार्मिक आचरण की व्याख्या के लिए जिन अवधारणाओं का प्रयोग किया, वे अधिकांशतः दुर्खाइम से ग्रहण की गई थी। यद्यपि दुर्खाइम को प्रकार्यवादी नहीं माना जाता है किंतु दुर्खाइम द्वारा धर्म के प्रारंभिक रूपों के संबंध में किए गए शोध को प्रकार्यवादियों ने स्वयं एकत्र किए गए तथ्यों के विश्लेषण का आधार बनाया। यही कारण है कि इसमें दुर्खाइम तथा उसके समकालीन समाजशास्त्रियों के विचारों का विस्तार से विवेचन किया जाएगा। किंतु धर्म के अध्ययन के बारे में दुर्खाइम से पहले प्रकार्यवाद की स्थिति क्या थी।

प्रकार्यवाद

समाज को विनियमित करने वाले सामान्य नियमों की अपनी तलाश में पूर्ववर्ती विद्वानों ने अनुमानों के आधार पर मानव समाजों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किया। इसके विपरीत, प्रकार्यवादियों ने समकालीन समाजों की प्रक्रियाओं को समझने की चेष्टा की। उनके मस्तिष्क में प्रमुख प्रश्न यह था कि समाज विशेष का अस्तित्व कैसे बना रहता है? इस प्रश्न के उत्तर में वे प्रकार्यवादी व्याख्या की और उन्मुख हुए। आइए देखें, प्रकार्यवाद क्या है।

प्रकार्यवाद क्या है?

सबसे पहले, आपसे एक प्रश्न है: भाप का इंजन कैसे

चलता है? आप भाप के इंजन के काम करने का वर्णन शायद कुछ इस प्रकार करें: पानी को खूब गर्म किया जाता है जिससे भाप पैदा होती है और भाप का भारी दबाव बनता है। टैंक में भाप के भारी दबाव के कारण उसमें लगा पिस्टन आगे-पीछे होने लगता है। फलस्वरूप पिस्टन के साथ जुड़े पहिए तेजी से घूमने लगते हैं। मोटे तौर पर भाप के इंजन के चलने या काम करने का यही तरीका है। इंजन के काम करने की इस प्रणाली के विभिन्न हिस्से हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हैं। पूरी प्रणाली के संदर्भ में इन हिस्सों का अपना-अपना खास काम है यदि इनमें से कोई हिस्सा खराब हो जाए तो हो सकता है कि पूरी प्रणाली अर्थात् भाप इंजन काम न करे अथवा रुक-रुक कर चलने लगे। यही बात समाज के बारे में कही जा सकती है।

प्रकार्यवादी, समाज को एक ऐसी ही प्रणाली की तरह देखते हैं। प्रकार्यवादियों की भांति आइए हम समाज को एक प्रणाली के यप में देखें जिसमें एक-दूसरे से जुड़े कई भाग हैं यानी संस्थाएं हैं। उदाहरण के लिए एक संस्था के रूप में परिवार समाज के सदस्यों को जन्म देता है। एक अन्य-संस्था-विद्यालय का कार्य इन सदस्यों को उनकी भावी भूमिकाओं के लिए प्रशिक्षित करना है। दूसरी और उद्योग का काम समाज को बनाए रखने के लिए आवश्यक सामान का निर्माण करना है। यदि इनमें से एक भी टपक पड़ जाए तो समाज में गड़बड़ी पैदा हो सकती है। बताइए, क्या यह सही नहीं है?

प्रकार्यवादियों के मन में समाज

एक-दूसरे से जुड़े विभिन्न भागों वाली एक प्रणाली है। प्रणाली के अंतर्गत ये भाग निश्चित प्रकार्य संपन्न करते हैं ताकि प्रणाली बनी रहे। यह कथन, असल में, प्रकार्यवाद का अत्यंत सरल रूप में व्यक्त किया गया विचार है। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि आप इसे आसानी से समझ सकें। प्रकार्यवादी चिंतन के भीतर कई तरह की विविधताएं हैं। समाजशास्त्र में मैलिनास्की, रैडक्लिफ-ब्राउन, पार्सन्स तथा मर्टन ने प्रकार्यवाद का विवेचन किया है।

प्रकार्यवादी चिंतन का इतिहास

यदि आप किसी प्रणाली का प्रकार्यवादी विश्लेषण करना चाहें तो सबसे पहले आपको प्रश्न करना होगा कि प्रणाली करती क्या है? संपूर्ण इकाई के लिए उसका एक भाग क्या भूमिका निभाता है? प्रणाली के हिस्से एक-दूसरे से किस प्रकार जुड़े हुए हैं? आपको आश्चर्य हो रहा होगा कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, विशेषकर दुर्खाइम से पहले, इस प्रकार क प्रश्न किसी ने क्यों नहीं पूछे।

वास्तव में दुर्खाइम से पहले ऑगस्टे क्रॉम्टे, टोकविल तथा हर्बर्ट स्पेंसर जैसे विद्वानों की रचनाओं में यह प्रश्न उभरने लगे थे। वे इस तरह के प्रश्न पूछने लगे थे कि समाज के संचालन एवं उत्कर्ष के लिए धर्म क्या कर सकता है? और, तेजी से औद्योगिकृत हो रहे समाज के लिए किस प्रकार का धर्म आवश्यक प्रकार्य संपन्न कर सकेगा?

फ्रांसीसी विद्वान ऐलेक्सिस द टोकविल (1805-1859) ने बहुत पहले ही यह समझ लिया था कि धर्म समाज

के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रकार्य कर सकता है। उसके समय में अधिकतर विद्वानों का मानना था कि लोकतंत्र को धर्म से पुष्टि नहीं मिलती। अमेरिकी इंजीली (*evangelical*) प्रोटेस्टैंट संप्रदाय के अध्ययन में टोकविल ने यह सिद्ध किया कि इस संप्रदाय ने अमेरिका में लोकतांत्रिक चेतना फैलाने में मदद दी। टोकविल की यह भी मान्यता थी कि थोड़े से संशोधन रूप में कैथोलिक संप्रदाय से फ्रांस में लोकतंत्र को आगे बढ़ाया जा सका था। फ्रांसीसी विद्वान ऑगस्टे क्रॉम्टे ने अपने देश की जनता में समाज के प्रति अधिक समर्पण भाव पैदा करने के लिए “मानवतावादी धर्म” का प्रस्ताव रखा था।

अंग्रेज दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने प्रकार्यवादी चिंतन को अधिक व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादित किया। उसने समाज की तुलना मानव शरीर से की। जैसा कि हमें मालूम है, हमारे शरीर में प्रकृति ने विभिन्न अंगों के बीच समन्वय बना रखा है। इसी प्रकार समाज में भी विभिन्न संस्थाओं के बीच तालमेल होना स्वाभाविक है। स्पेंसर यह जानकर हताश हुआ कि सामाजिक संस्था के रूप में विकसित तथा औद्योगिक समाज की अन्य संस्थाओं से धर्म मेल नहीं खाता।

प्रसिद्ध प्रकार्यवादी मैलिनास्की ने धर्म, विज्ञान तथा जादू-टोने के बारे में लिखा तथा उनके प्रकार्यों का विवेचन किया। यद्यपि उसने प्रारंभिक आचारों और विश्वासों से संबंध में विपुल सामग्री प्रस्तुत की, परंतु धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में उसने कोई सैद्धांतिक दृष्टि से नई अवधारणा नहीं दी। दूसरे प्रकार्यवादी

विद्वान् रैडक्लिफ-ब्राउन ने भी धर्म के प्रकार्यों पर विचार किया। वह फ्रांसीसी विद्वान् दुर्खाइम के विचारों पर अत्यधिक आश्रित था दुर्खाइम के धर्म का सिद्धांत काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि धार्मिक तत्वों पर होने वाले समाजशास्त्रीय शोध को आगे बढ़ाने में इसकी काफी प्रचंड भूमिका थी।

फ्रांसीसी इतिहासकार फ्रस्टेल द कौलांज और एक समय कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में रहे अरबी के प्रोफेसर राबर्टसन स्मिथ दोनों का मानना था कि आदि समाज के स्वरूप से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। राबर्टसन स्मिथ (1927: 227) के अनुसार जनजाति के कुल के सभी सदस्यों का खून एक था। उनका मानना था कि कुलदेव में भी यही खून था क्योंकि उन्हें कुल-संस्थापक के जन्मदाता के रूप में माना जाता था। अन्य शब्दों में कुलदेव स्वयं ही कुल थे। परमेश्वर की यह ठोस प्रस्तुति, टोटमवादी जीवों के रूप में की गई ऐसे टोटमवादी जीवों की बलि चढ़ाना और इनके मांस और खून को चखना परम प्रसाद माना गया है। इस दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित हुए दुर्खाइम ने दर्शाने का प्रयास किया कि, किस प्रकार समाज का अस्तित्व ही उत्पत्ति का आधार बना। दुर्खाइम ने धर्म को एक सामाजिक तत्त्व बताया

दुर्खाइम न उन विद्वानों की आलोचना की जो धर्म की व्याख्या व्यक्ति के मनोविज्ञान के संदर्भ में करते थे। उसका प्रश्न था कि यदि धर्म किसी भ्रम या माया की उपज है तो वह इतने लंबे समय तक जीवित कैसे रहा है और सारे संसार में इसका अस्तित्व क्यों है? मैक्स

मूलर द्वारा प्रतिपादित प्रकृति-मिथक विचारधारा को दुर्खाइम शब्दों का आडंबर और रूपक अलंकारों का खेल मात्र मानता था। उसका तर्क था कि अनेक आदिम समुदाय तथाकथित महत्वपूर्ण प्राकृतिक शक्तियों-सूर्य, चंद्रमा, आकाश, समुद्र आदि को नियमित रूप से घटने वाली चीज मानते हैं। दुर्खाइम का कहना था कि धर्म के आदिरूप अर्थात् टोटमवाद में तो केवल सामान्य जीवों की पूजा की जाती थी। उदाहरण के लिए खरगोश, मेंढक, कीड़े-मकोड़ों आदि मामूली प्राणियों को पूजा जाता था, जो न तो भयकारी थे और न ही रहस्यपूर्ण अथवा प्रभावशाली थे। इस तरह प्रकृति-पूजा के सिद्धांत का खंडन करते हुए उसने धर्म के महत्व को उसके सामाजिक संदर्भ में खोजा। अगले अनुभाग में यह देखा जाएगा कि दुर्खाइम ने किस प्रकार सामाजिक संदर्भ में धर्म की व्याख्या एक सामाजिक तथ्य के रूप में की।

प्रकार्यों की दृष्टि में धर्म

जिस समय बहुत से विचारक धर्म की समाज में भूमिका के बारे में संशय में थे, तब दुर्खाइम (1858: 1917) ने समाज के लिए धर्म के सकारात्मक प्रकार्यों की व्याख्या प्रस्तुत की। दुर्खाइम विकासवादियों के तर्कों से संतुष्ट नहीं था। विकासवादियों का कहना था कि आने वाले समय में धर्म का महत्व घटता जाएगा। धर्म के संबंध में दुर्खाइम के मुख्य तर्क उसकी पुस्तक द ऐलीमेंट्री फार्मस ऑफ द रिलीजस लाईफ में प्रकाशित हुए। यह पुस्तक 1912 में फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित हुई और 1915 में इसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ।

सन्दर्भ सूचि:-

1. बैल, अर्ल. एच.: सोशल फाउंडेशन आफ ह्यूमैन बिहेवियर, न्यूयार्क, हार्पर।
2. समनर-डल्यू, जी.: फोकवेज, बोस्टन, गिन एंड कंपनी।

रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्य

टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 1	300.00	घर और बाहर	225.00
टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 2	300.00	गीतांजलि	200.00
टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 3	300.00	कौन किसी का	100.00
टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 4	200.00	बहुरानी	200.00
त्याग का मूल्य	250.00	काबुलीवाला तथा अन्य कहानियां	200.00
आंख की किरकिरी	250.00	बाल-साहित्य	200.00
गोरा	300.00		

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053 फोन : 9811710900

धार्मिक पर्वों का सामाजिक महत्व

सुजीत कुमार बसंत

धार्मिक पर्व क्या है?

पर्व का अर्थ होता है आनंदपूर्ण उत्सव भोज। इसका अर्थ सार्वजनिक उत्सव या आमोद-प्रमोद भी होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी किसी नियत दिन या ऋतु में आनंदपूर्वक सामाजिक उत्सव करना या आमोद-प्रमोद पर्व के अनिवार्य तत्व हैं। आमतौर पर, इस प्रकार के उत्सव में भोज भी शामिल होता है। जब दैवीय तत्व से जुड़े होने के कारण किसी पर्व में मोक्ष प्राप्ति के माध्यम के रूप में प्रार्थना और साधना के अनुष्ठान और उत्सव भी जुड़ते हैं तो वह धार्मिक हो जाता है। भारत में, पर्व या त्योहार अधिकतर धर्म और जादू के अटूट क्रम की परिधि में पड़ते हैं। उनमें से कुछ की प्रकृति तो धार्मिक होती है और कुछ की जादू की। अधिकतर पर्वों में धर्म और जादू दोनों का मिलाजुला पुट होता है।

दैवीय तत्व से जुड़े होने के कारण धार्मिक पर्व को पवित्र माना जाता है। यह एक ऐसी परंपरा है जिसने संस्कार और तत्वों का आनुष्ठानिक नैत्यीकरण कर दिया है। जो संस्कार और उत्सव अत्यधिक नैत्यिक और परिष्कृत होते हैं उन्हें पुरोहित या जादू टोना करने वाले संपादित कर सकते हैं। लेकिन अन्य संस्कारों और उत्सवों को समूह के स्तर पर अनौपचारिक रूप से संपादित किया जा सकता है। दीपावली मनाते समय परिवार के स्तर पर देवी लक्ष्मी की पूजा उतनी अधिक नैत्यीकृत और औपचारिक नहीं होती जितनी की महाशिवरात्रि पर्व के उत्सव के समय किसी प्रतिष्ठित मंदिर में शिव की पूजा होती है।

सामाजिक महत्व का अर्थ

धार्मिक पर्व अपनी प्रकृति के चलते सामाजिक संबंधों के सुरक्षित तंत्र में अपना स्थान बना लेता है। सामाजिक संबंधों

के तंत्र के स्वरूप की यह रचना समाज के स्तर पर और/ अथवा समूहों के स्तरों पर हो सकती है। अर्थात् जैसा कि हमारे समाज में है, ऐसा परिवार, जाति, शहर, क्षेत्र और विभिन्न प्रकार के धार्मिक समूहों के स्तरों पर हो सकता है। समाजशास्त्री/ मानवविज्ञानी जिसे “धार्मिक अनुभव” कहते हैं, धार्मिक पर्व उसी की एक सामाजिक अभिव्यक्ति है।

इमाइल दुर्खाइम के अनुसार ज्ञान की सीमाओं के परे जो चीजें हैं तमाम किस्म के उनके बारे में उठने वाले सवाल उस मानवीय सामाजिक अनुभव का आधार होते हैं जिसे धर्म कहते हैं। इस विषय में विवेचन के लिए हम निम्न उदाहरण लेंगे

1. मुहर्रम मनाने में शिया और सुन्नी मुसलमानों में सामाजिक संबंधों, अभिवृत्तियों और धार्मिक विचारधारा के अलग-अलग तंत्र देखने को मिलते हैं। मुसलमानों के लिए मुहर्रम सामूहिक अस्मिता की अभिव्यक्ति का उपाय भी है। और अंतर सामूहिक विभेदन और संघर्ष का मुद्दा भी।
2. होली के उत्सव में शहरी और देहाती स्तरों पर सामाजिक संबंधों और धार्मिक अभिवृत्तियों का एक जैसा सुरक्षित तंत्र देखने में नहीं आता। शहर में होली अधिकतर औपचारिक रूप से संगठित समूहों में मनाई जाती है। उर्वरता, फसल की प्रचुरता और अंतर्जातीय संबंधों की अंतर्धाराओं का शहर में लोप हो गया है। इसके साथ ही, शहर में प्रकृति की वह मनोहर छटा नहीं होती जो ग्रामीणों में इस सुपरिचित मस्ती का कारण होती है।
3. बंगालियों में बसंत पंचमी का पर्व अन्यो की तुलना में कहीं अधिक उत्साह से मनाया जाता है। वही पर्व भक्ति संप्रदाय के शिवनारायणी पंथ के अनुयायियों के लिए एक बिल्कुल ही अलग किस्म का महत्व धारण कर लेता है। इस अवसर पर, वे लोग रात में मुरु की गद्दी का आयोजन करते हैं। इसकी अगुआई स्थानीय महंत करता है। यहां पर लोग पंथ के संस्थापक शिवनारायण के लिए भजन गाते हैं। उन भजनों का अर्थ आम लोगों को समझाया जाता

है। इसी समय इस पंथ में शामिल हुए नए लोगों को गुरु के बताए मार्ग में दीक्षित किया जाता है। इस अवसर पर गुरु एक प्रकार से सरस्वती का ही रूप होता है जिस की पूजा के साथ बसंत पंचमी जुड़ी होती है।

उपर्युक्त उदाहरण की रोशनी में अब हम यह सवाल उठाते हैं कि धार्मिक पर्व के सामाजिक महत्व का क्या अर्थ लगाया जाना चाहिए। क्या हम स्वयं को इसकी सार्थकता तक सीमित रखें? निश्चित रूप से हम ऐसा ही करेंगे। लेकिन यह हमारे या आपके द्वारा समझी गई सार्थकता नहीं होगी। ऐसा करना मनमानापन, वैयक्तिक और अत्यधिक असमाजशास्त्रीय होगा।

सामाजिक होने के लिए, 'महत्व' को हमें इस अर्थ में समझना होगा कि उस पर्व को मानने वाले उसकी क्या सार्थकता समझते हैं। इसके महत्व को हमें सामाजिक संबंधों के उस सुरक्षित तंत्र के संदर्भ में समझना होगा जिसमें उक्त स्थान बनाता है।

इसी सार्थकता और महत्व दोनों को व्यक्ति के समाज और संस्कृति और उस स्तर पर उनके संबंध और संरचना के संदर्भ में समझना होगा जो हमारे मस्तिष्क में है। उदाहरण के लिए, शिवनारायणियों में बसंत पंचमी के महत्व को शिवनारायणी पंथ उसकी सामाजिक संरचना और विश्वदर्शन के संदर्भ में समझना होगा। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के नाते अब तक आप संक्षेप में कहा जाए तो, समाजशास्त्र में समारोह को

एक सांस्कृतिक विशेषता, एक संस्था, एक सुरक्षित सामाजिक गतिविधि और उस सुरक्षित सामाजिक तंत्र के संचालन से संबंधित भूमिका या भूमिकापुंज के परिणामों के रूप में लिया जाता है जिससे उसका संबंध होता है या जिसका वह अंग होता है।

ये परिणाम के रूप में लिया जाता है। जिससे उसका संबंध होता है या जिसका वह अंग होता है। ये परिणाम सकारात्मक या नकारात्मक या आशिक रूप से सकारात्मक और आशिक रूप से नकारात्मक हो सकते हैं। सामूहिक एकात्मकता और अस्मिता की दृष्टि से, मुसलमानों के लिए मुहर्रम आशिक रूप से सकारात्मक और आशिक रूप से नकारात्मक है।

अगले अनुभाग में हम कुछ विशेष धार्मिक पर्वों के विषय में बताने जा रहे हैं जिससे आपके लिए धार्मिक पर्व के सामाजिक महत्व को रेखांकित करना आसान होगा।

कुछ धार्मिक पर्व

धार्मिक पर्व ऐसे अवसर होते हैं जब संस्कार अपने चरम पर और सबसे रंगीन रूप में दिखाई देते हैं। नीचे हम कुछ धार्मिक पर्वों के विषय में बता रहे हैं।

सांझी

पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान और मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों (मलावा और नीमार) में सांझी का पर्व देवी की पूजा से जुड़ा है। उसे देवी दुर्गा, शंकुवरी नामों से जाना जाता है। यह पर्व पितृपक्ष (अक्टूबर के महीने

में) हर वर्ष 15 दिन चलने वाली पितरों या पुरखों की पूजा के ठीक बाद में मनाया जाता है। यह नवरात्र के साथ पड़ता है। नवरात्र का सप्ताह सर्वव्यापी आदि शक्ति की पूजा को समर्पित होता है।

इस शक्ति का प्रतीक सामान्यता देवी दुर्गा को माना जाता है। सांझी शक्त पंथ (शक्ति पूजा) की क्षेत्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। इसका प्रारंभ भारत के प्रागैतिहासिक काल में कभी हुआ था। शक्त पंथ किसी न किसी रूप में भारत में हर कहीं मिलता है और यह भारतीयों के धार्मिक अनुभव की एक सशक्त सारगत धारा रहा है।

सांझी का उत्सव वस्तुतः स्त्रियों और मिट्टी की वस्तुएं बनाने की कला से संबंध रखता है। इसमें देवी सांझी की प्रतिमा बनाकर उसे सुखाया, रंगा और दीवार पर गोबर लीप कर वहां स्थापित कर दिया जाता है। प्रतिमा को लहंगा, चोली और चुनरी पहनाई जाती है। स्थानीय गहनों में सजी धजी सांझी देवी स्थानीय देहाती स्त्री की ही प्रतिमूर्ति लगती है। इसके साथ ही सूरज, चांद, सितारे, हरी डाल पर बैठे तोते, कंधी, पंखा बाजे वाले, सांझी का भाई और एक चोर भी बनाया जाता है जिसे उल्टा लटका दिया जाता है।

दैनिक जीवन में मिलने वाली अन्य चीजों के नमूने भी मिट्टी से बनाए जाते हैं और उन्हें सांझी के दोनों ओर सजा दिया जाता है। इन चीजों के नमूने बनाना स्थानीय कलाकारों के कौशल और दक्षता पर निर्भर करता है। सांझी

का नमूना बनाने और सजाने का काम अधिकतर स्त्रियां, विशेषकर युवा स्त्रियां करती हैं।

सांझी के नीचे एक बर्तन में मिट्टी भरकर रखी जाती है जिसमें जौ बोया होता है। हर शाम स्त्रियां देवी की पूजा करती हैं और इकट्ठी होकर उसकी स्तुति में गीत गाती हैं और उसकी आत्मा का आह्वान करती हैं। पूजा और गाने के साथ आमोद-प्रमोद भी चलता है। यह ग्रामीण स्त्रियों के अन्यथा व्यस्त जीवन में मनोरंजन का अवसर होता है। पूजा की परिणति दुर्गा अष्टमी में होती है, वैसे यह पूजा विजय दशमी तक चलती रहती है जब दशहरा मनाया जाता है उस समय तक जौ के अंकुर फूट चुके होते हैं। दशहरे के दिन सुबह इन हरे अंकुरों के छोटे-छोटे गुच्छे बनाकर उन्हें घर में पुरुष सदस्यों के कानों में खोंसा जाता है। फिर अंतिम पूजा के बाद सांझी को हटा लिया जाता है और पूरे संस्कार के साथ पास की किसी नदी, तालाब या नहर में विसर्जित कर दिया जाता है।

सांझी के पर्व में सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की अनेक धाराएं मिलती दिखाई देती हैं। यह पर्व भारतीय दर्शन में व्याप्त-प्रकृति (शाश्वत नारी) से जुड़ा है जो आदि पुरुष (शाश्वत नर) से मिल कर जीवन की शाश्वत एकता की रचना करती है और प्रजनन और निरंतरता का स्रोत होती है। जौ का बोना और उसके अंकुरों का पुरुषों के कान में खोंसना दैवीय शक्ति की मदद से कृषि की संपन्नता प्राप्त करने के प्रयास का प्रतीक है। इस तरह इसका

संबंध उर्वरता पंथ से लगता है जिसका किसान वर्ग में व्यापक प्रचलन है। यह एक रोचक पहलू है कि यह इस क्षेत्र की खेतिहर जातियों में अधिक लोकप्रिय है।

कुछ स्त्रियों का यह भी मानना है कि सुहागन स्त्री की प्रतिमा के रूप में सांझी की पूजा का उद्देश्य स्त्री के सुहागन जीवन की लंबी आयु प्राप्त करना भी है क्योंकि समाज में उसकी सुहागन की छवि का होना उसके सौभाग्य की निशानी होती है। डाल पर बैठे तोते संपन्नता का प्रतीक बताए जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तोते उन आने वाली विपत्तियों को टाल देते हैं जिनका पता मनुष्य को नहीं चलता।

सांझी के भाई की प्रतिमा की पूजा करने, इसे करने वाली स्त्री के भाई/भाइयों की लंबी आयु के लिए होती है। उल्टे लटकते चोर के बारे में यह मान्यता है कि वह जादू के बल पर चोरों को फटकने नहीं देता। बाजे वाले, चाट बेचने वाले, मिठाई बेचने वाले और हुक्का जैसे प्रतीक कलात्मक सृजन से प्राप्त होने वाले आनंद से संबंध रखते हैं।

करवा चौथ

यह सुहागन स्त्रियों का पर्व होता है और अधिकतर पंजाब के उच्च वर्ग और देश के हिन्दी भाषी आंचलों तक सीमित है। उपवास, भोज, गिरिजा/गौरी की पूजा इस पर्व की विशेषताएं हैं। गौरी पति के प्रति स्त्री के संपूर्ण की प्रेम प्रतीक है। इसमें चांद और सूरज और आलेखन और चित्रकला की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सांझी की

तरह करवा चौथ में भी कला का पक्ष इसमें अंतर्निहित नहीं है और इसलिए हर जगह उससे जुड़ा नहीं होता। यह प्रत्येक परिवार और क्षेत्र में नहीं होता। लखनऊ के आसपास गांवों में अवैध कहलाने वाले भाषाई-सांस्कृतिक क्षेत्र में करवा को दीवार पर बनाया और रंगा जाता है। यह किसी भित्तिचित्र जैसा दिखता है।

किनारेदार पटल पर देवी की आकृति बनाई जाती है। यह सुहागन स्त्री का प्रतीक होती है। इसके साथ सूरज, चांद और सितारे भी बनाए जाते हैं। इनके अलावा अन्य तमाम प्रतीक होते हैं पालकी में ले जाई जाती सुहागिनें और एक सांस्कृतिक भेंट के रूप में अपनी बहन के घर करवा ले जाता भाई। करवा पूजा में काम आने वाला मिट्टी या कांसे का बर्तन होता है। करवा अक्टूबर-नवंबर के चंद्रमास (कार्तिक) के कृष्ण पक्ष के चौथे दिन मनाया जाता है। यह दिवाली से बारह दिन पहले पड़ता है। इस महीने में अनेक पर्व पड़ते हैं। जिनमें तांत्रिक शक्ति का पुट होता है। करवा चौथ उन्हीं में से एक है। करवा मानने वाली स्त्री दिन भर का उपवास रखती है। शाम को उगते चांद की मद्धिम रोशनी में देवी की पूजा की जाती है और चांद को जल चढ़ाया जाता है। कुछ जगहों पर जल चढ़ाने के बाद स्त्रियां एक छलनी में से चांद को देखती हैं। पूजा समाप्त होने के बाद स्त्री अपने पति के पांव छूती हैं। इसके बाद परिवार का भोज होता है।

करवा चौथ मानने वाली स्त्री अपने सुहागन जीवन की लंबी आयु के लिए

प्रार्थना करती है और उसमें भावानात्मक सुरक्षा पाने का प्रयास करती है। ऐसा देखने में आया है कि करवा चौथ वहां मनाया जाता है जहां स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं है और विधवापन को बुरा समझा जाता है। इसलिए यह पर्व नीची जातियों और अछूतों में नहीं मनाया जाता है क्योंकि उनमें स्त्रियों को तलाक, पुनर्विवाह और विधवा विवाह की छूट है। गढ़वाल में इसकी परंपरा नहीं है क्योंकि वहां ऊंची जातियों में भी स्त्रियों में भी स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति है। अब देहरादून और मैदानी शहरों में रहने वाले कुछ गढ़वाली परिवारों में भी करवा चौथ मनाया जाने लगा है। नीची जातियों की नई पीढ़ी की स्त्रियां भी इसे प्रतिष्ठा के चिह्न के रूप में धीरे-धीरे अपनाती जा रही हैं।

करवा के चित्रों को भी नया रूप दिया जा रहा है और उसमें नए चित्रों को जोड़ा जा रहा है। लखनऊ के पास के एक गांव में एक पढ़ी-लिखी लड़की ने करवा के चित्र में एक टेलीविजन सैट और हल जोतता किसान भी जोड़ा था। उसका सूरज और चांद का चित्र निश्चित रूप से प्रतीकात्मक तो है लेकिन इससे कहीं अधिक मानवीकरण का रूप है।

रविदास जयंती

जनवरी-फरवरी के चंद्रमास (माघ) की पूर्णिमा के दिन चमार जाति के लोग संत रविदास या रैदास का जन्मदिन मनाते हैं। संत रविदास चमार थे और कबीर के शिष्य थे। अपने गुरु की तरह उन्होंने भी अपने वचनों और पदों में हिन्दू और इस्लाम धर्मों की रूढ़ियों पर

प्रहार किया। उन्होंने परमेश्वर के शाश्वत निराकार रूप की शिक्षा दी और उसके समक्ष सबके समान होने का उपदेश दिया और निश्चल भक्ति को मुक्ति का निश्चित मार्ग बताया। उन्होंने त्याग के दर्शन को अस्वीकार करते हुए निर्मल और सादे सांसारिक जीवन के महत्व की हिमायत की जिसमें व्यक्ति अपने पारिवारिक जीवन, जातीय धंधों और उस निराकार परमेश्वर के प्रति समर्पित रहता है जो सभी धर्मों और सभी पंथों से आगे है।

इस शताब्दी के चौथे दशक के प्रारंभिक दौर में रविदास जयंती विधिपूर्वक मनाई जानी शुरू हुई। जाति के माध्यम से सुधार और पुनर्जागरण की राजनीति के उस दौर में रविदास विरोध और सांस्कृतिकरण के माध्यम से चमार जातियों की एकता और चमारों के समाज में उत्थान के प्रयासों के प्रतीक के रूप में उभरे। तुलसी रामायण और सत्य नारायण व्रत कथा का स्थान लेने के लिए रविदास रामायण और रविदास कथा की रचना की गई। इस प्रकार, रविदास जयंती के उत्सव को एक राजनीति प्रेरित धार्मिक पर्वीय मंच के रूप में संस्थापित किया गया। पहले इसका आयोजन शहरों में किया गया और बाद में गांवों तक भी इसका प्रसार हुआ। यह उत्तर भारत के चमारों में एक सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलन बन गया। रविदास के दर्शन का प्रचार करने के केंद्रों के रूप में यहां/ वहां रविदास मंदिर बन गए।

पिछले छह दशकों में रविदास जयंती का उत्सव नैतिक हो गया और उसने एक धार्मिक पर्व का रंग ले लिया है।

रविदास जयंती पर भक्त लोक उपवास रखते हैं। सुबह एक झंडे के नीचे रविदास के चित्र को रखा जाता है। इसे एक दैवीय मूर्ति की तरह पूजा जाता है इसके आगे हवन किया जाता है। उस दिन दोपहर में एक शोभा यात्रा निकाली जाती है जिसमें रविदास के जीवन के चमत्कारों के दृश्यों की झांकी रखी जाती है। उस दिन अधिकतर चमार काम नहीं करते, नए कपड़े पहनते हैं और शोभा यात्रा में शामिल होते हैं। अगले दिन इस जाति के लोग इकट्ठे होते हैं। बच्चों के लिए खेलों का आयोजन किया जाता है और जीतने वालों को इनाम दिए जाते हैं। रविदास का हवाला देते हुए राजनीतिक और धार्मिक नेता राजनीतिक भाषण देते हैं। दिवाली की तरह, रविदास जयंती पर भी रात में घरों को दीपों से सजाया जाता है।

सामाजिक महत्व : एक विवेचन

अब हम इन पर्वों के सामाजिक महत्व पर नजर डालेंगे। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि समाज में धार्मिक पर्वों को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उसकी महत्ता समेकित है। उनका समाजीकरण की दृष्टि से भी महत्व है।

सन्दर्भ सूची:-

1. Bell, Earl H. : Social Foundations of Human Behaviour, Harpet, New York.
2. Koller, Marvin R. and Couse, Hardd, C. : Modern Society, Holt, Reinhert and Winston, New York.
3. Singh, Yogendra: Modernisation of Indian Tradition, Thomson Press (India) Ltd.

जीवन चक्रीय संस्कार : मृत्यु

देवेन्द्र कुमार

मृत्यु की धारणा

जन्म और विवाह जहां अपनी सुखद स्मृतियां लेकर आते हैं वहीं मृत्यु भय का दूसरा नाम है। मृतक के संबंधियों, मित्रों और परिचितों को मृत्यु गहरा सदमा पहुंचाती है। मृत्यु सामान्य रिश्तों को समाप्त कर देती है और शरीर के सड़ जाने का बड़ा भय रहता है। इसे लोग स्वीकार नहीं कर पाते। मृत्यु के भय को दूर रखने के लिए अनेक संस्कारों का जन्म हुआ। मृत्यु जैसे अनिवार्य यथार्थ को तो स्वीकार करना ही है और इसलिए जीवन के अगले स्वरूप के लिए संस्कार बनाए गए—जीवन का वह स्वरूप चाहे चक्रीय हो या रेखीय।

हिन्दू धर्म के आदिम विश्वास के अनुसार मृत्यु शरीर को ही नष्ट करती थी आत्मा को नहीं। इस तरह मृत्यु वह प्रक्रिया थी जिसके चलते आत्मा शरीर से अलग होती थी फिर स्वप्न और बीमारी के दौरान भी आत्मा कुछ समय के लिए शरीर से अलग होती थी। लेकिन मृत्यु अपने आप में विलक्षण थी। आत्मा एक शरीर को छोड़ने के बाद दुबारा उसी शरीर में कभी नहीं आती थी। जीवित लोगों के मन में मृतकों के लिए मिली-जुली भावनाएं उठती थीं। ये मुख्य तौर पर भय और मुक्ति की भावनाएं होती थीं।

इसके अतिरिक्त शव को ठिकाने लगाने की व्यावहारिक समस्या भी थी। मृत्यु के बाद शरीर सड़ने लगता है और इसलिए इसे अधिक समय तक रखना कठिन होता है। इसलिए उसे सावधानी से हटा दिया जाता था और उसका अंतिम संस्कार कर दिया जाता था। शव को ठिकाने लगाने के लिए जिन संस्कारों का सहारा लिया जाता है उनका मकसद जीवित व्यक्तियों को मृत्यु के प्रदूषण से मुक्त करना और मृतक को सम्मान सहित इस संसार से विदा देना होता है। अब हम विभिन्न समुदायों में मृत्यु से जुड़े संस्कारों की चर्चा करेंगे।

हिन्दू समाज में अंतिम संस्कार

भारत में हिन्दुओं में अंतिम संस्कार के अलग-अलग तरीके देखने को मिलते हैं। मृतक को नहलाने के बाद उसके दर्शन के इच्छुक लोगों के लिए उसे सही स्थान पर रख दिया जाता है। मृतक के चित्र या उसकी किसी व्यक्तिगत वस्तु पर माला डाल दी जाती है और आसपास यदि संभव हो तो अगरबत्तियां जला दी जाती हैं। कहीं-कहीं मृतक के पास मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। कहीं-कहीं अंतिम सांस ले रहे व्यक्ति के मुख में तुलसी मिला जल डाला जाता है।

मृतक की अर्थी

यह बांस की छह फुट लंबी सीढ़ी जैसी होती है जिस पर मृतक को लिटा दिया जाता है। उसके पांवों के अंगूठों को आपस में बांध दिया जाता है। इससे पहले उस पर लाल या सफेद कपड़ा डाला जाता है। मृत व्यक्ति यदि विवाहित स्त्री हैं तो लाल कपड़े में लपेटा जाता है। विवाहिता के लिए और भी विशेष संस्कार होते हैं, और उसे साफ कपड़े पहनाए जाते हैं। ये पूर्व सांक्रातिक संस्कार हैं जिनका पालन अंत्येष्टि से पहले होता है। एक मायने में ये ऐसे संस्कार हैं जिनकी भूमिका संस्कार व्यवस्था को बनाए रखना और शव को अर्थी पर पहुंचाना होता है। मृतक को अर्थी पर लिटा कर उसे रस्सी से बांध देने के बाद उसके निकट संबंधी पुरुष अर्थी को कंधों पर उठा लेते हैं और उसे श्मशान घाट ले जाते हैं। श्मशान भूमि तक अलग-अलग व्यक्ति अर्थी को कंधा देते हैं। वैसे शहरी इलाकों में आमतौर पर शव को वाहन पर रख कर श्मशान भूमि तक ले जाते हैं। इसकी अगुआई परिवार का सबसे बड़ा पुरुष मुख्य रूप से मृतक का बेटा करता है।

शव यात्रा

अर्थी के साथ लोग श्मशान भूमि तक पैदल जाते हैं। वहां शव को नीचे फर्श पर रखा जाता है और लकड़ियों से चिता तैयार की जाती है। इस बीच पुरोहित परलोक में मृतक की बेहतरी के लिए कुछ अनुष्ठान करता है। उसके बाद शव को अर्थी से उठा कर चिता पर रखा जाता है और उस पर लकड़ियां रख दी जाती हैं। चिता को हमेशा सबसे बड़ा बेटा ही अग्नि देता है। अगर वह न हो तो फिर मृतक का कोई पुरुष संबंधी चिता जलाता है। मुख्य शोक करने वाले फिर

जलती चिता का इस तरह चक्कर लगाते हैं। कि उनका दाहिना कंधा चिता की तरफ रहे। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। कुर्ग और कुमाऊंनी लोगों में कुछ जगह बाएं कंधे को चिता की ओर रखते हुए उल्टे चक्कर लगाए जाते हैं। अलग-अलग लोगों में यह तरीका बदलता रहता है। फिर चिता को जलता छोड़ दिया जाता है और मृतक का सबसे बड़ा बेटा उसकी कपाल क्रिया करता है। ऐसा शरीर में बंदी आत्मा को मुक्त करने के लिए किया जाता है। यह एक सांक्रातिक चरण होता है। जिसमें शरीर मांस और रक्त से अस्थि (हड्डी) और भस्म (राख) में परिवर्तित हो जाता है।

अस्थि संचयन

अस्थियों का संचयन दाह संस्कार के एक दिन बाद होता है। जब चिता ठंडी हो जाती है। अस्थियों को मिट्टी के भांडों में इकट्ठा कर लिया जाता है। फिर इन भांडों को नदी में ले जाकर प्रवाहित कर देते हैं। साधु संतों की अस्थियों और भस्म पर स्मारक बना दिया जाता है जिसे समाधि कहते हैं। मृत्यु के चौथे दिन मृतक की आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना का आयोजन किया जाता है। बाद में वर्ष में एक बार मृतक के लिए प्रार्थना आयोजन होता है। वैसे हमें यह याद रखना चाहिए कि ऐसा भारत में हर कहीं नहीं होता, यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि अंत्येष्टि प्रदूषणकारी होती है, इसलिए शोक करने वाले घर जाकर नहा लेते हैं या इच्छा और सुविधा होने पर श्मशान भूमि में ही नहा लेते हैं। बाद में मृत्यु भोज का आयोजन भी हो सकता है। अस्थियों का चुना जाना और उनका नदी में

विसर्जन सभी उत्तर सांक्रातिक रीतियां हैं। ये पूर्वजों की दुनिया में मृतक के समावेशन का प्रतीक है। इस उत्तर सांक्रातिक चरण में चौथा (रस्म पगड़ी) और श्राद्ध जैसे संस्कार आते हैं। पंजाबियों में होने वाली ये रस्में उत्तर सांक्रातिक चरण की ही रीतियां हैं। चौथे की रस्म मृत्यु के चौथे दिन होती है और इसकी समाप्ति पर मृतक के बाद परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य को पगड़ी दी जाती है। उसे इसके साथ परिवार के मुखिया के अधिकार भी मिल जाते हैं। श्राद्ध की रस्म प्रति वर्ष मृतक की स्मृति में और उसकी आत्मा की शांति के लिए होती है।

सीरियाई ईसाई समाज में अंतिम संस्कार

सीरियाई ईसाइयों के अंतिम संस्कार में आदर और संजीवनी का भाव देखने को मिलता है। सीरियाई ईसाइयों में अंतिम समय के अनुष्ठान नहीं होते। लेकिन बीमारी के समय कुछ अनुष्ठान अवश्य होते हैं। ऐसे समय में आमतौर पर पादरी रोगी के पास होता है और जब मृत्यु का समय निकट आता है तो प्रार्थना की जाती है। पादरी मरते हुए व्यक्ति के कान में धर्म की बातें कहता है। मृत्यु के समय महिलाएं रोने और छाती पीटने लगती हैं। जिससे आस-पड़ोस को मृत्यु होने का पता चल जाता है। घर के चूल्हे बुझा दिये जाते हैं और अंतिम संस्कार होने से पहले किसी तरह का खाना पकाना नहीं किया जाता। मृतक को नहलाने और कपड़े पहनाने के बाद पूर्व की ओर मुंह करके एक कमरे में रख दिया जाता है। उसके सिरहाने एक सलीब रख दी जाती है

और दोनों ओर मोमबत्तियां जला दी जाती हैं। लोबान सुलगाई जाती है। जब मृतक का पार्थिव शरीर घर में रहता है प्रार्थना और भजन चलते रहते हैं। जब पादरी मरते व्यक्ति के पास होता है स्पष्ट रूप से पूर्व सांक्रातिक संस्कार होते हैं। वैसे मौत हमेशा धीरे-धीरे नहीं आती। व्यक्ति के साथ दुर्घटना भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में बाकी के सभी संस्कार ऊपर दिए अनुसार ही लोग अपने आप को मृतक से विच्छेद के लिए और सांक्रातिक संस्कारों के लिए तैयार करते हैं।

शव यात्रा

पादरी मृतक के पार्थिव शरीर पर तेल का लेप करता है। उसके चेहरे, सीने और घुटनों पर तेल से सलीब का चिह्न बनाया जाता है। फिर शव यात्रा गिरजाघर के लिए कूच करते हैं जहां शव को गाड़ दिया जाता है। केरल में कब्रिस्तान आमतौर पर गिरजाघर के परिसर में ही होते हैं। शव को एक ताबूत में रखा जाता है और फिर उसे कब्रिस्तान में ले जाया जाता है। घर की महिलाएं शव यात्रा में शामिल नहीं होती हैं। जब ताबूत को कब्र में उतारा जाता है तो पादरी उस में सलीब की आकृति में मिट्टी डालता है इस बीच प्रार्थना चलती रहती है। सीरियाई ईसाई शव को दफनाते समय उसका सिर पश्चिम की ओर रखते हैं।

जिसे उसका मुंह पूर्व की ओर रहे, क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि मसीह यरुशलम के पास से आएगा। शव पर तेल का लेप, पादरी का सलीब का चिह्न बनाना और फिर शव को पश्चिमी की ओर सिर करके कब्र में गाड़ना ये

सभी सांक्रांतिक संस्कार हैं। शव कब्र में होता है और धीरे-धीरे इसे खाक के सुपुर्द किया जाता है। धीरे-धीरे मृतक का शरीर दिखना बंद हो जाएगा और वह सामाजिक दुनिया का सदस्य नहीं रह जाता। ये संस्कार इस सांक्रांतिक चरण का ही संकेत देते हैं। इस अनुष्ठान से मृतक के इस संसार से लुप्त होने की क्रिया को अमौखिक रूप से व्यक्त किया जाता है।

अंत्येष्टि के बाद शोक करने वाले घर लौट आते हैं। वहां उन्हें चावल का सादा भोजन दिया जाता है।

शुद्धिकरण संबंधी अनुष्ठान

प्राचीन काल में शोक करने वालों को मृत्यु के आठवें या दसवें दिन तक प्रदूषण से प्रभावित माना जाता था। उसके बाद शुद्धिकरण का एक अनुष्ठान पुल्लाकुलि किया जाता था। यह रीति नंबूदरी लोगों से ग्रहण की गई थी। दैनिक मजदूरी करने वालों के अतिरिक्त और कोई शोकग्रस्त व्यक्ति मृत्यु के चालीसवें दिन तक कोई कार्य नहीं कर सकता था। उस दिन एक विशेष अनुष्ठान किया जाता था। जिसके समाप्त होने पर पादरी प्रत्येक व्यक्ति को अपने हाथ के पिछले हिस्से को चूमने देता है और इस तरह उन्हें आशीर्वाद देता है। इस दिन मांसाहारी भोजन परोसा जाता है, और इसके साथ ही औपचारिक शोक या मातम की समाप्ति हो जाती है। मृतक की प्रत्येक पुण्य तिथि पर एक अनुष्ठान किया जाता है गिरजाघर में एक शांति यज्ञ का आयोजन होता है। कब्र पर एक मोमबत्ती भी जलाई जाती है और जरूरतमंदों को कुछ दान दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि उत्तर संक्रांति के संस्कार

सीरियाई ईसाइयों में कुछ लंबे चलते हैं क्योंकि वे मृत्यु के चालीसवें दिन तक सामाजिक कार्यों में हिस्सा नहीं लेते। तब पादरी आशीर्वाद देता है और उपर्युक्त उल्लिखित कुछ अनुष्ठानों के बाद शोक की अवधि के समाप्त होने की घोषणा करता है। इसके आगे, शोक पुण्य तिथि पर ही किया जाता है।

सिक्ख समाज में अंतिक संस्कार संबंधी अनुष्ठान

सिक्खों का मानना है कि गर्म जलवायु वाले स्थानों में अंतिम संस्कार जल्द से जल्द कर देना चाहिए। यदि यह मृत्यु के एक दिन बाद हो सके तो अच्छा है। उनमें मृतक का दाह संस्कार ही किया जाता है। शव को जल में विसर्जित करने की भी छूट रहती है और इसे गलत नहीं माना जाता। लेकिन दाह संस्कार की प्रथा पांच सौ वर्षों से चली आ रही है। भस्म को धरती में

दबाया जा सकता है। संतों की समाधियों और पवित्र स्थल इसके उदाहरण हैं। वैसे आमतौर पर भस्म को पास की किसी नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। सिक्खों में अंत्येष्टि के स्थल पर किसी प्रकार का स्मारक बनाना अच्छा नहीं समझा जाता और उनके गुरुओं ने भी इन बातों के लिए मना किया है। लेकिन हमें ऐसे स्थलों पर गुरुद्वारे नजर आते हैं। इस प्रकार, पूर्व सांक्रांतिक कार्यों को फुर्ती और कुशलता के साथ निपटाया जाता है और अंत्येष्टि के लिए दाह संस्कार को ही अपनाया जाता है।

सन्दर्भ सूचि:-

1. O. Dea, Thomas F. : The Sociology of Religion, Prentice Hall, Englewood Cliffs.
2. International Encyclopaedia of Social Sciences, The Mecomillan Co. and Free Press, New York.

यू.जी.सी. नेट

राजनीति

भारत का संविधान

भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे

दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया

राजनीतिक वादों का अध्ययन

भारतीय शासन एवं राजनीति

भारत में सामाजिक आन्दोलन

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था : दशा एवं दिशा

सामाजिक संरचना

राजनीति के प्रमुख वाद

नौकरशाही एवं विकास

भूमंडलीकरण : विविध आयाम

प्रजातंत्र

धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053,

फोन : 9811710900

डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार

शैलेन्द्र कुमार

महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले के एक गांव अम्बावडे में 14 अप्रैल 1891 को एक ऐसे नक्षत्र का उदय हुआ जिसके असाधारण रूप को देखकर अम्बावडे की अछूत बस्ती में हर्षोल्लास छा गया। महार जाति के रामजी मालोजी सकपाल एवं भीमाबाई के घर जन्मे बड़ी-बड़ी गोल और चमकदार आंखें, भरापूरा शरीर, रंग गोरा, चौड़ा माथा, सुतवां नाक एवं पतले रसीले होंठ को देखकर शायद ही कोई कह सकता कि वह जाति से महार (अछूत जाति) है। एक ऐसी जाति जिसका स्पर्श हो जाने मात्र से तत्काल स्नान करना पड़ता था। कहने को तो भीमराव कुल चौदह भाई-बहन हुए, परंतु दो बहन एवं तीन भाई को छोड़कर अन्य सभी काल कवलित हो गए। दिखने में मां के अनुरूप होने के कारण बालक का नाम पहले भीम रखा था तथा बाद में पारिवारिक परंपरा के अनुसार उसका नाम भीमराव रामजी सकपाल अम्बेडकर रखा गया। मेधावी भीम समाज में व्याप्त बुराईयों के कटु अनुभवों से गुजरते हुए जब अपने तरूणावस्था में पहुंचे तो कौन जानता था कि वह आगे चलकर भारत-रत्न, संविधान निर्माता एवं इतिहास पुरुष बनेगा।

सन् 1916 में अमेरिका से एम० ए० की डिग्री लेने के बाद उनके जीवन के पहले लेख “कास्ट्स इन इंडिया” ने समस्त बुद्धिजीवियों के अंतरात्मा को हिलाकर रख दिया।¹ कोलंबिया विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त करने के साथ ही वह अछूत बालक सभी की आंखों का तारा बन गया। इसके बाद भारत आकर अम्बेडकर ने एक ऐसे काम को हाथ में लिया जो सदियों से उपेक्षित था। दलितोद्धार को ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने के बाद शीघ्र ही वे उनकी दशा एवं दिशा बदलने के लिए कृत संकल्पित हो गए। भारत रत्न डॉ० अम्बेडकर हिन्दु समाज के सभी अन्यायपूर्ण और दमनकारी स्वरूपों के विरुद्ध विद्रोह के ना केवल प्रतीक बने बल्कि नवचेतना एवं बहुजन जागृति के एक महान मसीहा के

रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया।² उनका मानना था कि यदि भारत को स्वतंत्र कराना है तो सबसे पहले हिन्दू समाज में आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए। क्योंकि बिना सामाजिक क्षमता और मातृत्व के स्वतंत्रता एक ढकोसला मात्र है। यही कारण है कि हिन्दू समाज में व्याप्त बुराईयों की जमकर आलोचना करते रहे।

डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि हिन्दू समाज के संगठन का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था था जो कि पूर्णतः अव्यवहारिक एवं कलुषित था। वर्ण-व्यवस्था का यह वास्तविक स्रोत ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है। जिसमें वर्ण को चतुष्टय स्वीकार किया गया है। यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि-“चातुर्वर्णं मया सृष्टाः गुण-कर्म विभागशाः”³ हिन्दू समाज की एक अन्य मान्यता के अनुसार इन चारों वर्णों की सृष्टि ब्रह्मा ने की है जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लाल, पीला एवं काला है। यथा-

ब्रह्मणानां तु सितो क्षत्रियाणां तु लोहितः ।

वैश्यानां पतिको वर्णं शूद्राणामस्तिस्तथा ॥⁴

डॉ० अम्बेडकर का मानना है कि रंग के आधार पर मनुष्यों का वर्गों में विभाजन तथा बाद में शूद्रों को घृणा की दृष्टि से देखना मानवता को कलांकित करने जैसा है। एक मानव का दूसरे मानव के प्रति ऐसा घृणित व्यवहार कहीं से भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है। इतना ही नहीं हिन्दू विद्वान इस व्यवस्था को श्रम-विभाजन का भी आधार मानते हैं। इसके आधार पर तो शूद्रों की स्थिति और भी दयनीय हो गई। अधिकार एवं कर्तव्य की दृष्टि से उसे अत्यंत ही पंगु बना दिया क्योंकि उसे न तो वेदाध्ययन का अधिकार था और न ही यज्ञ करने का ना तो वह सैनिक बन सकता था और ना ही व्यापार कर सकता था। गीता में उसके विहित एकमात्र कर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि-

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुक्ष्णामनसूयया ॥⁵

हिन्दुओं की गीता पर गहरी आस्था है जिस कारण वे वर्ण-व्यवस्था को भी सत्य और पवित्र मानते हैं इसे वे आर्थिक सुदृढीकरण का भी आधार मानते हैं। लेकिन अम्बेडकर

का मानना है कि वर्ण-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें ऊंच-नीच, जात-पात आदि पारिवारिक संपत्ति के रूप में समझी जाती है।⁶

डॉ० अम्बेडकर जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। इतना ही नहीं वे सदैव इस समस्या का समाधान चाहते थे। इनका मानना था कि हिन्दू समाज के अंतर्गत जाति प्रणाली में ऐसी व्यवस्था की गई थी जाति के भीतर जाने की बंदिश के साथ-ही-साथ जाति के बाहर जाने की भी बंदिश है। जाति का तर्कशास्त्र ही इतना कठोर था कि इस क्रूर नियम के कारण असंख्य जातियों का उदय हुआ।⁷ बाबा साहेब का मानना था कि इसी कारण हिन्दू समाज में वह एकता नहीं आ सकती, जिसकी आज हमें आवश्यकता है। इसके लिए वे अंतरजातीय विवाह के पूर्ण पक्षधर थे। हालांकि हिन्दू समाज में अनेक ऐसी जातियाँ हैं जो आपस में खान-पान करती हैं, परंतु उनका जातिवाद संबंधी विचार फिर भी ज्यों-का-त्यों है। इन सबके पीछे उनके तथा कथित धर्म की भूमिका अधिक है। अम्बेडकर का मानना है कि जाति व्यवस्था जो घृणा असमानता एवं वैमनश्य पर आधारित है, तभी नष्ट हो सकती है, जब हम गीता जैसी धर्मशास्त्रों के प्रति दैवीय एवं पवित्र भावनाओं को समाप्त कर दें।

जाति प्रथा के ही कारण अस्पृश्यता जैसे सामाजिक कोढ़ को हिन्दू समाज में स्थापित माना जाता है। उनका मानना था कि यह एक ऐसा कलंक है जिसे विधिवत एवं सांवैधानिक रूप से तो मिटा दिया गया है, किंतु व्यवहार में वह आज भी अनेक रूपों में प्रदर्शित

होता है। वस्तुतः अस्पृश्यता की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं, किंतु स्मृति काल में अत्यंत निकृष्ट काम करने वालों को अस्पृश्य कहा गया जिनको देखना, छूना तथा जिनकी छाया भी स्वर्ण हिन्दुओं को अपवित्र कर देता था। अम्बेडकर का मानना है कि यह हमारे समाज से पूर्णतः तभी विलीन हो सकता है, जब संपूर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था विशेष रूप से जाति प्रथा विलीन हो जाए। यदि जाति प्रथा विलीन नहीं हो सकती, तब यह आशा ही करना व्यर्थ है कि अस्पृश्यता जैसी कोढ़ समाज से विलीन हो पाएगी।

इन सबों के मूल में “संस्कार” की बहुत अधिक भूमिका है। विभिन्न वर्णों के संस्कार भी भिन्न-भिन्न हुआ करता था। हिन्दुओं में शूद्र, अछूतों की उन्नति एवं अवनति को उनके लिए कुछ संस्कारों के निषेध के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है। इन सबों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार ‘उपनयन संस्कार’ था। डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि प्राचीन काल में इन संस्कारों का बहुत अधिक महत्व था। व्यक्तियों की प्रतिष्ठा एवं अधिकार इन्हीं संस्कारों पर आधारित रहते थे। ऐसी मान्यता थी कि उपनयन संस्कार के द्वारा बच्चे का दूसरा जन्म (द्विज) होता था। इसमें बच्चों को पुरोहितों द्वारा यज्ञोपवीत (जनेउ) धारण करवाया जाता था। तत्पश्चात् उन्हें वेदाध्ययन के लिए गुरु के आश्रमों में छोड़ दिया जाता था। कहने का अर्थ है कि इसके साथ ही उनका शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ हो जाता था। चूंकि शूद्रों के लिए इस संस्कार को निषेध कर दिया गया जिसके कारण शूद्र स्त्री-पुरुष सामाजिक विकास के

क्रम में निरंतर पिछड़ते चले गए। परिणामस्वरूप शूद्र निरक्षर, नीच, अधम, कमजोर तथा अछूत बन गए। क्योंकि जो चीजें मानव जीवन को संबल एवं समृद्ध बनाती हैं, उन्हें उनसे वंचित कर दिया गया। अछूतों को केवल ‘विवाह संस्कार’ की ही छूट थी। फलतः उनकी संतानों की वृद्धि तो हुई परंतु वे अभिशाप्त जीवन जीने को विवश हो गए। जिसका दुष्परिणाम हमें भारतीय समाज में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं सभी आश्रम व्यवस्था यथा-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि भी द्विज जन्मे लोगों तक ही सीमित था।

डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि जनहित में जो भी संस्कार या सामाजिक रीति-रिवाज है, उन्हें सबके हित में मान्यता दी जाये तथा सांवैधानिक दृष्टि से उनकी समीक्षा भी की जाये। साथ-ही-साथ जो भी संस्कार या वर्ण-व्यवस्था विधि-विरोधी हैं, उन्हें तिलांजलि दे दी जाए ताकि भारतीय समाज को उन विधियों, नियमों एवं मूल्यों के आधार पर पुनः व्यवस्थित किया जा सके जो प्रत्येक मानव की स्वतंत्रता, समानता, गरिमा एवं प्रतिष्ठा को मान्यता देते हों।

प्राचीन भारत में नारियों की स्थिति भी संतोषजनक नहीं थी। अम्बेडकर जी का मानना है कि नारी वर्ग के सर्वाधिक प्रतिकूल स्थिति उस समय आई जब ‘मनुस्मृति’ को सामाजिक एवं विधिक मान्यता मिली। हालांकि जब बुद्ध ने नारियों को भिक्षुणी होने की सम्मति दी तो इससे नारी वर्ग को सामाजिक स्वतंत्रता मिली जिससे कि नारी में शिक्षा के प्रति जागरूकता बढ़ी। लेकिन मनु ने नारियों

पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाकर उसे गुलामी की बेड़ियों में जकड़ दिया।⁹ यही कारण है कि डॉ० अम्बेडकर ने मनु को न केवल नारी वर्ग के अवनति का साधन बतलाया अपितु उसे समस्त हिन्दू भारतीय समाज के पतन का कारण माना।¹⁰ मनुस्मृति ने नारी के सामाजिक स्थिति को प्राचीन-भारत में जितना पतनोन्मुख बनाया स्वतंत्र भारत में उन्होंने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को उतना ही उन्नतिशील एवं उत्थानोन्मुख बनाया। जैसा कि भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों और मौलिक अधिकारों के प्रावधानों में अंतर्निहित है। डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल के माध्यम से सदियों से पीड़ित महिलाओं को समान अधिकार तथा संरक्षण पर बल दिया ताकि उन्हें सम्पत्ति, विवाह-विच्छेद, उत्तराधिकार तथा गोद लेने के संबंध में समान अधिकार सुलभ हो जाये। वे परिवार नियोजन के कट्टर पक्षधर थे। इस प्रकार की वकालत एवं प्रचार करके उन्होंने समस्त नारी जाति की प्रगति एवं भलाई की आवाज बुलंद की थी जो आज भी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं।¹¹

डॉ० अम्बेडकर की मनुष्य और समाज की अवधारणा पूर्णतः मानवीय स्थिति का ही अवलोकन है। वैदिक अवधारणा के अनुसार, समाज एक दैवीय व्यवस्था है जिसकी जड़ें सभी धर्मग्रंथों में हैं जो कि ईश्वर-कृत है। इनका मानना है कि वर्णाश्रम ही जाति-पाति, छुआछूत, धर्मांधता, अशिक्षा, भेदभाव आदि बुराईयां उत्पन्न की है।

संविधान की उद्देशिका का जब हम निष्पक्षतः गहराई से अध्ययन करते हैं

तो ज्ञात होता है कि उसमें वे सभी मानव मूल्य निहित हैं, जो सर्वहितकारी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक हैं। ताकि भारत के सभी स्त्री-पुरुष धर्म, जाति, रंग, लिंग, जन्मादि के भेदभाव के बिना समृद्ध और समुन्नत बने।¹² मातृत्व की भावना ही सर्वधर्म समभाव का मूलाधार है जिसे बनाए रखना हम सब भारतीयों का सर्वोच्च कर्तव्य है।

संदर्भ

1. डॉ० गोल्डन वाइजर (अमेरिका) के नेतृत्व में आयोजित 'एन्थ्रोपोलॉजी' सेमिनार से उद्धृत

2. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट-डॉ० बी० आर० अम्बेडकर-1936
3. श्रीमद्भागवद्गीता 4/13
4. ऋग्वेद- पुरुष सूक्त
5. मनुस्मृति 1.91
6. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट-डॉ० अम्बेडकर
7. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज पार्ट-1 पृ०-19
8. संपूर्ण वाङ्मय-खण्ड-9 बाबा अम्बेडकर
9. राज्ज एण्ड फॉल ऑफ हिन्दू वीमेन
10. इण्डियन पॉलिसी भाग-2 पृ०-16
11. राज्ज एण्ड फॉल ऑफ हिन्दू वीमेन पृ०-95
12. भारत के संविधान के उद्देशिका से उद्धृत

Deptt. of Philosophy
UGC-NET, SKMU, Dumka

श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी

इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ० सुधा सिंह 200.00

उत्तरांचल की लोककथाएं

राकेश चक्र 150.00

अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1 अन्तोन चेखव 200.00

अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2 अन्तोन चेखव 200.00

ओ. हेनरी की अमर कहानियां

ओ. हेनरी 150.00

ग्राम्य जीवन की कहानियां

प्रेमचन्द 150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

Global Warming and Natural Climate Change in the Past

Sanjay Kumar

Earth's climate has changed long before we were pouring CO₂ into the atmosphere. Europe was far warmer in the Middle Ages. During the 17th and 18th century, it was much colder, prompting the 'The Little Ice Age', when the Thames was frozen over months at a time. Further back, there were times when the Earth was several degrees hotter than current temperatures. Warming of several degrees often took only centuries or decades.

What the science says...

Past climate change actually demonstrates that the climate is sensitive to radiative forcing. Having determined climate sensitivity from empirical observations, scientists can calculate the climate response to CO₂ forcing.

It's a well established fact that climate changes naturally and sometimes dramatically. The pertinent question isn't "has climate changed in the past?" (of course it has) but "what is causing global warming now?" To begin to answer that, it's helpful to look at the major causes of natural climate change in the past.

Solar Activity

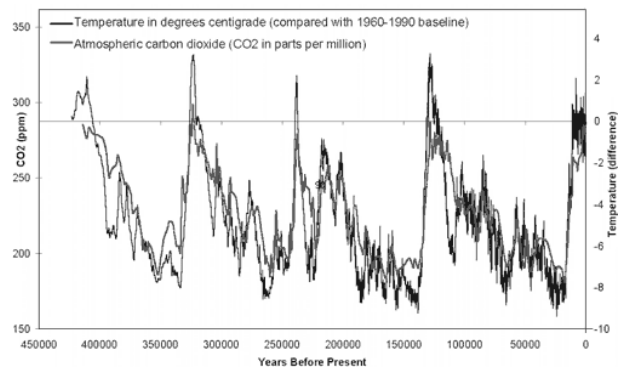
Solar variations have been the major driver of climate change over the past 10,000 years. When sunspot activity was low during the Maunder Minimum in the 1600's or the Dalton Minimum in the 1800's, the earth went through 'Little Ice Ages'. Similarly, solar activity was higher during the Medieval Warm Period.

However, the correlation between solar activity and global temperatures ended around 1975. At that point, temperatures started rising while solar activity stayed level. This led a team of scientists from Finland and Germany to conclude "during these last 30 years

the solar total irradiance, solar UV irradiance and cosmic ray flux has not shown any significant secular trend, so that at least this most recent warming episode must have another source." More on the sun & global warming..

Milankovitch Cycles

Earth's climate undergoes 120,000 year cycles of ice ages broken by short warm periods called interglacials. The cycle is driven by Milankovitch cycles. Long term changes in the Earth's orbit trigger an initial warming which warms the oceans and melts ice sheets - this releases CO₂. The extra CO₂ in the atmosphere causes further warming leading to interglacials ending the ice ages.



For the past 12,000 years, we've been in an interglacial. The current trend of the Milankovitch cycle is a gradual cooling down towards an ice age.

Volcanoes

Volcanic eruptions spew sulfate aerosols into the atmosphere which has a cooling effect on global temperatures. These aerosols reflect incoming sunlight, causing a 'global dimming' effect. Usually, the cooling effect lasts several years until the aerosols are washed out of the atmosphere. In the case of large eruptions or a succession of eruptions such as in the early 1800's, the cooling effect can last several decades. Strong volcanic activity exacerbated the Little Ice Age in the 1800's.

Summary

The usual suspects in natural climate change - solar variations, volcanoes, Milankovitch cycles - are all conspicuous in their absence over the past 3 decades of warming. This doesn't mean by itself that CO₂ is the main cause of current global warming - you don't

prove anthropogenic warming by eliminating all other options. But the primary causes of commonly cited climate change in the past have played little part in the current warming trend.

As for CO₂, empirical observations show that CO₂ has a warming effect as a greenhouse gas, CO₂ is increasing in the atmosphere and the expected warming you would get from greenhouse gases is occurring. Any alternative theory that found a different cause of global warming would also need to explain why the expected (and observed) warming from CO₂ has not eventuated.

References

- Hubbard, E.F., Sallenger, A. 1995. "A Whirlwind of Activity: The USGS Responds to Hurricanes. In: Under standing the Earth." Reston, VA: U.S. Geological Survey.
- Hull, C.H.J. and J.G. Titus. 1986. "Greenhouse Effect, Sea Level Rise,

- and Salinity in the Delaware Estuary." Washington, D.C.: Environmental Protection Agency and Delaware River Basin Commission.
- Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC), 1994. *Radiative Forcing of Climate Change, the 1994 Report of the Scientific Assessment Working Group of IPCC Summary for Policymakers*, World Meteorological Organization, Geneva, Switzerland.
- Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC), *Second Assessment Report, Climate Change 1995*. World Meteorological Organization, Geneva, Switzerland.
- Lyle, S.D., L.E. Hickman, and H.A. Debaugh. 1988. *Sea Level Variations in the United States*. National Ocean Service, NOAA.
- Mayer, Caroline E. "Life on the Beach is an Eroding Proposition," *The Washington Post*, Real Estate Section, September 13, 1997.
- Natural Resources Defense Council. July 1996. "Testing the Waters VI, Who Knows What You're Getting Into." New York.
- Natural Resources Defense Council. July 1997. "Testing the Waters VII, How Does Your Vacation Beach

- Rate." New York.
- NOAA, Office of Oceanic and Atmospheric Research, Environmental Research Laboratories, Climate Diagnostics Centre, Boulder, CO.
- NOAA, Office of Global Programs. 1994. "A Proposal to Launch a Season-to-Interannual Climate Prediction Program," Washington, DC.
- NOAA, Office of Global Programs. 1995. "International Forum on Forecasting El Nino: Launching an International Research Institute," Washington, DC.
- NOAA Office of Global Programs, 1994. *Reports to the Nation, No. 3, El Nino and Climate Prediction*, University Corporation for Atmospheric Research, Boulder, CO.
- NOAA Office of Global Programs, 1997. *Reports to the Nation, No. 4, Our Changing Climate*, University Corporation for Atmospheric Research, Boulder.
- Park, R.A., Lee, J.K. 1993. "Potential Effects of Sea Level Rise on South Florida Wetlands," Climate Change Division. Environmental Protection Agency.



RIGHT TO INFORMATION LAW AND PRACTICE

By Upendra Kumar Singh

In recent years, there has been an almost unstoppable global trend towards recognition of the right to information by countries, intergovernmental organisations, civil society and the people. The right to information has been recognised as a fundamental human right, which upholds the inherent dignity of all human beings. The right to information forms the crucial underpinning of participatory democracy-it is essential to ensure accountability and good governance. The greater the access of the citizen to information, the greater the responsiveness of government to community needs. Alternatively, the greater the restrictions that are placed on access, the greater the feelings of 'powerlessness' and 'alienation'. Without information, people cannot adequately exercise their rights as citizens or make informed choices.

Mapmaking and its History

Dr. Mahesh Kumar

A map is a small-scale, flat-surface representation of some portion of the surface of the earth, whose purpose of a map is to express graphically the relations of points and features on the earth's surface to each other. Cartography is defined as the art of making maps. As the earth is roughly spherical, this involves the systematic representation of all or part of a round body on a flat surface; such a representation is called a map *projection*.

The contemporary science of mapmaking developed very slowly at first, because the exploration of the earth as a whole is itself a relatively recent historical development. "Although the true shape of the earth was in doubt for centuries, many scholars were convinced the earth was spherical" (Snyder 1). This insight was already reached in the classic Greek period. The transition from the Middle Ages to the Renaissance gave rise to a basic change in the concept of map projection. During the Renaissance (particularly in the period 1470-1669), interest in map projections developed substantially and became more sophisticated mathematically. Mapmakers began to build on the work of their predecessors and to innovate. Many projection schemes were developed in this period, including the one most widely known today: "Unquestionably, the most famous projection is the one simply named for the inventor Gerardus Mercator" (Snyder 43).

An ideal map should meet several constraints. It should represent countries with their true shape, and the countries represented should retain their relative sizes in the map. Distances between arbitrary points as shown on the map should bear a constant ratio to their true distances upon the earth. Great circles (lines of longitude) upon the sphere, which are the curves of shortest length on the sphere joining given points, should be represented by straight lines, which are the shortest distances joining the points on the map

("geodesics"). Finally, the geographic latitude and longitude of any place should be easily derivable from its position on the map. Cartographers have worked for centuries to meet these conflicting requirements, but have yet to do so. Slowly over many years they have mastered individual traits of the ideal map, but have not been able to combine them altogether to create the ideal map.

Historically, one of the first steps in preparing a map is to lay down the *graticule*, or net of meridians and parallels, according to the selected map projection. Different map projections require different graticules. Meridians and parallels can be treated as if they represented precise coordinates, placed as straight lines or smooth curves on the map. The system of meridians and parallels, or lines of longitude and latitude, was developed near the beginning of the history of map projections. Latitude is defined as the angular distance north or south of the Equator. "A parallel of latitude is an imaginary line drawn around the Earth parallel to the Equator and at a constant angular distance to it" (Steers 17). Longitude is a similar angular measurement in an easterly or westerly direction. Unlike latitude, the reference point for longitude is arbitrary. "A meridian of longitude is a line passing entirely around the sphere and through the Poles" (Steers 17). Thus the parallels and meridians of a sphere intersect at right angles.

However, before meridians and parallels could be used as the framework for a flat map representing the globe, it was necessary to develop an artificial pattern of lines of longitude and latitude by which positions on the earth's surface could be given systematic locations. Eratosthenes (ca. 275-194 B.C.) had devised a system similar to meridians and parallels, but Hipparchus (ca. 190-126 B.C.) applied more rigor to relate astronomical measurements to the determination of *climata*, or latitudinal positions. He was the first to use a formalized system of longitude and latitude in which the meridian and parallel circles were each divided into 360 degrees, each degree into 60 minutes, and each minute into 60 seconds (following the sexagesimal system of the Babylonians).

The progress of science during this time revolutionized man's conception of the earth, and more precise methods of fixing position on the surface

of the earth were being discovered. “Astronomers were able to deduce latitudes from the proportions between the lengths of the shadow and the pointer of the sun dial. This was the forerunner of the modern method of obtaining latitude”. The problem of the determination of longitude baffled astronomers for a very long time, because unlike the determination of latitude, for which the axis of the earth provides an established reference, no meridian is marked out as an initial one, in the way that the Equator serves as an initial parallel. Eratosthenes arrived at longitudes by “transforming distances into their angular values in relation to the circumference of the globe” (Crone 20). He also attempted to extend two lines of latitude based on the assumption that locations with similar climates and products would lie on or near the same parallel.

There have been several proposed classifications of map projections. One of the most common classifications is based on the association with a *developable surface*. Such a surface may be laid flat without distortion. The most common projections may be geometrically projected onto a cylinder or cone, and are referred to correspondingly as cylindrical or conic projections. “Probably the projection dominant among those inherited from the pre-Renaissance was a graticule appearing to be rectangular, called equirectangular” (Snyder 6). As we have seen, the idea behind this projection goes back to Eratosthenes.

Claudius Ptolemy (90-170?A.D.) provided detailed instructions concerning some

methods of map projection, but many of the types of maps dominant before the Renaissance were based on ideas that were philosophical rather than mathematical. These maps included world maps or *mappaemundi*, such as the symbolic T-O maps on which the landmasses were neatly fitted into a circle:



FIGURE 1.1. The oldest existing printed map known, a T-O map by Isidore of Seville, in *Etymologarum* 1472. Reproduced from Woodward (1975, 8).

Whether the earth was spherical or flat was irrelevant to these maps and their makers. Crone states “the O represented the boundary of the known world, the horizontal stroke of the inset T the approximate meridian running from the Don to the Nile, and the perpendicular stroke the axis of the Mediterranean” (Crone 26). However, Snyder explains, “the T-O design depicts the known continents separated by the Mediterranean Sea shaped like a T and surrounded by an O-shaped ocean” (Snyder 2).

With the expansion of the known world through the conquests of Alexander the Great and the Romans, a vast mass of detail accumulated for use by later cartographers, who were thus able to take up the task outlined by Eratosthenes and Hipparchus with greater assurance of success. “Ptolemy was possibly the single

most influential individual in the development of cartography in Europe and the Middle East at the dawn of the Renaissance, although he lived 1300 years earlier” (Snyder 10). Not much is known of Ptolemy, yet we do have much of his technical writings such as his *Geography*. Ptolemy’s *Geography* is essentially a guide to drawing the world map. The *Geography* is “an extensive table of the geographical coordinates of some 8000 localities” (Crone 21). Ptolemy obtained the positions of these localities based on his study of itineraries, sailing directions, and topographical descriptions. In several ways, however, his work hindered the development of an accurate map of the world. “One of Ptolemy’s principle mistakes was the adoption of a value for the length of a degree equivalent to 56.5 miles, in contrast to Eratosthenes’ value” (Crone 23). When it came time to transform distances into degrees, the figures he obtained were considerably exaggerated. Many other misrepresentations in Ptolemy’s work show up throughout the maps of the Renaissance. These imperfections were gradually eliminated as the exploration of the earth progressed.

During the early Middle Ages, geographical knowledge was fairly meager. Therefore, cartography was merely a routine copying of information; hence, many errors were repeated. By 1300 A.D., cartography began to emerge from its ‘dark ages’. Features of the *mappaemundi* were still persistent throughout the Renaissance maps. “Widening horizons presented greater incentives to the

cartographer, and spurred him to the solution of more complex problems than had faced his medieval predecessor” (Crone 29). Thus, by the 13th century, advances in mathematics and astronomy spurred cartographers in their work. Towards the end of the 13th century there came into use in Western Europe a type of chart based on direct observation by means of the mariner’s compass. These charts are referred to as *portolans*. The portolan charts portrayed the coastlines and ports for sailors. Not many of these portolans have survived, but the few that have been preserved have several features in common. First, the area that they cover comprises the Mediterranean and Black Seas, with a portion of the Atlantic coasts of Europe. Second, each of these charts is covered by a system of lines, generally sixteen to thirty-two lines, radiating over the whole chart. (Crone 30) There is no known explanation of this system of direction lines.

Another notable stage was reached in the 14th century when European cartographers made the first attempt since classical times to include the continent of Asia within their maps. The results of these efforts are seen in the Catalan world maps. Catalan maps originated from the Catalan school. The Catalan atlas of 1375 illustrated here was constructed with the use of three sources:



Outline of the eastern section of the Catalan atlas, c. 1375
From Crone

1. elements derived from the circular world map of medieval times;
2. the outlines of the coasts of western Europe based on the normal portolan chart;
3. details drawn from the narratives of the 13th and 14th century travellers in Asia.

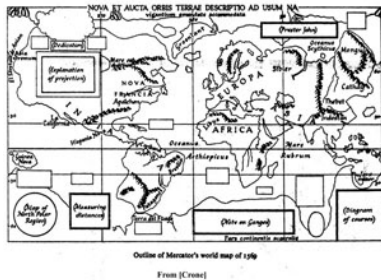
“The representation of Asia is of greatest interest of the Catalan map. For the first time in the history of mapmaking the continent assumes a recognizable form” (Crone 43). Catalan cartographers eliminated most of the traditional errors from the map that had been accepted for centuries. The merit of the Catalan cartographers lay in the skill with which they employed the best contemporary sources to modify the traditional world picture... In the spirit of critical realism, the Catalan cartographers of the 14th century threw off the bonds of tradition, and anticipated the achievements of the Renaissance. (Crone 48)

The maps of the 15th century are consistent with the later Catalan maps in that they preserve some medieval features, but differ in that they show the influence of Ptolemy’s Geography. Fra Mauro, a monk of Murano, near Venice, presented a world map that is often regarded as “the culmination of medieval cartography” (Crone 53). The last important pre-Columbian representation of the world was Martin Behaim’s globe. Martin Behaim was a famous cosmographer from Nuremberg. Behaim’s globe was important above all for the simple reason that it was a globe. It is thought that

this globe stimulated “controversy over the initiation of Columbus’ great design and the subsequent evolution of his ideas on the nature of his discoveries” (Crone 61).

The leaders of overseas exploration made the second great contribution to the revival of cartography. In little more than a century, the oceans of the world had been explored, and seamen were able to provide the chart makers with copious data for their maps. Hence, numerous maps were produced in the 16th century. The Flemish cartographer Gerardus Mercator sought to meet the public’s demand for a comprehensive, up-to-date map. Mercator was a maker of mathematical and astronomical instruments. He solved the problem of the representation of the lines of constant bearing, or *loxodromes*, by straight lines on a chart. Since meridians and parallels are represented by straight lines at right angles, any straight line drawn in any direction crosses all parallels at a constant angle, and also all meridians at a constant angle. Such a line is called a loxodrome. If a line is to preserve a constant *corrupt lines here* * m to follow a single compass setting based on the bearing of the straight line connecting the point of departure and destination. How Mercator did this is as follows: To represent the loxodromes as straight lines on a flat map, the meridians and parallels must be arranged so that the loxodromes cut the meridians at constant angles. Since the meridians converge, the effect of this is to distort east-west distances, and therefore direction and area at any given point. If, however, the

distances between parallels are increased proportionately to the increase in the intervals between the meridians from the Equator towards the Poles, the correct relationships of angles are preserved. This was the solution obtained by Mercator.



Mercator's principle achievements were his globe of 1541 and his world map of 1569, an outline of which is shown above. On his globe of 1541 Mercator first laid down the loxodromes, and in 1569 he projected these lines onto a chart, As illustrated below. Mercator's map was intended not only to be used by navigators, but also to represent land surfaces as accurately as possible. "The projection is a regular cylindrical projection, with equidistant, straight meridians, and with parallels of latitude that are straight, parallel, and perpendicular to the meridians". Instead of stretching the Polar Regions north and south, Mercator limited the stretching in latitude to an equality with the stretching in longitude. Therefore we get a *conformal projection* in which any small area is shown with practically its true shape, but in which large areas will be distorted. For example, according to the Mercator map Greenland is bigger than South

America, when in fact South America is nine times larger than Greenland.

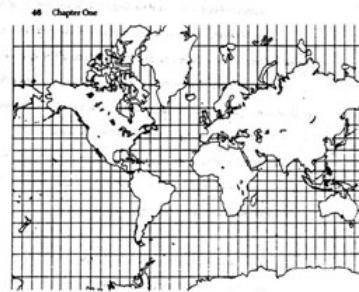


FIGURE 1.37. Modern outline reconstruction of the 1569 map on which Mercator introduced his navigational projection. Center, north-south range and 10° parallels reflect Mercator's choice.

In the seventeenth century, there was a desire to apply new theories of the physical universe to accurately determine the dimensions of the earth. The invention of new instruments enabled scientists to make the necessary observations. The instruments included the pendulum clock, the telescope, as well as more theoretical tools like tables of logarithms, the differential and integral calculus, and the law of gravity. The advance of cartography was furthered by the measurement of an arc on the earth's surface. In the eighteenth century, the advances in mathematics and astronomy associated with the work of Sir Isaac Newton helped perfect the method of determining longitude within one degree. The results of these technical advances were seen in the increased accuracy of the general outline of the continents and their precise positions. Maps of North America and the Indian sub-continent began to be sketched. The progress of the settlement of North America, the organization of colonies, and a continuing Anglo-French rivalry created an increasing demand for maps of greater reliability. Maps

also played a key role in the peace between the American colonies and Britain.

The first map projections were based on little supporting information. The subject was basically mathematical, but although geometry and the beginnings of algebra and trigonometry had been developed by the time of Ptolemy, these were only minimally applied to map projections until after the Renaissance. Projections serve as tools to help display geographical data, but the placement of lands over the face of the earth not known amplified by very limited exploration until the Renaissance.

After the surge of interest by Eratosthenes, Hipparchus and Ptolemy, there were centuries of stagnation resulting from wars and religious intolerance. The Renaissance, however, reawakened mathematicians and cartographers alike. Mercator has provided generations upon generations with perhaps the single most important navigational as well as geographical tool available to this date. "Whatever the future may hold, it is at least clear that the problems and opportunities facing the cartographer will not decrease".

References

- Cited Crone, G.R. Maps and their Makers, London, England: Hutchinson & Co Ltd, 1968.
- Snyder, John P. Flattening the Earth Chicago and London, England: The University of Chicago Press, 1993.
- Steers, J.A., M.A. An Introduction to the Study of Map Projections, Warwick Square, London: University of London Press Ltd, 1956.

**Balrampur College,
Katiyar**

Developments in Communication and Information Technology and their Impacts on Economy and Society

Binod Kumar Rajak

A society can also refer specifically to any group of people, other animals and/or plants and the interactions within that group. This can be anything from a small neighbourhood to the entire global community. Religion, ethnicity, interests, political opinions or other relating factors may help form a group of people.

Society can be defined as “a community, nation, or broad grouping of people having common traditions, institutions, and collective activities and interests.” Technological developments which have occurred in information technology have influenced a “broad grouping of people” in their “common traditions, institutions and/or collective activities”. This broad grouping of people primarily occurs in the industrialized world of where “information technology” is commonly available.

We shall use the common traditions, institutions and collective activities and interests as the basis for our examination of the impact information technology has had on society. We shall also integrate this examination with the impact of how information technology has changed the “way we work”. This integration will occur in two areas of the analysis of society, first the institutions and second the collective activities of the society.

Common Traditions

In the context of this report it is helpful to highlight a difference between “traditions” and “activities/interests”. Tradition can be defined as the following:

“An inherited, established, or customary pattern of thought, action, or behaviour (as a religious practice or a social custom). Cultural continuity in social attitudes, customs, and institutions.”

The influence of information technology on religious practices has mainly been to the effect of making information about them more accessible. The most relevant question though is whether the developments in information technologies have influenced the continuity of social attitudes, customs or institutions.

Cultural Continuity

Social attitudes have changed in that citizens of a society now expect the various elements of that society to be better informed than previously. They also expect to be able to access more information about a specific product, service or organization so that they can make informed decisions with regard to their interactions with that entity.

Institutions

The word institutions can incorporate a wide variety of organizations. For the purposes of this report the institutions we will examine will be:

- Governments,
- Commercial businesses,
- News & media organizations,
- Educational organizations.

The focus is on how information technology development has improved the processes by which these institutions accomplish their tasks or goals.

Governments

The government of a nation is comprised of many varied institutions. However developments in information technology have helped governments to improve their “service” to their citizens. Information technology has also had a major impact on the defense capabilities of governments. This covers both a government’s capability to wage war and their intelligence gathering capability. Advances in weapons technology and weapons design have increased the

effectiveness of various governments' armed forces. For example it would have been impossible to design aeroplanes such as the B2 Bomber if it were not for the advances made in information technology. The B2 bomber relies on a "continuous curvature" design to minimize radar signature. It would have been impossible to design or build this machine without the development of computer modelling techniques.

Governments also have had to become more careful with their sensitive information. The proliferation of Internet technologies has led to stories such as:

"The Web becomes the focal point of British politics as a list of MI6 agents is released on a UK Web site. Though forced to remove the list from the site, it was too late as the list had already been replicated across the net. (15 May 1999)"

The governments data protection act Web Site gives the following eight rules regarding personal information:

1. It must be fairly and lawfully processed;
2. Processed for limited purposes;
3. Adequate, relevant and not excessive;
4. Accurate;
5. Not kept longer than necessary;
6. Processed in accordance with the data subject's rights;
7. Secure;
8. Not transferred to countries without adequate protection.

Commercial Businesses

The advances in information technology have heavily influenced commercial businesses in several

areas. The most important role of information technology in a commercial business, however, is to provide a commercial advantage. Advances such as computer-aided design, relational database technologies, spreadsheets and word processing software provide a commercial benefit to the business, as does automation of manufacturing processes (which Sara-Lee did in 1964). Advances in information technology over the last thirty years have led to the television, for example, being more widely used today than thirty years ago (e.g. the introduction of transistor-based televisions reduced costs while increasing reliability).

News & Media Organizations

Due to the nature of news and media organizations, information technologies have particular relevance to them. As noted earlier, "Information technology is the technology used to store, manipulate, distribute or create information". News and media organizations are intimately acquainted with each of these elements of information technology. This report focuses on the distribution and creation of information.

Educational Organizations

The developments that have occurred in information technology have had many influences on educational establishments. The distribution of information is not the only concern of educational establishments. For example, one of the aims of universities is to create information. This creation is often done by research.

Information technologies have enabled researchers to access a wider source of information than previously available through such technologies as the Internet. The original Arpanet was set up primarily to assist research. The Internet and other related technologies, such as electronic mail, enable collaborative projects to be undertaken between geographically distant groups.

Collective Activities and Interests

One of the aims of the report is to analyze the influence of information technology on the collective activities and interests of a broad range of people. The phrase "collective activities and institutions" has a wide scope which can be divided into two main areas:

1. Work processes,
2. Social.

Impact of Information Technology and Electronic Governance

E-governance is the effective way of governance utilizing IT to enhance efficiency of government offices. The Government of India is devising new policies to envisage a SMART – simple, moral, accountable, responsible, and transparent governance to bring nationwide reforms. The customs department plans to use electronic data interface (EDI) to handle all transactions relating to custom duties more efficiently, for which initiatives have been taken by National Informatics Centre (NIC). Other areas of computerization include railway and air reservations, allotment of permanent account numbers

(PAN), processing of passports, results of examinations, vigilance information, etc. The income tax department has introduced an online tax accounting for collecting the income tax by RBI and 31 commercial banks throughout the country from 1 June 2004 on.

IT Policy and Emphasis on E-governance

E-governance attempts in the country started with a bang. The initial impetus came from the Ministry of IT, which produced a concept paper, emphasizing the method by which the state has to deliver its services in the information age. The paper envisages a SMART government and promises to establish the required institutional mechanisms to facilitate initiatives towards synergic utilization of IT to enhance effectiveness of governance. NASSCOM conducted a survey of ten leading states (Andhra Pradesh, Tamil Nadu, Karnataka, Maharashtra, Madhya Pradesh, Kerala, Uttar Pradesh, Rajasthan, Gujarat and West Bengal) and pointed out that all these states have an IT policy, expert group, e-governance cell, and some even have a separate IT department. Some of them have also included specific policy measures that not only aim to facilitate IT investments in the state but also focus on using IT for governance-related issues.

IT Budget and E-governance Funding

Initially, IT budgets of Indian states have been very low, however, during the last half decade, the budgetary support for IT projects has shot up. A NASSCOM survey of the ten states for 2002-2003

revealed a total allocation of about Rs. 3 billion. Kerala topped the list with an allocation of Rs. 964.2 million, followed by Andhra Pradesh and West Bengal with Rs. 548.3 million and 355.1, respectively, towards IT projects in the states.

Initiatives by States and Union Territories

Technology is playing an important role for the all-round development of the country. In 1988, the NIC set up NICNET, a satellite-based computer communication network connecting 439 cities and towns in India. Most of the states and union territories have taken initiatives in one way or the other.

Conclusion

Today, we are all in agreement that the world is becoming increasingly dependent upon technology as is evidenced by the big role it is playing. The Internet has become a major shareholder. All developing nations can derive tremendous advantages from this technology for updating the knowledge of its researchers and scientists. The Indian software and services industry has significantly helped to boost the Indian economy. Society expects to be able to store information more than was previously conceived. Society expects to be able to manipulate the information it has for its own benefit, to increase understanding and discover new relationships. Society expects to be able to distribute information quickly, efficiently and cheaply. The Government of India has been working gradually and successfully towards improving the IT policy climate in the country.

References

1. Bell, D. (1973). *The coming of post-industrial society*. New York: Basic Books.
2. Kelly, K. (1994). *Out of control: The rise of neo-biological civilization*. Reading, MA: Addison-Wesley.
3. Ackoff, R. (1993). From mechanistic to social systematic thinking. *Systems thinking in action conference*. Waltham, MA: Pegasus Communications.
4. Lombardo, T. (1997). The impact of information technology: Learning, living, and loving in the future. *Labyrinth*, 5(2). Retrieved April 4, 2007.
5. Goel (Ritendra). (2005). *Fundamentals of information technology*. Lucknow: Paragon.
6. Alexandrou, M. (n.d.). *Definition of information technology*. Retrieved April 4, 2007.
7. Kawatra, P. S. (2000). *Textbook of information sciences*. New Delhi: A.P.H. Pub.
8. *Glossary of academic information technology terms* Retrieved April 4, 2007, from San Diego State University ROHAN Academic Computing.
9. Guinee, K. (1995). *A journey through the history of information technology*. Retrieved April 4, 2007.
10. Callaghan, M. (2002). *The impact of ICT on society*.
11. Kumar, K., Singh, S. P. (2000). From information society to knowledge society.
12. Abdul Kalam, A. P. J. (2001, February 3-9). Knowledge society.
13. *Web directory*. (n.d.). Retrieved April 4, 2007.
14. *Merriam-Webster's online dictionary*. (2007). Retrieved April 4, 2007.
15. *Merriam-Webster's online dictionary*. (2007). Retrieved April 4, 2007.
16. Zakon, R. (2006). *Hobbes' Internet Timeline v8.2*. Retrieved April 4, 2007.
17. UK Information Commissioner's Office. (n.d.) *Data protection*.
18. Meadowcroft, B. (2001). *The impact of information technology on work and society*.
19. Srinivasa, P. (2004, June 1). ISP float 'win-win' plan to slash costs. *Hindustan Times*.
20. NASSCOM (2003). *The IT in India: Strategic Review*. New Delhi: NASSCOM.
21. India Ministry of Information and Broadcasting. (2004).

**Research Scholar,
Magadh University**

Role of NGO and Government in Struggling Discrimination against Girl Child

Syed Azfar Hassan

The status of the girl child is the key to achieving women's equality and dignity which is, in many ways, a litmus test of the maturity of a society. The mould of a woman is set in her childhood and a woman's child bearing potential is valuable and necessary for survival of the world. But we see girls facing discrimination everywhere, in each corner of the world. As observed by Beijing Platform for Action in paragraph 259:

"The girl child is discriminated against boys from the earliest stages of life through her childhood and into adulthood. In some areas of the world, men outnumber women by 5 in every 100. The reasons for this discrepancy include harmful attitudes and practices, such as female genital mutilation, son preference...early marriage...violence against women, sexual exploitation, sexual abuse, discrimination against girls in food allocation and other practices related to health and well-being. As a result, fewer girls than boys survive into adulthood."

In this connection, some vital statistics cited by the United Nations may also be added:

- Of the more than 110 million children not in school, approximately 60 per cent are girls.
- By age 18, girls have received an average of 4.4 years less than education than boys.
- Of the more than 130 million primary-school-age children worldwide who are not enrolled in school, nearly 60 per cent are girls.
- In some countries in sub-Saharan Africa, adolescent girls have HIV rates up to five times as high as adolescent boys.
- Pregnancies and childbirth-related health problems take the lives of nearly 146,000 teenage girls each year.

- In sub-Saharan Africa, a woman faces a 1 in 13 chance of dying in childbirth. In Western Europe, the risk is 1 in 3,200.
- At least one in three girls and women worldwide has been beaten or sexually abused in her lifetime.
- An estimated 450 million adult women in developing countries are stunted, a direct result of malnutrition in early life.
- Every year, two million girls and women are subjected to female genital mutilation.

Discrimination against Girls

Preferring sons to daughters: According to the Demographic Health Survey and the World Fertility survey, parents not only in India but also in other South Asian countries and North Africa strongly prefer sons to daughters. Socially, sons are preferred for continuation of family line, for looking after parents in their old age and for performing their last rites. Besides, poor parents of a daughter feel humiliated due to dowry demands when her marriage is to be settled. In most Indian households, girl child is discriminated and neglected for basic nutrition, education and health care. Adverse sex ratio, high malnutrition, high maternal mortality rates, high dropout rates, poor school environment levels, low skill levels, low value for girls' household works in society are all indicators of high preference for a male child due to the belief that girls are less of an asset and more of a liability.

In Bangladesh, about 66% of boys seek free treatment of diarrhoea centres and parents buy and seek medical help three times more often for boys than for girls. Studies in India and Latin America show that girls are often immunized later than boys or not at all. India is one of the few countries of the world where sex ratio is adverse to females (933 females per 1000 male in 2001) while 12 million girls are born in India every year, almost 50,000 female foetuses are aborted in a year after sex determination. Although unlawful since 1994, the female foeticide is still a serious menace in the country. The discovery of amniocentesis is being grossly abused to wash away the female foetus from the womb. Consequently, the infant mortality rate is much higher among girls than boys.

The overwhelming social discrimination against girl child affects her human rights from her birth or even before birth. In many communities and in rural areas, an adolescent girl is married off by her parents around puberty. Early pregnancy, in turn, undermines her health, physical development and the health of the new born babies. A young and adolescent girl is denied a right to education, depriving her of vital information regarding health care, nutritious food, immunization, proper upbringing of children, family planning and reproductive rights etc. thus leading to the second stage of bondage in her life- a bondage much larger and more unbearable than years spent at parental home. The girl is treated as a transit passenger on her way to marital household and investing in her survival, safety and education is considered non-productive.

Violence: Family, workplace, community and anywhere, the act of violence in forms of aggression, exploitation and discrimination is clearly evident and experienced by female and girl children. Broadly speaking, communal, caste and regional tensions within the country have undermined and damaged the social fabric making women, especially from the socio-economically disadvantaged classes, more vulnerable to violence. Also, the acts of violence directed at the young girls and females consist of spouse battering and forced sex, eve teasing or intimidation of the female in public spaces (the Mangalore pub incident on the 24th of January, 2009),

sexual harassment on the job or at the workplace, rape, acid throwing, kidnapping etc. Absence or insufficiency of dowry becomes a source of the bride's maltreatment, victimization and even 'accidental death'.

The latter amounts to clandestine murder, often made to look like suicide. Rape, prostitution, drugs, smuggling, riots and terrorism are increasingly affecting women. The trafficking of girls has been on rise lately. A large number of such young girl children are being pushed into flesh trade trafficked from countries like Nepal and Bangladesh. Innocent and poor girls, on false lures and promises of jobs, marriage or confession of undying love by men, are being sold or deserted or forced into prostitution. Police raids indicate that the phenomenon is no longer confined to demarcated red light areas and the net has spread far and wide into slum areas, resettlement colonies, middle class residential areas, guest houses in posh localities, luxurious hotels and massage parlours.

There is absolutely no mechanism within our system to streamline different incidents of violence and present the statistics in the form of reports as a good number of cases go unreported. But the situation is alarming and horrifying as girls are subjected to sexual violence with absolute impunity everywhere. Let us have a look at the table given below, published by the National Crime Report Bureau to record the number of rape incidents in the year 2007.

<i>Name of the State</i>	<i>No. of Incidents</i>
Delhi	602
U.P.	1648
M.P.	3010
Bihar	1555
Chhattisgarh	982
Uttarakhand	117
Assam	1437
Maharashtra	1451
Rajasthan	1238
West Bengal	2106

Source: Compiled from 'Hindustan', Sunday, Feb.8, 2009

It is painful to know that 36% of neighbours, 7% of relatives, 2% of family members and in 97% of the cases, the accused known to the victim were reported to have been involved in these sexual crimes. Barkha Singh, the President of Delhi Women's Commission says that such incidents of rape occur mostly in slum areas or resettlement colonies wherein parents go outside to earn their livelihood leaving their girl child alone in the house. Prominent sociologist Dr. Randhir Kumar considers it to be the after effect of economic crisis and poverty.

Education: If survival of girl children is necessary for the existence of the world, their education is equally important for its development. Girls are to be the future mothers besides future policy makers and leaders. As such, education, employment opportunities and a supportive home and societal environment are keys to their empowerment. The Managing Director of the World Bank, Washington DC, Mr. Ngozi

Okonjo-Iweala, while addressing the annual meeting of World Economic Forum at Davos, Switzerland, in January 2009, pointed out the importance of girl effect on development in these words: “Investing in women is smart economics. Investing in girls – catching them upstream – is even smarter economics.” Educating girls yields a higher return in improving the local economy rather than any other type of investment. For example, an educated girl will use 90% of her future income towards her family, while boys invest only 35%.

Similarly, former UN Secretary General, Mr. Kofi Annan, pointed out that “shortchanging girls is not only a matter of gender discrimination, it is bad economics and bad societal policy. Experience has shown over and over again, that investment in girls’ education translate directly and quickly into better nutrition for the whole family, better health care, declining fertility, poverty reduction and better overall economic performance.”

Obviously, these are long term and far reaching benefits of education to end the struggle against gender discrimination. Education is the greatest weapon in knowing their rights and how to protect and promote them. When girls are educated, they-

- 13 have better career and employment opportunities in life
- 14 are better able to avoid commercial sexual exploitation
- 15 gain self confidence
- 16 learn the life, technical and

practical skills to demonstrate their capabilities and challenge stereotypes about women.

Role of Government and Non-governmental Agencies

In order to help girl children survive and reach their full potential, the Beijing Platform for Action recommended that governments, agencies and private sector to:

- a) Eliminate all forms of discrimination against the girl-child;
- b) Eliminate negative cultural attitudes and practices against girls;
- c) Promote and protect the right of girl-child and increase awareness of her needs and potential;
- d) Eliminate discrimination against girls in health and nutrition;
- e) Eliminate the economic exploitation of girl labour and protect girls at work;
- f) Eradicate violence against the girl-child
- g) Promote the girl-child’s awareness of and participation in social, economic and political life;
- h) Strengthen the role of the family in improving the status of the girl-child.

The convention on the Rights of the Child (CRC) adopted in 1989 provides an agenda for action in identifying enduring forms of inequality and discrimination against girls, abolishing practices and traditions detrimental to the

fulfilment of their rights and defining an effective strategy to promote and protect these rights. Other than the CRC, the Convention on the Elimination of all forms of Discrimination against Women (CEDAW) is the most extensive and widely ratified international agreement promotion the rights of girls and women. In 2001, the government of India in National Policy for Empowerment of Women:

“All forms of discrimination against the girl child and violation of her rights shall be eliminated by undertaking strong measures both preventive and punitive within and outside the family. These would relate specifically to strict enforcement of laws against prenatal sex selection and the practices of female foeticide, female infanticide, child marriage, child abuse and child prostitution etc. Removal of discrimination in the treatment of the girl child within the family and outside and projection of a positive image of the girl child will be actively fostered. There will be special emphasis on the needs of the girl child and earmarking of substantial investments in the areas relating to food and nutrition, health and education, and in vocational education. In implementing programmes for eliminating child labour, there will be a special focus on girl children.”

National Plan for Action:

The government of India formulated and announced its National Plan for Action for the SAARC Decade of the Girl Child (1991-2000) in 1992 which provided that effective steps would be taken for

- 17 survival and protection of the girl child and safe motherhood
- 18 overall development of the girl child

19 special protection for vulnerable girl children in difficult circumstances and belonging to special groups- economically and socially deprived or disabled.

Added to these, special care would be taken to reduce gender disparities, infant mortality and malnutrition, to prevent female foeticide and infanticide and to increase enrolment and retention of girls in schools besides elimination of child labour.

Empowering Girls: A Peek into Nations' Initiatives

1. Nicaragua- it is a country with the highest rate of teenage pregnancy in Central America. UNFPA has supported the development of a programme focusing solely on adolescent reproductive health. This programme focuses on reaching youth in rural populations through mobile clinics and theatre groups.
2. South Africa- young women are provided opportunities to start earning an income and/or to continue their education. It involves training and interaction with peer educators who act as role models. They share experiences and learn about leadership, assertiveness, communication, decision-making, goal-setting and conflict resolution. Learning about their reproductive and sexual health and getting the

services they need are also important elements.

3. Egypt- a Youth Leadership project helps local NGOs implement youth projects that answer the needs of youth for clear and practical information on reproductive health. Young women and their needs are the principal focus.
4. Sri Lanka- a counselling programme was introduced in a medical clinic where women and girls received reproductive health information. In addition, the project helped the police detect cases of child abuse and bring the offenders to justice. Involvement of policewomen was a significant step. Policemen were trained in counselling traumatized children and volunteers worked with the local police on child-abuse issues. Special Child Abuse Desks were set up at all police stations with trained staff. A law was passed prohibiting child abuse.
5. India- it is encouraging to note that our government launched Balika Samridhi Yojana on 2nd Oct, 1997 to encourage enrolment and retention of girls in schools and to give financial support to girls attending schools. 24th of January has been decided to be observed as National Girl Child Day. On the 16th Foundation Day of National Commission for Women reiterated its commitment to protect

women's rights by an advertisement published in The Hindu on Jan 31, 2001 that prenatal diagnostic check up for determining the sex of the foetus and absorption of the girl child are strictly against the laws of the land, civilized society and God. Persons found involved in or assisting in female foeticide shall be liable for strict penal action, including heavy fines and/or imprisonment.

Steps taken for Betterment of Girl Child in Bihar

It is commendable that the Bihar government presented a gender sensitive budget in the assembly for 2008-09, with special focus on the socio-economic development of women and girl children. 30 percent provision was earmarked for women in scholarships and Sarva Shiksha Abhiyan. Women, who constitute 50 percent of the total population in the state, were lagging far behind in all human development indicators. The gender ratio in Bihar was 921 women against thousand men. The population of women was 39.7 million against 43.2 million of men. Women literacy rate is just more than half of men. Only 50 percent of women are literate. The state government has made a provision of Rs.22.48 billion for the 10 key social sector departments as total provisions of Rs.149.57 billion for the next fiscal Rs.720 million has been provided for Chief Minister's Balika Poshak Yojana, Rs.421.4 million for Balika Cycle Scheme,

Rs.200 million for Kanya Vivah Scheme, Rs.260 million for Kanya Suraksha Yojana and Rs.225 million for Nari Shakti Yojana. Besides this, the government has earmarked Rs.51.5 million for Swaymsidha, Rs.539 million for Lakshmi Bal Social Security Scheme, Rs.138 million for National Programme for Adolescent Girls, Rs.1 billion for supplementary nutrition, Rs.4.9 billion for Indira Awas Yojana and Rs.144.5 million for Dular Strategy. The government would invest Rs.14 million for establishing a new ITI for women.

Conclusion

Discrimination against girl child is a curse for the society. Mass campaigns in favour of survival of girl child and giving her human rights including education, must be initiated to bring a positive change. Once the platform for girls' survival is taken by the public, not only will the girls survive but their health and education can also be taken care of. Such campaigns need to be organized particularly in the villages highlighting the threat to the life of the girl child and creating awareness in the villages about the dangerous consequences which the society as a whole will have to face without the girl children. The issue has to be discussed on religious, cultural, economic, political and social level. Computer literacy and enhancement of technical skills among girls must be ensured. Added to this, self defence trainings, as karate, must be introduced and made compulsory for girl children to make them self reliant and cope with unforeseen circumstances. If the society has

to grow into a civilized social fabric, the enlightened mass has a responsibility to shoulder and share and that is not only discussions in seminars but also mobilizing the women and organizing the society for equality in all spheres of social and national activities where any discrimination on gender basis is uprooted.

References

1. Beijing Platform for Action, 1995 in paragraph 259
2. Girls_and_Gender_Discrimination
3. Times of India (Patna edition), July 7,1995.
4. Ibid.
5. Sujata Manohar- Human Rights for Women Empowerment, article in Promila Kapoor's 'Empowering the Indian Women,' Publication Division, Government of India, New Delhi, 2001.
6. Neelam Gorhe- Combating violence against women for their empowerment.
7. Amarjeet Kaur- Poverty, Women and their empowerment.
8. Jyotsna Chatterjee- Empowerment of Women Victims of Trafficking and Prostitution: A Case Study.
9. Hindustan (Muzaffarpur edition), Sunday, 8th Feb, 2009.
10. <http://allafrica.com/stories/200902030225.html>
11. <http://www.unicef.org/earlychildhood/4408.html>
12. <http://www.unfpa.org/intercenter/beijing/girl.htm>
13. <http://www.wcd.nic.in/empwomen.htm> para 8.1
14. Kiran Devendra- Whose Empowerment are we Talking of : Women! But where will we Find Our Girls!!, p.31 in Promilla Kapoor's book Empowering the Indian Woman
15. <http://www.unfpa.org/intercenter/beijing/girl.htm>
16. *ibid.*
17. *ibid.*
18. *ibid.*
19. http://www.thaindian.com/newsportal/business/bihar-presents-gender-sensitive-budget_10032021.html.

M.S.W (Deptt of Sociology)
Patna University, Patna

जीवन वृत्त
महान देश रत्न (टैगोर, गांधी, नेहरू व पटेल)
चिरमस्णीय महान लेखक
चिरमस्णीय महान वैज्ञानिक
चिरमस्णीय महान व्यक्तित्व
यशपाल का साहित्य सर्जन के विविध आयाम
निर्मल वर्मा व्यक्तित्व एवं कृतित्व
कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल
सरदार वल्लभ भाई पटेल
मदर टेरेसा

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन
 एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053
 फोन : 9811710900

Life with Secularism

Dr. Praseon Dutta Singh

By life I mean what life forms are predicated on. A life form is a complex of practices, values, reasons, and beliefs etc. that picks out a group as a people, or more or less characterizes a group as a people. Life forms may be seen as expressions of life. i.e. life is expressed in life forms. Life forms are our modes of understanding life. Thus at any given moment there is only one life, but many life forms. As modes of understanding life, life forms have a tendency to proliferate and present mutually exclusive (or apparently so) pictures of life.

There is, however, no life other than what finds expressions in life forms. Between life and its expressions there is a relation of under-determination. Life forms are desperately underdetermined by life. Therefore, as modes of understanding life they are equally good and bad. Though different life forms may be mutually exclusive, any one of them does not determine life exclusively. In other words, features of life as found expressions in different life forms are not limited by any particular expression of them in life forms. Nor is a feature of life exhausted by variegated expressions of it.

If one feature is expressed in many forms of life differently, then each of them is determined by that feature. This means that the feature in question underdetermines the several expressions of it in life forms. This makes life forms more like works of art than truthful models of life. All life forms while mutually exclusive can coexist with out antagonisms. Another implication of under-determination is the openness of life forms.

This openness probably originates from the vagueness of the expressions of life, because it may not be made clear whether a particular expression applies on any given occasion.

That is, an expression, describing another life form, can apply equally well on such occasion. It is not ironical to find the ways in which death of the other is accommodated varied greatly from people to people while death remains stoically one.

The openness of a life form may also come from the internal vagueness of its expressions, because with in the same life form it can not be made clear whether any given single expression captures the feature of life it is supposed to be an expression of, or captures that feature fully. Every single expression leaves the possibilities or intimations of a new one open. That is, with in the same life form, expression extends vertically and horizontally, without the need of consolidation.

A life form is competent enough to intimate changes from within Diverging and evolving expressions with in one single life form and differences between district life forms speak of the richness of life. Therefore, when expressions of a life form do not exhaust the richness of life, it remains open and not closed. This gives all life forms a natural sense of humility within and across. There is something really wanting in all forms of life.

Harkening to the silence, feeling the voidness and seeing the unseen in the expressions are sometimes ways in which life forms intimate themselves about their limits. Putting a closure to this movement of life is what I call in this context determining. A mind regime that regulates or controls the expressions of life, and thereby limits the possibilities of the life form is determining. If a religion or an ideology that envelopes or manages the whole of life form, then it is life determining and an instance of mind regime.

Secularism

Secularism is part of a package deal. When you accept secularism other terms in the deal, as a matter of course, comes binding on you. As most of us know, the word secularism is derived from the Latin word 'secularism' meaning 'worldly', 'temporal' etc. 'secular' is in attribute of civil institutions – educational, judiciary, state etc. 'Secular' describes and institution correctly when that institution conducts its activities a

without reference to a religious decree, or a system of unquestionable faith followed by a people. Naturally, 'secular' is not an attribute of a person, whereas a person is a secularist if she holds that the institutions people engage in for conducting their day to day activities in order to satisfy their material needs should be secular. Secularity prevails in a social world when it is largely characterized by secular institutions.

What are the other terms in the deal? Let me consider a few of them briefly here. They are principles that make certain kind of activities possible and regulate them by providing criteria for judging them. In the first place there is what may be called the rationality principle, reconstructed from what is perceived to be the scientific rationality, which in turn is modelled after a conception of how claims are validated in science.

Thus, claims in the public realm need to be substantiated through a procedure, in which reasons are made public and debated and checked against facts. Parliamentary forms of government, modern judiciary and educational practices etc. reflect this principle. The second theme that informs the content of secularism as a world view is the principle of utility. In simple terms, this is a method of judging the outcome of an action. Judging an action as efficient, or not, partly proceeds from this principle. Consequently, this principle enables a set of agents to predict the behaviour of another set of agents. A calculation in quantitative

terms ensures the objectivity of this prediction, a calculation legitimized only by the utility principle. Market centred production and consumption in the modern are epitomized this principle. Such calculations also follow the model of a reconstruction of scientific rationality. Utility principle in fact tends to extend to all kinds of exchanges in the social world in modern times. Therefore, it makes the behaviour of people generally predictable in the modern world. The third component of the world view we discuss is the projection of state as a neutral arbiter.

In Europe the presence of secularism is generally seen as an outcome of the problem of boundary adjustment between the overarching authority of church and the state. I would like to represent the conflict as not one between church and state, but between church and the then emerging bourgeoisie.

Modern market, advances in transportation and communication etc. signalled the emerging into prominence of two new estates in Europe: commons and media. Commons are represented by the bourgeoisie who controlled production and consumption, the economy at large. State itself was not pitted against the church. The new state emerged as a neutral arbiter for the adjustment of power between the church and the king on the one hand and the third and fourth estates on the other. This event tells us the story of a power shift that has a chain reaction in the whole of European

world. State is like a transparent container that reflects the hands of those who handle it. The reason why the idea and practice of the state as a neutral arbiter is an essential component of a world view in which secularism also figures as one is that state in its capacity as a neutral arbiter can ensure that no other force intervenes in the market centred production and conception. Henceforward, values are created in the market. Life forms have to conform to this mechanism of the market.

A fourth principle that goes in tune with the other three mentioned earlier is that of value neutrality. For the other three principles to apply the fourth one is a precondition. Rationality principle ensures that reasoning is maximally formal, so that values do not determine or validate our beliefs. Values are treated like opaque objects, or kept in quotes, so that they do not intervene in the form of the argument. Similarly, utility principle keeps away values from its acts of calculation. Values do not bear deontological markings now. Values became a place marker for admitting what has a utility. The utility principle shifts the burden of value from the virtues one holds in an ideal time to that which satisfies one's wants or needs in real time. Neutrality of value in this sense is a displacement or dispensability of value.

These principles jointly worked to imagine a disenchanted world, a world that is no longer attractive for of its hidden meaning. What is conventionally

known as secularism, in the strong sense of the word, forms only a part of the world view that is largely defined by these principles. Secularism in the strong sense is misrecognition of the historical process by the agents who were the products of the same process.

The separation of powers is not so much between that of church and that state as between a regime in which values are closed and one in which values are displaced. Secularism in the weak sense is a world view the aspects of which we have just discussed. In the strong sense it is misrecognition by the western world about a part of its own history. In both the senses, weak and strong, secularism is a happening to the west.

Life with Secularism

What can one say about life in relation to secularism as a world view in the weak sense of the term? Secularism realized as a world regime is determinative with respect to life in the sense of decisively fixing the expressions of life. When life forms are left to themselves they result from free and indeterminate expressions of life.

Secularism understood in the sense above does not allow free expressions of life. Rationality principle for example expects uniform result when applied to affairs of social life. If people are rational they come to agree on matters that affect them as the life together. Differences among life forms have an irrational basis. Life is some thing that can be

represented in quantitative terms and its movements can be predicted. If we know correctly how life works then we can control it and each expression of it is what we decide it to have. We do not violate laws of life, but only cooperate with them. But when we consider what we make of life when we rationally determine its course it becomes clear to us that (a) the utility principle shapes our project involving (b) we make sense of these projects in terms of our intentions, (c) undertaking such projects implies that we are actively engaged in a productive life involving other human beings in a social life, making living and non living world as our resources (c) our intention in this is to get material benefits or gain control over the environment, or to dominate the other and that (d) in engaging that way, we control our relation with other human beings and the rest of the nature by forcefully limiting the expression of life. The rationality principle that characterizes secularism as a world view has thus deep and far reaching consequences for the movement of life. That is why we say that it is life-determining. Where as life forms unregulated by any ambitious regimes are slow and indeterminate with regard to life expressions they gather into their body.

As a world view secularism is as proselytizing as other religions like Christianity and Islam. Though it is open in some sense in contrast to religions in general, this openness is unidirectional or 'closed' openness. Organized

religions, when ambitious, show a tendency to manage or supervise the life form by closing the latter to the freely evolving patterns with in the life form. Similarly, secularism as a world perspective assumes the role of a life form and closes it to any internally intimated alternatives. 20th century experience the secularist world view in the weak sense mentioned closing in on the enormously rich life forms all over the world. By 1920s about 84% of the earth came under the rule of a few western countries. To my mind the west, despite the decolonization, has succeeded in mastering the whole world through the spread of secularist world view in the weak sense. Viewed from this angle one sees the life-determining movement of secularism. It has created its own opposition, in a logically contradictory manner, i.e. the non-secular, indicating an absolute opposition.

However, the world view of which secularism in the strong sense is only a part and which we have called weak secularism does not function integrally to shape the life form of populations. The underlying principles of such a world view apply in the life of people as relatively independent modules but connected together in a subtle and inexplicit and often unrecognized manner. Thus, utility principle is a crossover reason that finds a place across different life forms. If we translate the utility principle in to the day-to-day life of people, or into the manner in which people conduct their daily life, we find people of different life forms acting similarly: each uses

the other largely for material advantage. Within the same life form people do not follow religious tenets in their relation to each other. The significance of the other is not that she shares with me a set of religious values that define both of us together but that I can use her.

Same is the case with rationality and value neutrality. They eat into other life forms. These principles are internalized by life forms which are mutually exclusive and professedly non-secular. This has the consequence of weak secularism being unrecognized as a competing world view by its traditional opposites. Weak secularism is like a Trojan House, weak in form for it to be clearly recognized but strong in destructive power. Having internalized basic principles of weak secularist perspective, life forms no longer see any opposition in this world view when it is spelt out.

However, the mind regimes which tend to organize life forms into closed systems are wary of such principles, but only bend them to their advantage. This means that under secularist spell, life forms do not disappear but reorganized and get hardened under mind regimes, such as we come across the globe today, which absorb shocks the secular movements send in to it by simply mutating.

As an independent module of weak secularism the strong secularist position of which the principle of state as the neutral arbiter is the only significant pretension, is strong in appearance and weak in content. It is strong in

appearance because the mind regimes of life form in the contemporary world aim to totalize their regimes by removing the neutrality from the arbiter-ship of the state. The apparent strength of the principle of neutral arbiter in fact derives from its being perceived as the last bastion of secularism by the mind regimes. It is weak in content because there is no support of any life form for neutral state to fight its last battle, because what ought to have been the constituents of its life form (if it pretends to be one) have already been eaten up by other life forms. Therefore, it has no cause to fight for. This also exposes the weakness of formal democracy which apparently support and institutionalize neutrality principle of state. This is because formal democracy cannot prevent life forms as mind regimes from legally

claiming the arbiter-ship of the state thereby ending its neutrality. This is exactly what happens to life after secularism, i.e. when secularism retired from the scene. Arbitrariness of the state will then reappear in a new form.

References :-

1. Dr. Harendra Prasad Sinha – Dharmdarshan Ki Rooprekha
2. Rationalism – Editor Garden Steen– pg 11, 12, 13
3. A Psychological Study of Religion – pg 23, 27.
4. Ashwaghosh Budhcharita – Part II, Pg 21-23
5. Dr. Radhakrishnan Indian Philosophy – Part I Pg 456, 57
6. Prabhachandra, Pramaya – Marthand – Pg 281
7. bandhicharyavathar : Shantidev Pg 119 – 126
8. Nizar Ahmed – A notes on Secularism

Asstt. Professor & Head
Dept. of Sanskrit,
S.B. College, Chandil, Ranchi
University Ranchi.

States of India Series

India is a federation of states and union territories. As of now, there are 28 states and 7 union territories in the country, all these states have made tremendous progress in almost every sphere since 1947, when the nation had attained freedom. People of one state have little authentic knowledge about other states. This situation, in some cases, creates problems and difficulties with no ready solution at hand. The books cover life and people under various heads—Land and the People, Education, History, Geography, Economy, Polity, Tourism, etc. This is the best example of 'knowledge in a nutshell'.

To Order Please Write to :

PUSHPANJALI PRAKASHAN

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053
Phone : 9811710900

Sectoral Trends and British Regional Economic Growth – A Spatial Econometric Perspective

Suresh Prasad

The emergence of an impressive array of spatial econometric techniques in recent years has helped give geographic factors a more realistic characterisation in regional economic analysis. The importance of this spatial dimension has never been in doubt, but the tools are only now available to provide a more vivid depiction of how the regional growth process is impacted by core or peripheral location, proximity to natural resources, and spillover effects from neighbouring regions. This paper builds upon the work of Henley (2005) and Monastiriotis (2006) and employs these spatial techniques to shed light on the regional growth process occurring in Britain over the period 1995-2004. Regional disparities have been synonymous with modern day British economic development and their influence can still be seen in current regional growth trends. In 2005 the gross value added (GVA) per head of population for the UK was £17,700, with London having the highest regional GVA per head of population (£24,100), and the South East following with £20,400. The East of England (£18,900) was the only other region to have a GVA per head of population higher than the national average. Wales had the lowest GVA per head of population at £13,800.4. That said, there have been signs recently that these disparities may be lessening: in 2005 the North East enjoyed, along with the East Midlands and London, the strongest GVA per head growth (4.4 per cent),

while the lowest growth rate (3.5 per cent) was experienced in the South East.

This analysis of British regional economic development focuses on NUTS 3 real GVA *per capita* data spanning the period 1995-2004, not just for aggregate British GVA *per capita* but also for the secondary and services sectors. In this way, it is possible to look beneath the surface of the British sub-regional aggregate GVA growth process experienced over the period 1995-2004, by examining to what extent this process may have been driven by the differing growth dynamics of the secondary and services sectors. This approach also finds support in the work of Boddy *et al.* (2005) who, in their study of productivity differentials based on individual business units, find that “the scale of difference in productivity between particular sectors is very considerable”. Two problems often emerge in studies utilising highly disaggregated regional data: (i) neglect of the impact of commuter flows and (ii) the administrative delineation of regions may not reflect self-contained economic areas. This paper attempts to address these two issues by constructing a set of functional economic regions for Britain, where the 128 NUTS 3 regions are aggregated together using a method based on commuter flow data. These functional economic areas provide a means for checking the robustness of results emanating from the econometric analysis carried out on the NUTS 3 level data. While the time-span (1995-2004) considered in this paper is dictated by data availability, this decade is nonetheless an important one. It captures a period of time where regional growth in many developed countries has been impacted by the move towards the outsourcing of manufacturing and the absorption of phenomenal technological advances.

Britain is no exception to this trend: in 2004 primary, secondary, and services as defined in Section 2, below, accounted for approximately 1%, 22% and 75% of British GVA, while the equivalent shares in 1995 were 2%, 30% and 66%, respectively. This surge in services sector output, accompanied by a falling off of secondary output, justifies a more disaggregated approach to the convergence/divergence debate.

This paper is organised as follows: Section 2 provides a description of the data used in this paper, as well as a brief review of the literature on British regional growth in the years prior to 1995. The spatial dispersion of British real GVA *per capita* is also discussed, with a set of colour-coded maps provided. A description of how α -convergence analysis has been

augmented to include a number of spatial econometric methods. The section concludes with an outline of the approach adopted in this paper for allocating British NUTS 3 regions to functional economic regions. The results of the spatial econometric analysis testing for absolute and conditional convergence.

This paper is primarily focused on NUTS 3 level gross value added (GVA) *per capita* data. Unadjusted (constrained to headline NUTS2) aggregate GVA by NUTS3 area at current basic prices for the years 1995 to 2004 is available from the Office of National Statistics, as well as being disaggregated for 1) agriculture, hunting and forestry 2) Industry, including energy and construction and 3) service activities, including Financial Intermediation Services Indirectly Measured (FISIM). These three categories are henceforth referred to as “primary”, “secondary”, and “services”, respectively. Estimates of workplace-based GVA allocate income to the region in which commuters work. *Per capita* estimates can then be constructed using NUTS 3 level population data available from Nomis Labour Market Statistics. Unfortunately, regional deflators such as the Retail Price Index (RPI) are only available for the UK for the years 2000, 2003, and 2004, and the methodology for this index is still at a formative stage. One could merely use the yearly national deflator for each NUTS 3 region. However, this would be unsatisfactory as it would make no allowance whatsoever for regional price differences – particularly problematic in the British case as secondary, services, and aggregate GVA *per capita* exhibit clear regional trends. In this study, regional deflators for each year have been constructed by weighting the 1995-

99 national RPI figure by the 2000 regional RPI weights. Similarly for 2001-2002 regional RPI the 2003 regional RPI figures are used as weights. The basket used to calculate the RPI figures include both consumer goods and services such as household services, personal services, and leisure services.

By way of background, it should be noted that studies of British regional growth patterns over the 1977-1995 period, based on National Accounts GDP *per capita* data for the 62 British counties and New Earnings Survey data, have identified a number of prominent features. Chatterji and Dewhurst (1996) conclude that Regional GDP *per capita* data yields no evidence of convergence over this time period, though they do identify some sub-periods that exhibit convergence (in periods where the economy as a whole was experiencing slow growth). Bishop and Gripaios (2004) find no signs of convergence over the period 1977-1995, regardless of whether one uses National Accounts or New Earnings Survey data. A further insight to emerge from this line of research has been the influence of geographic location and spatial factors on British regional growth. Dewhurst (1998) finds evidence of the influence of the “north-south divide” on British regional growth patterns while Bishop and Gripaios (2004) also find a significant “north-south divide” effect, which acts to the detriment of the northern areas. More recently a whole range of spatial economic techniques have become available, allowing for a more refined characterisation of the spatial dimension in the regional growth process. When this spatial component is controlled for in convergence analysis, there are signs that not only has Britain not

experienced regional convergence in recent decades, but there may even have been a process of divergence in action. Monastiriotis (2006), using wage data from the New Earnings Survey, points to widening aggregate wage disparities throughout the 1980s and 1990s when the issue of spatial dependence is taken into account. Henley (2006) has undertaken a spatial econometric analysis of NUTS 3 level aggregate GVA data for the period 1995-2001 and concludes that British NUTS 3 sub-regions experienced divergence over this time period.

In order to provide a visual impression of the spatial dispersion of real GVA *per capita* across British NUTS 3 sub-regions, a set of maps are presented. Each map is colour coded, with the light shading denoting 0-100% of median real GVA *per capita*, medium shading denoting 100-125%, and dark shading denoting over 125% of median real GVA *per capita*. Each sub-region is shown relative to the median rather than the mean to mitigate the impact of outliers such as the services GVA of London’s financial district located in the Inner London West NUTS 3 sub-region. Salient features include the apparent spatial clustering of high GVA *per capita* in greater London, Manchester, Liverpool, Edinburgh, Glasgow, and Aberdeen (near the North Sea oil fields); a clear expansion of the greater London high-GVA area over the period in question; and the noticeable improvement of the Midlands but no consistent GVA *per capita* increase in Northern England and Scotland. One might wonder whether these impressions are reflected in the development of the secondary and services sectors over the period 1995-2004. The secondary industry presents a

mixed picture: the North of England NUTS 3 sub-regions appear to have experienced mixed fortunes; a belt of increased GVA *per capita* is apparent in the Midlands, while the South West and South East exhibit some shuffling of regions between the three categories, but no clear pattern. The services sector highlights the strength of the high-GVA greater London area, increases in Liverpool and Manchester, but continued sluggishness in Northern England and Scotland. In all it would appear that it is the services industry which drives the expansion of the southern high GVA *per capita* in the aggregate map. While the secondary sector does appear to be the more dispersed in terms of the highest GVA *per capita* category; this trend seems to be eclipsed in the aggregate GVA *per capita* map by the strong services performance. The contrast between secondary and services sector GVA *per capita* developments over the period 1995-2004 is stark. The virtually unchanged mean, median, and standard deviation of secondary GVA *per capita* over the 10 year period, together with slight increases in the minimum and maximum GVA *per capita* figures, suggest that any convergence experienced in the secondary sector has not been a buoyant one. Services GVA *per capita*, on the other hand, bears all the hallmarks of a sector on the move, with its mean and median showing marked increases over the 10 years and its widening standard deviation indicative of the absolute divergence. NUTS 3 level commuter flow data used in the construction of British functional economic areas is available from the Labour Force Survey Data Service. The explanatory variables introduced in the conditional

convergence analysis of Section 4 include the average primary school pupil-teacher ratio per county and the average A-level pass rate achieved by pupils in each county, both of which are available from the ONS publication *Regional Trends*. The number of businesses registered for Value Added Tax and female employment expressed as a proportion of people aged 16+ are both available from Nomis Labour Market Statistics. When considering regional convergence, various empirical approaches have been implemented in the literature: from simple plots of measures of dispersion over time to intra-distributional dynamics using Markov chains applied to GDP *per capita*. It is *a*-convergence analysis however that has lent itself most easily to spatial econometric analysis. This section discusses methods for constructing functional economic areas from administrative regions. The section concludes with an outline of the approach adopted in this paper for allocating British NUTS 3 regions to functional economic regions.

While a variety of distinct convergence concepts have emanated from the economic growth literature, one form of convergence which has received particular attention over the last two decades has been that of *a*-convergence. This form of convergence occurs when poor regions grow faster than richer regions, resulting in a catching-up process where the poor regions close the economic gap that exists between their richer counterparts.

This unconditional *a*-convergence specification can then be augmented, as per Barro and Sala-I-Martin (1992), to include a range of control variables (such as differences in human capital accumulation, infrastructure

disparities, industrial structure, as well as dummy variables reflecting different regional characteristics) which may capture differences in the paths of steady-state GVA *per capita*.

References

- Andersen, A.K. (2002) Are Commuting Areas Relevant for the Delimitation of Administrative Regions in Denmark? *Regional Studies*.
- Anselin L. (1988) *Spatial Econometrics: Methods and Models*, Kluwert Academic.
- Barro R.J. (1991) Economic Growth in a Cross-Section of Countries, *Quarterly Journal of Economics*.
- Baumol WJ (1986) Productivity Growth, Convergence, and Welfare: What the Long-run Data Show, *American Economic Review*.
- Bernat A. (1996) Does Manufacturing Matter? A Spatial Econometric View of Kaldor's Laws, *Journal of Regional Science*.
- Bishop P. and P. Gripiaios (2004), Earnings Biases and Convergence in the UK: A County Level Analysis, *Applied Economics Letters*.
- Bishop P. and P. Gripiaios (2006) Earnings Convergence in GB Counties: A Distribution Dynamics Approach, *Applied Economics Letters*.
- Boddy M., Hudson, J., Plumridge A., and D. Webber (2005) Regional Productivity Differentials: Explaining the Gap, No 515, Discussion Papers from University of the West of England, School of Economics.
- Casado-Diaz J. M. (2000) Local Labour Market Areas in Spain: a Case Study, *Regional Studies*.
- Chatterji, M. and J. H. L. Dewhurst (1996) Convergence Clubs and Relative Economic Performance in Great Britain: 1977-1991, *Regional Studies*.
- Coombes M. G., Green A. E. and S. Openshaw (1986) An Efficient Algorithm to Generate Official Statistical Reporting Areas: the Case of the 1984 Travel-to-Work Areas Revision in Britain, *Journal of Operational Research Society*.
- Rey S. and B. Montouri (1999) U.S. Regional Income Convergence: A spatial Econometric Perspective, *Regional Studies*.

Sukdeo Mukhlal College,
Hazipur

Tribal and their Economic Situation

(A study on North India Tribals)

Dr. Ajay Kumar Singh

The Tribal population is still living the situation of extreme poverty, illiteracy, deprivation and exploitation. The Govt. and non Govt. plans and scheme have not done anything substantial for the upliftment of tribal people. About 85 percent of tribal families are still living below poverty line and 48% are still illiterate.

They are still victims of various exploitation by money lenders, outsiders and contractors of forest department and other Govt. department engaged collection of forest product and execution of construction and other similar works in the tribal areas. The gap between their bare physical and economic needs and the fulfilment are still much wide. The achievement concerning Govt. schemes are assessed in general terms of financial investment rather than the goods delivered and ultimate outcome. Major share of investment has been of national nature qualified in major and medium irrigation which could do hardly any good to the tribal population.

The minor irrigation schemes such as of water conservation through ditches, check dams, residential storages etc., were practically totally avoided. These method rather could have more effectively provided the irrigational and drinking water facilities to them. This method, if they are properly trained and encouraged to opt, can solve their major problem of water scarcity, which is one of the most vital problems of tribal. The women of tribes of many villages still travel one to four kilometre to fetch drinking water in the summer days. The non government and government organization should work for assistance of local people for construction of water harvesting tank at every tribal residential houses so that they may

do the harvesting of surplus water which they get during rainy season. Almost every tribal village has the potentiality of check dams and this opportunity must be avoided at earliest. Such situation will help them reducing their total dependence on rain water for irrigation.

The reasons of tribal deprivation and economic backwardness however may broadly be divided in to the following heads :-

1. Improper implementation of govt. and non govt. welfare schemes – The Governor of State, having scheduled areas has been given regulation making power for development of scheduled tribes and good administration of scheduled area in consultation with Tribal Advisory Council. Governor is required to inform the President of India about the tribal situation in the state by submitting annual report. The Governor has got adequate power to exclude the application of any law or part thereof made by the Parliament or the state legislature. Such powers vested in the Governor by the fifth schedule are limited by article 163 which provides that the Governor will be aided and advised by the council of ministers in the exercise of his powers. The financial assistance from Central Govt. are released in casual and former manner without any specification of area or people i.e. oriented specific schemes. In fact, every govt. and non govt. agencies engaged in tribal welfare schemes should prepare micro-level developments plans giving specification of area, target group and final output of the project. The release of funds from Central Govt. Agencies should be released to such agencies directly with provisions of supervision through collector or his nominees through the District Administration.
2. Land alienation and displacement without adequate rehabilitation- The tribals and forests are co-existing together on hills and other plateau since time immemorial. Despite several protective land laws, the tribal continues to be alienated from the hands non-tribal, to non-

tribal persons and govt. agencies. The illiteracy and lack of awareness is the main cause of their alienation. Despite living above a century on a particular land from generation, they miserably fail to get their name and rights entered into the block's revenue records. In the wake construction of dams, industrial units and such development processes a large chunk of fertile tribal land has been acquired by Govt. for irrigation, power, mining and others projects in lieu of meager compensation which the tribal spent away in short time.

The tribal in this way are deprived of their valuable agricultural land which was the main source of their livelihood. Tribal at many places in the India are now violently protesting against such alienation and displacements. Despite sacrifice of their land and they did not get the benefit of the development projects. The Govt. should have rehabilitated them properly at an alternative place before displacing them from the place of construction. The Govt. contractors works relating to the forests, such as collection of Kendu leaves, forest produces, construction work of road, culverts etc., in forest area should be given to the tribal people only.

3. Lack of accountability –

There is complete absence of any specific provision of legislation regarding the administration of the affairs of the scheduled tribes in the Constitution and this is one of the major reason of lack of accountability. There is no provision so far to fix the responsibility for the failure to achieve the target set by the Union and the State Government. It is now high time that statutory provisions should be introduced for assigning responsibility for such failures and for taking punitive actions against those who are responsible for failure or paper works of various tribal welfare schemes. There are many agencies to look into the implementation of tribal welfare programme and schemes at higher level. But due to lack of specification of responsibilities, among multiple agencies in fact no body is responsible for the failure of tribal schemes. In practice only one department 'Ministry of Social Justice and Empowerment or Ministry of Tribal Affairs should be made responsible for the Tribal welfare and Development Programmes. And this ministry should be in direct contact of concerned Collectors of the districts where the tribal welfare programmes are being executed. Participation the tribals and reputed

people of locality should be top priority than govt. officials and political persons.

4. Lack of tribal participation in development processes- There has been lack of effective participation of the tribals in policy and decision making as well as development process affecting them to have effective implementation of economic scheme meant for them under govt. budget. They do not have an opportunity to make their own plans and administer their own affairs the policies and programmes at Centres, State and District level are formulated without consulting them. This one of the major cause of tribal economic backwardness.

The proper and effective participation of tribal in their own socio economic affairs may be brought about⁽¹⁾ by adopting procedure to ensure regular consultation between the government agencies and the representatives of tribals⁽²⁾ by conduction supervision of development works being executed by a consultative body consisting of elected or nominated representative of tribal's village head man⁽³⁾ appointing tribal officials at various levels⁽⁴⁾ guaranteed representation in Panchayati Raj institutions in proportion of tribal population

5. Lack of tribal leadership –

The lack of effective tribal leadership have adversely affected their socio economic status. The active political participation of scheduled casts at Block level compel to authorities to share employment in the form of govt. contracts and facilities under different schemes such as Jawahar Rozgar Yojna, Indira Awas Yojna, Subsidized agricultural schemes etc. The dominant leadership of scheduled casts grab the share of scheduled tribes. The govt. schemes are diverted to other area because tribal voices are not available in the govt. meeting finalizing various schemes. This factor is also an important cause of socio economic backwardness among the tribals.

6. Method of Farming – The tribals are almost completely unaware of recent

techniques of cultivation. They still adopt “Zhoom” system (shifting cultivation) of agriculture which is much less productive and even lead to affect the fertility of their land. They should be given proper information about new productive agricultural system. They should also be trained to adopt the method of rain harvesting method at domestic and village level so that they may conserve water for their farming as well as domestic needs. Financial assistance be provided for construction of water tanks for rain harvesting. There should also be given adequate information about horticulture also.

The majority of tribals are still living in destitute poverty condition despite huge government investments on them under various welfare schemes. The lack of education is the main reason of their backwardness. Due to

illiteracy, they are not able to understand and adopt way of life of civilized world. Due to lack of leadership and political consciousness, they are not able to fight for their rights earmarked for them in the field of job reservation and welfare schemes. Unlike scheduled caste, they are not active in politics to get adequate representation in Panchayat Raj system and Legislative Assemblies and Parliament. For want of legal awareness, they are not able to take shelter of courts for protection of their rights relating lands and tenancy. The objective of social, economic and justice for tribals can be achieved only after the participation of tribals in the political and developmental process.

References:-

1. India Tribal Through the Age
2. India Tribes Through the ages
3. First Impression – Majumdar and Madan 1991
4. Tribes of North India, P.K. Singh.

Ph.D., Economics, Sasaram

उपन्यास

राधारानी
आनन्दमठ
शिकारी
यामा, भाग-1
फर्ज
महानायिका
गरीबी जुर्म नहीं
दर्द भरा दिल
चन्द्रकांता संतति

स्वामी
काशीनाथ
बर्फीली आंधी
यामा, भाग-2
आहुति
द गेट वे ऑफ इंडिया
कमाई की जगह
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि
प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी
मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

Health and Economical Problem of the Elder's in Rural Areas

Dr. Chandra Kant Singh

Abstract

The aged and elderly people, who had a dominant and important position in the family and community in the past and had contributed to society's well-being with their useful knowledge and experience, are very much a part of the present society. However, with the physical, mental, socio-cultural and economical changes in old age, the aged people are facing a number of problems due to the occurrence of changes in their roles and status. It is noted that still in many rural areas, the elderly people are playing an important role in solving problems and making decisions for the administrative problems. But they are suffering from certain socio-economic and health problems due to ageing. The present study was undertaken through survey of about 345 elderly people from 12 villages in Raghapur Block of Vaishali District (Bihar) using interview schedule. The results of the survey shows that these elders are suffering from certain socio-economic problems such as increase in loans, health problems, lack of sufficient monthly income, feeling of insecurity, etc. Health problems are the major problems of the elders as disclosed by the study. The paper concludes with the remarks that there is need to increase awareness about the government schemes among the elderly population living in rural areas.

In the twenty-first century, the family set-up has changed to divided family rather than joint family. Further, the younger people are more attracted towards the cities, where they expect the jobs. But the rural elderly people cannot adjust to the metropolitan environment. Hence, in majority of the cases, the elderly people are staying in villages and their children are working in cities.

It is estimated that there are 77 million elderly persons in India. In Bihar, the population statistics for the year 2001 show that, of the total 8.28 crores

of population about 63.75 lakhs of population is above 60 years of age (Planning Commission : 2007).

Statistical Dimension of Elderly People -2001 (Age Care Forum : 2007)

- 77 million elderly population (projected to 177 Million by 2025).
- 90% with no social security
- 30% of older persons live below the poverty line.
- 33% of older persons live just marginally over the poverty line.
- 80% of older persons live in rural areas.
- 73% are illiterate, and can only be engaged in physical labour.
- 55% of elderly women are widows.

From 1901 to 2025 : 12 Million to 177 Million

- 1901-12 million elderly
- 1951- 19 million elderly
- 2001-77 million elderly
- 2025- Projected 177 million elderly.

In many cases it is found that the elderly people are neglected due to various reasons, such as sickness, unemployed, weakening of the family, poverty, lack of care from younger in the family, feeling of insecurity, loneliness etc. Realizing these problems, the Government of Bihar formulated different schemes for the elderly people, such as monthly pension, free medical facilities, concessional transportation facilities, etc. But in view of the increasing number of the aged in the society, the facilities available and the budget allocation made are limited. Hence there is need to study and emphasize the care for the aged has gained importance and urgency because of the alarming increasing in the demographic figures of the aged, an indication of development of a society. Hence, the present study is made to know about the socio-economic and health problems of the elders in the rural areas.

Objectives of the Study

- To know about the socio-economic conditions of the elderly in rural areas;
- To examine the health and Mental problems of the aged;
- To know about the Government Schemes on elderly people and to examine whether the elderly people are aware about these schemes.

The study covered about 345 elderly living in different rural areas of Raghapur Block in Vaishali

District (Bihar). In the context of the study, the elderly people are of above 60 years of age. Specifically the elderly people both male and females living in 12 villages namely, Chandpura, Paharpur, Mirampur, Fatehpur, Rostampur, Jurawanpur, Hajpurwa, Bisunpur, Chaksingar, Rampur, Shivanagar & Birpur in Raghapur Block in Vaishali district were interviewed to collect the information. The study covered different aspects such as social status, economic background, mental and health problems of the elderly etc. Interview and Observation methods are used to collect the data. The collected data from the respondents is presented in the following sections.

1. Age-wise and Gender-wise distribution of the Respondents.

As stated already all the 345 respondents are of above 60 years of age and gender-wise and age-wise distribution of the respondents is shown in the following table:-

Age-wise and Gender-wise distribution of the Respondents.

Table No.1.1

Particulars	Males	Females
From 60-70 Years	85	67
71-80 years	73	32
81-90 years	30	26
91-100 Years	12	14
Above 100 Years	02	04
Total	202	143

2. Family Income of the Respondents

The income and wealth of the elderly refers to feeling of security in their life. High income status refers to more feeling of security and comfortable life and vice versa. The monthly income of the respondents is stated as under.

Family Income Level of Respondents.

Table No.1.2

Particulars	Frequency	Percentage
Below Rs. 5000	126	36.69
Rs. 5001 to Rs. 8000	111	32.24
Rs. 8001 to Rs. 10000	62	17.94
Rs. 10001 to Rs. 15000	24	6.86
Above Rs. 15000	22	6.27
Total	345	100

3. Economic Problems & Concerns

The elders were called upon to tell about the problems, which made them worry about their solution. These included the daughters' marriage, son/daughter's employment, children education, increase in loans, health problems, etc. The responses of the elders are presented as under.

Economic Problems and Concerns.

Table No.1.3

Kinds of Economics Problems	Frequency	Percentage
Increase in Loans	193	56.04
Daughters Marriage	80	23.25
Children's Employee	100	29.11
Health Problems	263	76.34
Any others	57	16.62
Total	345	100

4. Mental Depression and Feeling of insecurity:

It was asked from the respondents that whether they were feeling unsecured and depressed. The different studies revealed that due to different problems such as ill health, ill treatment from the family members, more responsibilities and lack of adequate income and economic power, the elderly people are suffering from depression and feeling of insecurity. The responses of the elders covered under the study are presented as under:

Mentally Depressed and feeling unsecured.

Table No.1.4

Particulars	Frequency	Percentage
Yes	128	37.1
No	217	62.99
Total	345	100

5. Health Problems of the elders

It is noted that most of the elders, covered under the study, are suffering from different kinds of problems. Of which, major problems are cardiovascular problems, Diabetes, Asthma, Ophthalmologic Problems Psychiatric Problems, Dental Problems, Cancer etc. The collected data revealed that a few of the elderly people are suffering from more than one health ailment. The collected data presented in the following table.

Health Problems of the Elders.

Table No.1.5

Health Problems	Frequency	Percentage
Cardio-Vascular	80	32.07
Diabetes	140	40.69
Asthma	151	43.87
Ophthalmologic	123	35.69
Cancer	20	5.72
Psychiatric	104	3.25
Dental Problems	138	40.05
Others	54	15.76
None	68	19.66
Total	345	100

6. Health status of the elders

The table 1.6 shows that 122 (35.35%), respondents were very good Health condition 113(32.75%) were good health condition, 15(32.75%) normal, and 95(27.58%) were Bad health conditions.

Health Status of the elders

Table No.1.6

Health Status	Frequency	Percentage
Very Good	122	35.35
Good	113	32.75
Normal	15	4.32
Bad	95	27.58
Total	345	100

As the present study covered the elders living in rural areas, there are more illiterate elders. It is surprising that majority of the elders (about 57%) do not know about the government schemes and programmes for the elders, whereas only 43% of the elderly population know about the schemes and programmes of the governments. Hence, there is need to know about whether the elders covered under the present study know about the Government Schemes, so as to get benefit from these schemes.

Findings

- Present study covered total 345 elderly people consisting of 202 Males and 143 female respondents.
- The monthly income of about 36.69% (126) of the respondents is below Rs. 5000/-, about 32.24% (111) elders stated that their income is between Rs. 5001/- to Rs. 8000/-and the remaining respondents stated that their income is above Rs. 8000/-.

- It is emphasized from the study that majority of the elderly people in rural areas are suffering from problems of increase in loans and health problems. Specifically, about 56.04%(193) of the respondents have increase in loans, about 23.25% (80) of the elders have concern about daughters' marriage, and about 29.11 (100) of the respondents have concern over their children's employment, a major portion that is 76.34% (263) have health problems and 16.62% (57) have other problems and concerns.
- Of the total 345 respondents 128 (37.1%) are suffering from feeling of depression and insecurity.
- Health problems are major as states by the elders in rural areas. The collected data revealed that the elders covered under the study have different kinds of health ailments such as Cardio-Vascular Problems (23.07%), Diabetes (40.69%), Asthma (43.87%), Ophthalmologic Problems (35.69%), Cancer (5.72%), Psychiatric Problems (30.25%), Dental Problems (40.05%) and such other problems (15.76%). It is noted that only about 19.66% of the respondent have no health problems.

Conclusion

It is observed that a huge majority of the elders are suffering from different old age diseases and health ailments. There is need to provide medical aid to the elders. Further, most of the elder respondents do not know about the government schemes and programmes on old aged people. Hence, there is need to educate the elders and increase awareness about the schemes of the governments for the elders. In this regard, the social workers and Non-Governmental Organizations must have to act to increase the awareness about the government schemes among the elders.

References:

1. Mishra, Bikram Keshari (2004): Changing meaning of work: A Gendered perspective - labour and development Vol. 10No. June 2004
2. Rashmi Rani Agnihotri H.R. & Dr. M.A. Konour, Health and Psychological Problem of the Elders : Third Concept October, 2008.
3. Age Care Forum (2007), Age Care : Overview 2007
4. Jayakumar, B (2004), "Protecting Old Age", Kerala Calling, August, p. 13.-15
5. Planning Commission, Government of India (2007), Development Report, New Delhi : Academic Foundation, P. 171
6. Basalingamma, Halemani and Dr. S.A. Kazi : Problems of Elderly People in Rural Areas, Third Concept August, 2008

Dept. of Economics, Nitishwar Singh College, Sarmastpur, Muzaffarpur

Trends of Cost and Profitability of Banks

Dr. Gagandeo Pd. Yadava and
Shri Ganesh Ray

An effort has been made in this paper to analyse the overall trends of cost and profitability of Indian Public Sector banks in calculating share of interest cost, earnings on loan and advances, return on investments, establishment expenses, earnings from financial services, trends of profit and profitability, gross profit margin and net profit margin alongwith improving the yeild on their resources. Not only this, what should take remedial measures to read just the staffing pattern of the currency chest so as to cut down the cost. Switch-gear- operations limit should be enhanced for better yeild on investment.

The key indications of an income statement are the earning and expenses aspects. These aspects will have greater impact on the profitability of an organisation. Profit is the function of income and expenditure flow during a given period, usually an accounting period, of a year. $P = F (I-E)$

Profit is the excess of revenue (I) over expenditure (E) during an accounting year. Bank income is classified into the following (a) Interest income and (b) Non-interest income. Interest income is obtained from interest earnings assets and from advances and loans expended to the public. Non-interest incomes includes revenue from various sources such as commission brokerage, exchange, services charges government fees, rent from lockers and premises etc. Similarly banks costs are also classified into the following :-

(a) Interest cost, and (b) Non-interest cost.

Interest cost is the amount paid by way of interest on interest bearing liabilities and non interest costs such establishment cost, and other operating costs like rent, taxes stationary and printing charges, depreciation, auditor's fee, directors fee, telephone charges etc. The difference between the interest income and interest cost is called "SPREAD" or interest contribution. Spread and non-interest income

can be combined as gross contribution. So, the difference between the gross contribution and non-interest cost is the net profit or loss.

Unlike an industry, banks have less control on their cost and incomes. The reason is simple. The cost of a product is fixed by the top management with the industry and they are sure of getting.

Incomes in a systematic manner, but banks have no such opportunity to fix the rates of interest either on costs or incomes. Banks can only mobilise deposits to improve their business. Thus the major components of costs is outside the banks' control. The rate of interest is fixed by the monetary authorities.

Consequently, banks have to act according to the administered rates of interests and cost structure. Similiarly, interest, earned advances constitutes a major portion of earnings and little discretion is left with the banks. The banks are controlling the quantum of advances to some extent as there are statutory regulations on priority sectors lending etc. Similarly, returns of statutory holdings, like cash reserve ratio and statutory liquidity ratio, against deposit liabilities are also rigid. Thus interest costs and interest incomes are almost outside the banks' control. Hence for effective funds management, banks have to concentrate on interest costs and non-interest incomes. The major item of non - interest expenditure is establishment cost. The bank management has to contain the growth of it by an efficient staff - recruitment policy and optimal utilisation of staff services. Similarly, non - interest income such as commission, brokage and exchange can be related to the cost of services. These can be fixed at a reasonable rate in a systematic manner by all banks. The analysis of various aspects of income statement are as under -

Spread

The trend of spread gives a better idea to judge the profitablity of the banks' business of intermediation. "Non-financial business have used spread and margin concepts for centuries. When a business man purchases goods, he adds some amount to the cost of goods to cover expenses and to earn a reasonable profit the difference between the cost of goods sold and the selling price called spread or Margin.' 1 Banks are also doing business in a similar, manner, but they deal in rupees. Banks mobilise funds

through deposits and borrowing; in turn, they promise to pay interest. Banks acquire assets, such as loans and investments, for which they receive interest. The difference between the interest paid for funds, and received for their funds is spread. As per verghese, spread can be expressed as the percentage difference between the two variables, viz difference average interest income and average interest cost or as a ratio to any of the relevant business magnitude such as average assets or working funds. Thus, Spread ratio = Average Interest Earned - Average interest cost.

Share of Interest Cost

Interest cost is the most important component of expenses of a bank. Interest is paid on deposits and borrowings. Interest cost in banking is compared to raw material cost industries. The share of interest cost on deposits and borrowings in operating expenses is reported. The rising trends in the share of interest cost on deposits and borrowings to total operating earnings indicate declining trends of profitability. The reason for these trends the lowering of rate of earnings from advances and priority sector lendings and unfavourable change in the deposite - Mix of banks, where as the declining trend in the share of interest cost to total operating earnings of banks indicate a rising trends in the profitability as higher earning of the bank.

Average Cost of Funds

The cost is calculated as interest paid on deposits, borrowings and other accounts divided by average interest bearing liabilities i.e. deposits and borrowing. Average interest cost is defined as interest paid of deposits.

$$\frac{\text{Borrowings and other accounts}}{\text{Average interest bearing liabilities}} \times 100$$

Average interest bearing liabilities are computed by adding half of annual increase to the preceding years outstanding figures of deposits and borrowings.

Earning on Interest

Interest earned on loan and advances, bills and investments accounted for a larger proportion of the total earnings of a bank.

Average Interest Earned

Average interest income is calculated as the interest earned on loans and advances and investments divided by average interest - earnings sets. Net interest is taken as total interest received minus interest tax, and earning assets. Though, all assets of a bank do not yeild income at uniform rate, yet the ratio gives a better picture of the earning capability of productivity employed assets. Net interest is taken as total interest received minus interest tax, and earning assets are total loans, advances, investments, cash with RBI and balance with other banks.

The factors that affect interest income are, the structure of interest on loans and advances and investments, the impact of sectoral credit deployment, the monetary policy considerations of priority and non-priority sector advances, which are decided by RBI. Banks have little control over all these factors. Banks can lend their funds productively and efficiently to various segments within the preview of administered rates of interest structure. Interest rates are fixed and once they reach the ceiling rates, there is no scope for banks for further improving their yield on advances and investments.

It is strongly believed that an individual bank can do nothing with the enhancement of interest earnings, as banks operate in the oligopolistic market and are subjected to rigid monetary policy prescriptions. Therefore, average interest cost is defined as –

$$\frac{\text{Total interest received}}{\text{Average interest bearing liabilities}} \times 100$$

Thus, The interest earnings are never deliberately managed but always got managed accidentally in a bank. Some individual banks can improve and manage their interest earnings through efficient credit ratio management. This is one of the major reasons for variations in the profitability among banks.

Yield on Advances

The yield on advances is calculated as the earnings on loans and advances minus interest tax divided by average loans and advances. The shift in the lower yield on advances, is due to a variety of reasons such as higher level of priority sector advances, increase in non- performing advances, lack of uniform norms for ceasing to charge interest on sticky advances among banks and even from year to year. Thus yield on advances is calculated as-

$$\frac{\text{Earnings on loans and advances}}{\text{Average of loans and advances}} \times 100$$

Average of loans-advances are computed by adding half of the loans and advances in any given year, with the outstanding at the end of the preceding year.

Return on Investments

The return on investment is calculated as the interest earned on securities or securities or investments divided by the average volume of securities; As per

Banking Regulation Act, 1949 the banks have to maintain a certain portion of their net demand and time liabilities as liquid assets in the form of cash, gold, approved securities, and Government securities and so on. This is termed as the statutory liquidity ratio. The yield on investments of banks varies from bank to bank depending upon the efficiency of their investment portfolio management.

The yield on investments depends upon the investments portfolio of the banks and their ability to re-adjust their portfolio to take advantage of changes in the interest rate structure. Certain banks may not have the ability to bear the loss on sale of old securities and lack adequate surplus to provide for depreciation in their accounts. Profit of banks are affected by the valuation securities under banking regulation act, banks adopt various methods of valuation of securities for different purposes in India. Under the Banking Regulation Act, the valuation of securities for fulfilment of the statutory liquidity ratio should be at a price not exceeding the current market price of the securities. Thus, whenever, the Government raises the yield on new issues of securities, there is a consequential depreciation in the market price of outstanding government securities which ultimately affect the profitability of banks.

Owing to the hike in interest rates on Government securities from time to time the market value of securities are at a discount. Therefore, for tax purpose, the securities are valued by all banks at market price. Most banks value the securities at book value or at a price

reflecting lower discount for the purpose of published profit and statement, which will enable to show a higher profit in the published balance sheet of the banks. Banks normally buy securities for holding them until maturity, because the statutory liquidity ratio is often revised upward rather than downward, while their net demand and time liabilities keep an upward trend. Thus the valuation impact of securities on the profit of banks over the years is not much important.

Establishment Expenses

Establishment expenses comprising salaries, wages, allowances including leave fare concessions and the usual provident fund contribution on account of staff are the second largest head of banks expenses. The cost of personnel increase due to the increase in the number of employees and their pay scales have undergone substantial increase since nationalisation of banks. From the point of view of controllability, the establishment cost is more significant than the interest cost which is not controllable for various reasons, Establishment expenses to average funds ratio is calculated as-

$$\frac{\text{Pre-tax profit}}{\text{Average funds}} \times 100$$

Establishment expenses as proportion to total expenses is calculated as-

$$\frac{\text{Establishment expenses}}{\text{Total expenses}} \times 100$$

Expenses other than interest and establishment costs are considered as other expenses. These other expenses include rent, taxes, insurance, postage,

telegrams, telex, telephone charges, printing and stationary, advertisement expenses audit fees, directors fee, and so on, this is known as third element of bank expenses. Other expenses as proportion to total expenses is calculated as-

$$\frac{\text{Other expenses}}{\text{Total expenses}} \times 100$$

Earnings from Financial services

Banks provide financial services to their customers, as a complement to the business of financial inter-mediation. These earning consist of commission on bills, remittance, letters of credit, profit on foreign exchange dealing, rental charges on locker facilities and so on.

Earnings from other financial sources as proportion of total earnings is calculated as-

$$\frac{\text{Other expenses}}{\text{Total expenses}} \times 100$$

Trends of Profit and Profitability

Improving profitability of banks has been an area of great concern both to RBI and Govt. of India. The performance of financial institution is judged by its allocation and operational efficiencies. Allocational efficiency refers to the efficient allocation of funds by an institution among competing demands. Operational efficiency refers to the difference between the rates at which the funds are raised and deployed. The allocational efficiency of banks has gained to a certain extant precedence over their operational efficiency over the past two and half decades in Indian banking. This is because of the larger

responsibilities borne by the banking system to fulfil the national priorities of growth in agricultural and industrial sectors besides achieving a better re-distribution of income between sectors, between regions and between various target group of the population. The social obligations of the banking system and the monetary and credit restraints of the central banking authority, lead to operational inadequacies and low profitability in the banking sector.

With the nationalisation of major scheduled commercial banks in 1969 and 1980, banks are assigned the task of contributing towards the fulfilment of the social and economic objective laid down by the Government without any explicitly considering that banks could sacrifice the profit. In the notable task of fulfilling the socio-economic responsibilities, the commercial viability of banking can not be divorced, economic viability is essential for the very survival of any business entity and the banking industry is no exception to this. Thus, for a sustained growth it is a must for banks to generate adequate surplus not only to meet current obligations, but also to strengthen their reserves to enable them to meet future responsibilities.

Profit is defined as the excess of revenue over expenditure, after meeting all obligations, in bank's profit is defined as the difference between income and expenditure during an accounting year.

Profitability is determined by the ratio of profit earned to the capital invested.

Thus profit is an absolute figure, but profitability indicates a relative measure.

Calculation of bank profitability on the basis of capital employed is some what difficult because it is not possible to ascertain the real amount of capital invested.

The amount of capital employed and reserves constitute a very small portion of the banks working fund. The capital usually remains unchanged for a long time and the reserve funds are sometimes statutorily regulated. As per banking companies Act, 1949, every bank is required to transfer atleast 20 percent of its profits every year to reserve fund irrespective of its equity to the amount of capital. Hence, the need to observe the profits earned by the banks over a number of years, and to ascertain the trend of profitability in the banking system. Some indicators are as under –

1. Net profit margin - Ratio of net profit to total operating earnings.
2. Gross profit margin - Ratio of net operating earning to total operating earnings.
3. Ratio of pretax profit to average funds,
4. Ratio of net profit to average funds and so on.

Profit before Taxes

Profit before taxes in banks represents the balance of amount that remains after making adjustments for depreciation, losses and earning on sales, purchases and revaluations of investments in net current operating earnings.

Trend of Net Profit

Net profit is defined as profit net of taxes, bonus and contingency provision but before allocation to published reserves. In

other words, the published net profit equals profit before taxes minus income tax, bonus, gratuity, contingency and other special provisions.

Net profits as percentage of profit before taxes is defined as-

$$\frac{\text{Net profit}}{\text{Pre - Tax Profit}} \times 100$$

Tax provision as a percentage of profit before tax is defined as-

$$\frac{\text{Tax Provisions}}{\text{Pre tax Profit}} \times 100$$

If increases in the tax provisions can not be attributed to the decline in the net profit before taxes. These high percentage of tax provision can not be justified on the basis of the prevailing tax rates. On the other hand, it is not possible to find out the excess tax provisions if any, due to the non-availability of data relating to the actual income tax paid by the banks. But it is possible that excess tax provision might have been used by banks either to create secret reserve or provision against baddebts.

Net Profit Margin

The net profit margin is calculated as net profit divided by operating earnings for relevant years. In other words, net profit equals to net operating earnings plus/minus security gains or losses, applicable income tax and other non-operating income and expenses and special provisions, etc.

Net profit to average funds ratio is calculated as -

$$\frac{\text{Net profit}}{\text{average funds}} \times 100$$

It is note worthy that the rise in the net profit to average funds

ratio can be considered as a significant healthy trend in the banks. The adequacy of net profit to average funds ratio, one should have a better insight into the changes in the quality of the assets and also the current level of secret reserves and provisions against loans and advances. This is not possible in the present banking system as the information with regard to these factors, is highly confidential, and is not available to even researchers. On the other hand, due to the wide variations in the accounting practices of banks in different countries and also the quality of banks in different countries and also the quality of bank assets, a comparison of the return on assets will not be of much help in determining the level of return that can be considered as reasonable.

Gross Profit Margin

Gross profit margin is considered as an important measure of profitability in industrial concerns. It is equal to sales minus cost of goods sold, divided by sales, The ratio indicates what percentage of sales represents profits making deductions for administration and other expenses. Gross profit margin also reveals whether or not the firm is maintaining a sufficient mark-up and controlling production cost. In banking industry, the gross profit margin is calculated as net operating income divided by total operating income—

$$\text{GPM} = \frac{\text{Operating earnings} - \text{Operating expenses}}{\text{operating earnings}} \times 100$$

The gross profit-margin is a good indicator for the operational efficiency of an industry.

This ratio provides better insight into the operations of banks also. The operating incomes is divided from assets such as loans and investments with respect to loans, bank must price them at a level to cover expenses and provide for an adequate profit. The loan prices are conditionals by general economic and monetary conditions and the loan - mix in the light of the expected changes in rate levels and the general monetary and credit conditions. “ Thus, the gross profit margin indicates, banks ability to generate income and control operating expenses such as interest on deposits and borrowings, and establishment expenses. Thus, a relatively high gross profit margin might reflect managerial ability to keep costs under control.” Gross profit margin is calculated as –

$$\frac{\text{Net operating earnings}}{\text{Total operating earnings}} \times 100$$

Pre-tax profit to average funds ratio is calculated as –

$$\frac{\text{Pre-tax profit}}{\text{Average funds}} \times 100$$

In this way, the earnings and profits of the banks can be improved through effective management of funds, cash, credit, deposit-mix, resource-mix, and other non-traditional activities. The management should take steps to improve the yield through continuous monitoring of advances of industry and its products. They should further know whether they are properly using the funds for the said purpose or diverting the funds for unproductive purposes. The banks should also re-think on the concept of priority sector advances. Banks should increase the share of

current deposits atleast to 10 to 12 percent of the total deposits. Banks' Management should also take steps for effective resources-mix of the bank to improve the yield on their resources. Bank should overcome the book losses and provide more depreciation on investments as the existing rate of depreciation is insufficient to sell the low-yield securities. Management should take remedial measures to re-adjust the staffing pattern of the currency chests so as to cut down the cost. Switch gear-operations limit should be enhanced for better yield on investment.

References-

1. Woods, oliver G, and porter. Robert J, Analysis of bank Financial Statements, Van nostrand, Newyork, 1979, P.94.
2. Verghese. S. K. profit and profitability in Indian commercial banks in seventies, Bombay, 1983, P.19.
3. Dr. Bangarajan, Inaugural address on seminar on bank profitability, bankers training college, Bombay(ed) K. Kanagansabhpathy, August 22-24, 1987, P.5.
4. K. Kanagasabhpathy and P.G. Krishana Moorthy, seminar on bank profitability, Bankers Training college, Bombay-P127.
5. Reed Edward E, The commercial Bank Management , Harper and Row, Newyork, 1964, P.507.
6. Banking companies act, 1949, Ministry of law, Govt. of India, P.15
7. Verghere, S. K. Profit and profitability of Indian commercial Bank in the seventies, NIBM Bombay, 1983, P.11
8. Wood, oliver, G. and Proter, Robert, J, Analysis of bank financial statements, van Nostrand. Newyork, 1979, 1989, P.75

Dr. Gagandeo Pd. Yadava
Deptt. of Economics, Langat
Singh P. G. College, B. R. A.Bihar
University, Muzaffarpur

Shri Ganesh Ray
Research Scholar in Economics,
B. R. A.Bihar University,
Muzaffarpur

Impact of Computer Aided Instructional Material for the Growth and Development of Learning behaviour in the Rural Area of Patna District

Rajesh Verma, and Kumari Nutan

Introduction

Literacy is an indispensable tool for the sustainable social and economic growth of any nation. It is a prime factor not only for the growth and development of entire human personality, but also for the alleviation of poverty too. In the entire globe, the educational system plays an important role in respect for the successful implementation of the entire governmental policies and also in the strengthening of social technological and economical development of the lives of people. Taking this advantage on another way, it was full proof facts that through the education when followed with the literacy reflects the ability not only to use the language to read, but to write, to listen and to speak as well as the ability to write, to listen and to speak as well as the ability to perform. A/c to the UNESCO- "Literacy is the ability to identify,

understand, interpret, create, communicate and compute, using printed and written material associated with varying context. This involves a continuum of learning to enable an individual to achieve goals, to develop their knowledge and potential, and to participate fully in the wider society". The socio and economic growth of the country depends on the literacy environment of the nations and the world too. Recognizing this, the United Nations General Assembly on December 19, 2001 proclaimed the period 2003-2012 to be the United Nations Literacy Decade. The same has been launched on the February 13, 2003 with the commitment to achieve fifty percent improvement in the adult literacy by 2015. Now the prime task for the nations are not only to literate every citizen in respect of acquiring capability for reading, counting, and signing names but also to make them functionally literate. In continuation of active literacy programme, computer system was used as a tool for the study. Anderson (1980-81) conducted a study which was designed to investigate, the impact of computer aided instructional material in science experience on the achievement, belief, and attitude of 500 randomly selected ninth and eleventh grade student of different high school. Davis (1965) had prepare a teaching model in which computer were used in place of teachers. Joseph (1984) studied the use of feed back with spelling instruction on micro computers, it was Miller (1986) stated that behaviourists are more concerned with the outcome of instruction, where as the cognitivist's are concerned with the content and context of the instruction. The technique supported by all the theories that are applicable in computer based instruction including feedback, assessment of learner, and individualized instruction.

To achieve such aforesaid target, a research plan was designed for the middle school children to allow them for study with the use of computer. The computer used as a tool for this purposes designed particularly for the Biology subject.

Design

The present study was experimental in nature. The sample consists of 100 students divided in to two

group-namely the experimental group and the control group.

The experimental group was taught through computer aided instruction material following by special assignment, discussion, and additional reading references. The teacher and their own computer instructor act as a guide as available through out the study.

The control group was taught through the traditional method by their own teacher. The treatment of CAI was given to the students of experimental group, five days in a week (one period of 40 minutes +20 minutes extra.)

Times taken by both the group to complete the experiment are as follow-

Table-1. Unit whose time taken by Experimental & Control group

Name of Unit	Time (in hours)	
	Experimental group	Control group
Unit - 1	16	10
2	20	14
3	14	12
4	13	11
5	12	8
6	12	6
7	13	9
	100	70

Material and Method

Purposive sampling technique was employed to select the sample for small group try out. The sample comprised of 50 students each of class 6 from two government high school of Naubatpur, District,

Patna. The school has full of qualified and trained teacher with full of standard administrative set up. Out of 100 students. 70 were male student and 30 were female students.

The students belong's to the same socio-economic status. The age of students ranges from 10 to 12 years. The medium of instruction was in Hindi. The school is run by government body, Under the ministry of Human Resource Development. It is affiliated to Bihar School Examination body, Patna. All the government school of Bihar follow the same pattern having common examination system.

Details of sample

Stage	Name of school	No. of students		Age Range	Group
		Male	Female		
Final study	Amar pura High School	35	15	10-12	experimental
Final study	Tribhubvan High School	35	15	10-12	Control
Total	—————	70	30	—————	—————

From the table-1, its Class that experimental group students had taken more time than control group to learn. Similarly they were gone through additional activities like discussion, special assignment, additional reading, references, where as the time taken by the control group was according to the time schedule allotted and taken by the subject teacher.

Achievements

Nature of Questions.

The Nature of question was both objective type and short answer type. The Unit wise distribution of type of question is as follows:-

Criterion test	No. of objective type question	No. of short answer type questions	Total questions	Total Mark's
Unit-1	20	7	27	50
Unit-2	20	5	25	50
Unit-3	20	4	24	50
Unit-4	20	6	26	50
Unit-5	20	3	23	50
Unit-6	20	5	25	50
Unit-7	20	6	26	50

Reaction Scale

A three point reaction scale was developed followed with developed computer aided instructional material, namely

1. Instruction through computer
2. Presentation of the Content
3. Evaluation and Feed back.

(1) Instruction through Computer:

In this context the measured aspect were motivation, learning environment, suitability of Computers, time factors etc. of computer in instructional process.

(2) Presentation of the content:

In this the student's reactions to wards sequence, language used, explanation of technical terms, relevant examples, graphics etc. were used and measured.

(3) Evaluation and feedback

Here the reaction towards the type of questions, reasoning based questioning, inbuilt evaluation facility, in-built assignment and its verification facility, discussion and additional reading references.

Statistical Techniques Used for Analysis

The objective wise use of statistical technique were used for the analysis of the data are as follows:-

- (1) To study the effectiveness of computer aided instructional material in terms of student's achievement, with those taught through traditional method.
- (2) To study the effectiveness of computer aided instructional material in terms of student's reaction in each aspect of computer aided instructional material, with those taught through traditional method.

Result and Discussion Reactions of Students

Instruction through Computer: It was found that the responded 10 responded student have shown keen interest. Both the group of male and female reacted in the same manner. Out of the 10 statement released from the student 4 statements were negative and the 6 statements were positive. The mean reaction score of the male students were ranged from 2.5 to 3.1, where as the mean reaction score of the female students ranged from 2.8 to 3.2. A/c to the developed experimental results it was found that boy's liked to read other subjects also, using computer than the girls. The mean score of the boys 3.1 was slightly higher than the girls 2.8. However, both the male and female students wanted to learn the other subjects also through computer aided instruction. This result indicate that the group favoured instruction through computers. There is no significance difference between reaction of a male and female students. On comparing over all achievements score of male with female student's it was found that the mean over all achievement score of male did not differ significantly with female students studied through developed computer aided instruction. Both the groups achieved higher scores on criterion test. It may be because of the fact that biologically there is no difference between their thinking and intelligence. Thus the achievement score of both the groups were the same, as supported by Prabhakar (1989).

Presentation of the Content

In this aspect of the reaction scale, 10 students were also participated. The statement are related with sequencing of subject matter, balanced text with group presentation, questioning style, inbuilt facility of assignment, verification, given example, and language of package etc. The mean reaction score of male and female students ranged between 2.30 to 3.30 for male and 2.22 to 3.00 for female. The value ranged between 0.12 to 0.68 which is not significant at 0.01 level of significance. This shows that both the group shows their keen interest and in the same manner towards this aspect that is the presentation of the content. There is no significant difference between the reaction of male student and female students towards this reaction scale.

Evaluation and Feedback

In this aspect of reaction scale, the developed computer aided instructional material comprises of continuous evaluation with immediate feedback, special inbuilt assignment, group discussion sessions, and additional reading references. The presented statements are related with appropriate questioning style, immediate confirmation of answer followed with the explanation for wrong answer, the other statements like, the discussion session was helpful in proper understanding of concepts, suggestions on committing mistake and correct answer help to learn more clearly. The asked

questions are helpful in developing reasoning ability followed with different type of motivating one. Both the discussion and references are promoting factor for the motivation of self – learning etc. The entire statement evaluate and feedback from 2.56 to 3.96 for the male student's and for the female student's it is from the 2.36 to 3.22. Majority of the both boy's and girl's students reacted favourably & so it's concluded that there will be no significant differences between the reaction of male and female students.

Thus for all the 30 statements of reaction scale, the t-value is not significant at 0.01 level of significance.

Finding of the Study

From the analysis of result, it was found that-

1. The computer aided instructional material was found to be superior for traditional method in terms of overall achievement of students when intelligence was taken as covariate
2. The computer aided instructional material was found to be effective in term of-
 - (a) Achievement of students on the given criterion test.
 - (b) Reaction of students towards the different aspects of developed computer aided instructional.
3. There was no significant difference between the

overall achievement on male and female students, studied through computer aided instructional material when assessed in terms of overall achievement on criterion tests.

Reference

- Anderson RE-etal –The effective and cognitive effects of on microcomputer science instruction Journal of Educational technology system vol: 9,198, pp 329-355
- Davis, Davil, Stolourow, I and Cecco, D.C. John “The Psychology of learning” Prentice Hall of India, N. Delhi – 1974
- Joseph – J - “Sculpture techniques through computer assisted television instruction”
- Dissertation Abstract International Vol: 46, No:-3, 1985

- Miller, K.w – “The effects of different of computer based learning environment of fourth grade students cognitive abilities” Dissertation Abstract International vol: 48 No:- 11,1986
- Prabhakar, S – Development of soft ware for computer aided Instruction and its comparison with traditional method for teaching semi-conductor of plus II levels” M.Ed. dissertation unpublished D.A.V. Indore, 1989

Acknowledgement

- The author is thankful to Dr. Biplab Das Gupta (Ex. Director SIET, Bihar) and Mrs. Aparna kumari for their valuable suggestion and guidance.

Dr. Rajesh Verma

Lecturer School of Education,
Nalanda Open University Patna.

Kumari Nutan
Research Scholar.

Some Outstanding Books on Health Care :

Healthy Baby	Dr. P.K. Singh	200.00
Pregnancy Planning, Care & Delivery	Dr. P.K. Singh	300.00
Children's Health	Dr. P.K. Singh	250.00
Working Life	Dr. Devendra Sengar	300.00
Women's Health	Dr. Devendra Sengar	300.00
Men's Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Senior Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Allergy	Dr. P.K. Singh	150.00
Common Diseases	Dr. P.K. Singh	300.00
Alternative Medicine	Dr. P.K. Singh	250.00
First AID : The First Medical Requirement	Dr. Devendra Sengar	200.00
Weight Loss	Dr. P.K. Singh	200.00
Stress	Dr. Devendra Sengar	300.00
Food and Nutrition	Dr. Devendra Sengar	200.00
Fitness : How to be Fit	Dr. Devendra Sengar	300.00
Teen's Health	Dr. P.K. Singh	250.00

To Order Please Write to :

PUSHPANJALI PRAKASHAN

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053
Phone : 9811710900

WTO and Indian Agriculture

Vijay Kumar Jha

Agriculture will continue to remain at the centre stage of socio-economic development in India. Notwithstanding its outstanding performance in making the country self-sufficient in foodgrains, deceleration of its performance beginning with mid-nineties is of serious national concern. Two major developments impacting Indian agriculture during nineties have been: (1) the Agreement on Agriculture implemented from 1st January, 1995 under WTO, and (2) emergence of highly volatile price regime thereafter. Several recent studies, on the causes of poor performance of agriculture, often relate to WTO agreement on agriculture and its likely adverse implications against promise.

It is also a fact that WTO agreements are now a reality and these agreements can only be modified. The global scenario in future is going to become more competitive and the pressure for liberalisation of domestic market would also grow. In this context, India needs to follow two pronged strategy. One, based on the post WTO experience of last 10 years India should continue taking active part in negotiating agreement to its advantage with sound arguments. This would require objective understanding of the implications of the changed trade regime, promoted and planned under the auspices of WTO. Such an understanding is of critical importance to play an effective role in future negotiations as well as to plan adequately for designing our policies and economic activities including agricultural R&D programmes which are basic to accelerated sustainable agricultural development. Two, in order to effectively operate in the WTO driven environment, the member countries need to devise appropriate domestic policies and strategies. The crux of these policies should be to identify weaknesses and strengths of domestic produce vis-a-vis major competing players, and to improve competitive attributes of our produce, involving production,

processing, marketing, trading practices and other processes from the farm to the final destination. Upgradation of competitive strength requires improvement in policies, infrastructure, institutions and technology. Out of these, the major role lies in technology and its favourable interplay with institutions and policies. India's agricultural research system has stood several tests successfully in the past and has helped the country to tide over formidable food crises and other challenges.

Uruguay Round Experience and Implementation

Agriculture was kept outside the purview of GATT till 1995. However, UR has succeeded in bringing agriculture on the main track of GATT and agriculture trade is now firmly within the multilateral trading system. All the member countries of WTO are committed to follow set of rules embodied in WTO Agreement on Agriculture which covers: (i) domestic support, (ii) Market access i.e., tariffs, and restrictions on imports and exports, and, (iii) export subsidies. The agreement sought reduction in trade distorting domestic policies like price interventions and subsidies; reduction in export subsidies; replacing quantitative restrictions on trade with tariffs and reduction in tariffs to encourage more and freer trade. It was projected that trade liberalisation and implementation of AOA would bring large benefits to the developing countries through improved access to the developed countries' markets, increased trade and better pricing environment for tropical and other products of interest to the developing countries.

The Uruguay Round AOA was first step towards the reforms in agriculture trade. The Article XX of the Uruguay Round agreement on agriculture required WTO members to review the agreement after about five years, i.e. by the end of 1999 or beginning of 2000, for continuing the reforms started with the Uruguay Round. This provided opportunity to review the effect of implementation of UR AOA, and, in the light of this experience, move further towards establishing free, fair, and market-oriented agricultural trading system. Negotiations for the next Round of AOA were started in March 2000 and have passed through several phases. Presently, there is a complete stalemate as the WTO members could not come to

an agreement. The reason for the delay and stalemate in concluding the new round is the sharp differences among the members on various aspects of AOA. Implementation of UR commitments has been a tough task for several member countries and it has exposed vulnerability of various segments of agriculture to global market forces. In most of the cases expectations placed on UR AOA or promises related to this did not materialise. The promise was that trade liberalisation and implementation of AOA would bring large benefits to the developing countries through improved access to the developed countries' markets, increased trade and better pricing environment for tropical and other products of interest to the developing countries. However, there was a distinction between reality and the promise. The biggest challenge to the developing countries' agriculture in the post WTO period was posed by unprecedented and unforeseen decline in international agricultural prices. The prices of cereals, fish, sugar, cotton and beverage started declining after 1996 and reached historically almost the low level during last 25 years around year 2000. Though there is some recovery in the price cycle in the recent years, yet the current level of prices of above mentioned commodities is 15 to 44 percent lower than the prices prevailing in the beginning of WTO. Because of this decline in prices in post WTO period, developing countries' exports were badly hit and several countries like India were taken aback by import influx of

commodities, in which they thought they had strong competitive edge. This caused adverse impact on farmers' income, employment and livelihood security.

The decline in international prices happened contrary to the projections that implementation of WTO AOA would result in reduction in subsidies and thus, increase in cost of production and prices. Developed countries responded to decline in global agriculture prices by providing huge support to their farmers to protect their incomes. However, the developing countries neither had mechanism nor resources to protect their agriculture and farmers against such adverse trading and pricing environment. As per the Uruguay agreement, the developed countries were committed to reduce base level of support (taken as average of years 1986- 88) to agriculture by 10 percent by the year 2000. In reality, OECD countries on the whole, and EU and USA in particular, provided much higher level of subsidies to their farmers during most of the post WTO period as compared to the already very high base level.

There is a feeling that the developing countries did not bargain properly in the UR discussion, while the developed countries secured the balance of AOA in their favour. Besides being discriminatory, the agreement is said to be ably manipulated by the developed countries to benefit their agriculture at the cost of developing countries. Because of all these reasons, the developing countries have turned highly

conscious and are very careful about the minute details of various provisions of any future AOA. This has led to hardening of the positions, particularly relating to the excessive support and export subsidies in OECD countries, access to developed countries' market, and special and differential treatment.

Post WTO Trade Regime: Lessons for India

Wide-ranging economic reforms introduced in India during 1991 boosted the agricultural trade (exports as well as imports), and the net trade surplus in agriculture increased from \$ 2 billion during 1992-93 to \$ 4.33 billion during 1995-96. The trade got a fillip with WTO agreement during 1995, thereby resulting in the net trade surplus reaching \$ 6.8 billion in 1996-97. However, the problems of downward trend in exports, increase in imports, sharp year to year fluctuations in net trade, erosion of self-reliance, etc., started soon thereafter, despite further liberalization of trade. These trends raise questions about further liberalization of trade in general and specific commodities in particular, and the implications of present agreement including ongoing negotiations on AOA in WTO, etc.

An analysis of the global trends after WTO indicates unprecedented decline in the global prices of agricultural commodities, severely hitting earnings from agricultural exports of the countries. India too could not gain much from WTO and global liberalization, though India

generally performs better than the other countries when the international price situation is favourable. As the exports are becoming increasingly competitive, it is not possible to promote exports without improving produce quality, efficiency and cost reduction. From the analysis of the trade scene and suggested future strategy by commodities, it is evident that: India is facing challenges in traditional export items; the challenge is not from the developed countries, but from the developing countries; major import of vegetable oils are from the developing countries (Malaysia and Indonesia); and India has done well in export of high value products to the developed countries.

Export of raw products like cotton, wheat, sugar, coffee and tea is likely to become very competitive and India would be required to relook into the benefit of promoting export of these commodities. Export prospects are brighter with soybeans, oilseeds, oil meal and cake, fruits and vegetables, and fruit preparations. Thus, high export prospects are seen with high value products, horticultural products, processed products, marine products and rice, provided global competitiveness in costs and quality is maintained in domestic production, marketing and supply.

India has to learn lessons from these trends and other experiences. The Agreement on Agriculture created an environment of trade reforms and initiated trade liberalization in agriculture. The other lessons include: (i) WTO seeks to remove the barriers of "our own market" and "their own

markets", (ii) India need not be extremely defensive and inward looking, as our agriculture has demonstrated strength which needs to be appropriately used to compete in the global market, otherwise it will become a case of missed opportunity, (iii) as a net exporting country, India stands to gain from increase in international prices, which is possible only if we relentlessly fight for reduction of domestic subsidies and support and export subsidies in the developed countries (once this is done, the possibility of import threat for our key export products like dairy, wheat, cotton, sugar, etc. will disappear), (iv) import threat can be surmounted by general provision of raising tariff to bound level and of asking for special treatments / packages like S&D treatment, sensitive product, etc. and (v) to comply with quality standards to effectively compete in the global market, we must demand as a first step that all countries should notify their quality requirements clearly on WTO website. It reaffirmed the declarations and decisions adopted at Doha as well as by the General Council in 2004 for full commitment to give effect to them. There is a general realization that agriculture remains the most distorted and difficult sector in the WTO. On trade distorting domestic support, rationalization was attempted by forming three bands with higher linear cuts in higher bands. The other decisions included developing discipline to achieve effective cuts in TDS (overall cut in TDS to be greater than the sum of individual cuts), exempting developing country

members with no AMS commitments from reduction in de minimis and the overall cut in trade distorting domestic support, review of green box criteria to cover the interest of developing country members, parallel elimination of all forms of export subsidies by 2013, elimination of distorting trade practices of State Trading Enterprises, provision of special products and special safeguard mechanism to the developing member countries, elimination of export subsidies on cotton by 2006, and duty-free and quota-free access to cotton exports from LDC's.

The broad lessons from the Hong Kong negotiations are:

- Single country has no power in negotiations but a group of countries have.
- There is a need to reorient and reprioritize R&D according to the global trends.
- Domestic reforms in Indian Agriculture should have been started much earlier to improve competitiveness.

References

6. Elliott, Larry; John Vidal (1999-12-04). "Week of division on and off streets". *The Guardian*.
7. "Annual Report 2002" (PDF). World Trade Organization.
8. "Emergency Committee For American Trade". <http://www.ecatrade.com/issues/subsection.asp?id=1>.
9. Eg, *Statement By Civil Society Organisations on the WTO Negotiating Situation, and on Food And Financial Crises Accra, 2008*
10. "U.S. Trade Representative Susan C. Schwab To Attend Meetings To Advance Doha Negotiations July 23-24". United States Government.

BRA, Bihar University

Food Security, Farming, and the WTO and CAFTA

Dr. Niteshwar Prasad

As a necessary element to human survival, food is a human right. Small, local family farms are the bedrock of traditional rural communities and global food security— the ability of countries to produce the food they need to survive. Yet the global food supply is increasingly falling under the control of giant multinational corporations. Large agribusinesses have rewritten the rules of the global agricultural economy, using “free trade” agreements to turn food into a commodity for profit rather than a human right. The global corporatization of agriculture has had disastrous effects on farmers, food security, and the environment.

Implemented in 1994, the North American Free Trade Agreement (NAFTA), ‘liberalized’ trade between Canada, the U.S. and Mexico. Under NAFTA, farmers’ income in all three countries has plummeted and millions of small farmers have lost their land, while agribusiness corporations have reaped huge profits.

In spite of its obvious failures, new trade agreements are being written to expand NAFTA-style corporate free trade. In March of 2004, the governments of the United States, Guatemala, Nicaragua, Honduras, El Salvador, Costa Rica, and the Dominican Republic completed the U.S.-Dominican Republic-Central American Free Trade Agreement (CAFTA). If CAFTA is passed in the U.S. Congress, it would impose NAFTA-style agricultural policies on the heavily agriculture-dependent countries of Central America. Over 5.5 million workers and farmers’ livelihoods would be put at risk. CAFTA would also cause a further decline in U.S. family farmers’ incomes.

What’s more, CAFTA would pave the way for a massive Free Trade Area of the Americas (FTAA) currently in negotiations, which would extend the scope of NAFTA to include all countries in the western hemisphere except Cuba—thus multiplying the harrowing effects of NAFTA on small farmers and threatening food security for generations to come.

Both CAFTA and the FTAA are even more extreme than the Agreement on Agriculture (AOA)

of the World Trade Organization (WTO), a global agreement involving 148 countries designed to shift world food production to export markets.

Food: To Eat or to Export?

The stated theory of free-trade proponents is that increased trade and decreased government regulation would increase food security and solve rural poverty. But the results have not borne out the alleged theory, because the WTO, FTAA, and CAFTA were never meant to solve global poverty and hunger. In reality, globalization of food production represents an unprecedented hijacking of the global food supply for corporate profit.

Underpinning the WTO, FTAA, and CAFTA is the ideology that all food — from basic grains and meat to fruits and vegetables — should be produced for international export. This is a drastic shift from the centuries-old practice where each country produced the majority of food its citizens needed on local, small farms — and only traded in certain products that could not be grown locally. Indeed, the first great wave of globalization — the colonization of Africa, Asia, and Latin America — was based on transnational companies forcing local farmers to give up local food production, and shift production to plantations using enslaved Indigenous and African labor to grow luxury crops of coffee, sugar, bananas, and cocoa for export to the colonizing countries.

But now, the drive toward globalization of agriculture would put transnational corporations in control of the entire food supply. Market forces, rather than national policies set by democratically elected officials, would control agricultural food systems. Under this scenario, each country would only produce a few export commodities, wiping out local food production, small family farms, and greatly compromising global food security. As a result, the human right to food would be dependent on multinational corporations and markets, increasing the risk of hunger and famine worldwide.

Reducing “Barriers” to Trade in Agriculture

Global agricultural policy used to be geared towards maintaining stability in global markets. Supply management programs, also called commodities agreements, helped maintain production around the same as demand, so that farmers didn’t produce an oversupply that would cause prices to collapse. These

programs helped keep market prices above a price floor, which is a minimum price over the cost of production that farmers need to survive. In addition, countries have historically promoted their local economies by protecting domestic production from foreign competition. Most countries maintain taxes on foreign imports, called tariffs, as well as outright limits on the quantities of foreign imports, called quotas, in order to favour local economic development. This has especially been true in the agricultural sector, where local food production is key to food sovereignty.

Starting in the mid-1990s, however, these policies were abandoned in the U.S. in favour of free market, export-driven policies that promoted production for export rather than for domestic consumption. As the world's largest exporter of agricultural products, U.S. agricultural policy has dictated global agricultural policy. The impact of the WTO and other free trade agreements in agriculture has been to eliminate so-called "barriers to trade," such as supply management, price controls, and tariffs and quotas, while maintaining practices that favour multinational corporations, such as subsidies and market concentration.

Eliminating Tariffs

One of the main targets of free trade liberalization is tariffs, or taxes on imports. Many countries maintain high tariffs on imported agricultural products to protect their local industries. If an import has a tax that a local product doesn't, the imported product becomes more expensive than the local product. For example, Mexico has always maintained high tariffs on corn imports, in order to protect small family corn farmers against a flood of cheap imports

from industrialized countries. This is a basic strategy used by governments around the world to help guarantee food security through local food production and promote the local economy over foreign competition. Much of the negotiations in free trade agreements involve reducing tariffs.

Eliminating Quotas

Another top goal of free-trade proponents is to eliminate quotas, or limits on the total amount of imports of a particular commodity. For example, the U.S. maintains quotas on the amount of sugar that companies can import, in order to protect the U.S. sugar industry from foreign competition. Opening up the U.S. sugar industry to higher quotas for Central American sugar producers is a controversial keystone of CAFTA.

But many mostly smaller, agricultural nations maintain quotas on basic products like rice, corn, or other basic grains, that are essential to food security and the livelihoods of their rural populations. For these least-developed countries, eliminating tariffs or quotas puts their rural majority at risk of hunger and starvation as they lose their source of income and access to their own food production. Least-developed nations have formed an alliance in the WTO to advocate for the exemption of products vital to food security, called Strategic and Special Products, from tariff and quota elimination.

Gaining "Market Access"

The stated goal of agribusiness interests in 'free trade' negotiations is to eliminate quotas and tariffs so that they can gain access to foreign markets for their products, called "market access." Since most agribusinesses are from

rich countries in the global North, market access generally benefits those corporations at the expense of small farmers in poor countries.

But many developing countries also have strong agribusiness sectors. They are negotiating market access by demanding elimination of rich countries' tariffs and quotas. These countries, led by Brazil, South Africa, and India, have a strong negotiating bloc in the WTO, and have succeeded in raising the issue of market access as a high priority in the negotiations. In fact, negotiations in the FTAA broke down over access to the U.S. for Brazilian orange juice, soy, beef, and sugar exports. Countries like Brazil argue that they need the income from market access for agribusiness products to produce income to pay their foreign debt.

But the majority of developing nations import more food than they export, so market access is not a primary issue. And small, independent farmers from both rich and poor countries are more concerned about ensuring adequate prices for local production than they are about exporting food.

So the primary threats to local food production, in addition to the forced abolition of tariffs and quotas, are unfair subsidies and market concentration that have led to a global crisis in commodity prices and illegal dumping.

Subsidies

Aside from tariffs and quotas, trade agreements also address subsidies. Subsidies are government payments made to producers. In 1996, the U.S. Congress passed a farm bill that eliminated key price supports and supply management programs, drastically reducing the income of farmers. As agricultural prices

began to plummet after 1998, Congress has responded with “emergency legislation” year after year to send farmers government payments (subsidies) to prevent the wholesale collapse of the rural economy. Rather than remedy the supply problems created by the 1996 farm bill, this subsidy system was institutionalized in the 2002 farm bill which allocates an additional \$190 billion in subsidies over the next ten years. The European Union also heavily subsidizes its agricultural production.

Export subsidies are supposed to be illegal under the WTO and other free-trade regimes. But rich countries, hypocritically, have largely won exemptions for the types of subsidies they use, while prohibiting the types of subsidies used by developing countries. Developing countries usually do not have enough money to subsidize their farmers to the extent as developed countries. Instead, they are reliant on using other mechanisms such as import tariffs, quotas, and price supports. These are the very mechanisms that the pro-corporate policies of CAFTA, the FTAA, and the WTO prohibit. Subsidies provide huge benefits to corporate agribusinesses by allowing them to buy crops from small farmers at a price far below the cost of production while allowing them to sell at market rates. And while subsidies provide some relief to some struggling family farmers, they are not enough to make up for low commodity prices, and have contributed to the erosion of small farms in the U.S., increasing market concentration.

Market Concentration

Corporations have also lobbied to abolish traditional anti-monopoly regulations called competition policies. Without

competition policies, corporate farms have bought up small farms, creating giant conglomerates that operate in multiple countries. Because of this, agricultural exports from the U.S. to Mexico, for example, are often between two subsidiaries of the same multinational parent company. This integration allows corporations to sell and buy within the same parent company, manipulating the market and gouging independent producers. Like NAFTA and the WTO, CAFTA and the FTAA would further undermine anti-trust laws, encouraging further monopolistic control of agricultural markets and putting downward pressure on global agricultural prices.

Global Commodities Crisis

Over the past decade, the U.S. government abolished its supply management program, which caused agricultural oversupply that led to a price collapse. To bail out the system, as noted above, the government instituted subsidies to farmers, which actually benefit multinational corporations by keeping prices low while taxpayers foot the bill. This has led to a global depression in commodities prices. In fact, the prices that farmers receive today for their crops are likely to be well below the cost of production, causing millions of farmers to lose their land and others to go further and further into debt. The greatest threat to the livelihood of small farmers in both the developed and developing world is low commodity prices.

Dumping

The result of these policies has been a downward spiral for independent farmers, and a bonanza for multinational agribusinesses. Global corporations buy commodities from

farmers at artificially low prices, subsidized by taxpayers. These same corporations then flood foreign markets with crops priced at below-market prices, called ‘dumping.’ Because the prices are so low, dumping forces smaller producers out of business and captures — unfairly — a greater share of the market for transnationals. Although it is against trade law, in practice, dumping is common. The Institute for Agriculture and Trade Policy recently documented that U.S. corporate food dumping has risen significantly since the inception of the WTO. Agribusiness dumping of the five main commodities of wheat, soybeans, corn, cotton, and rice averaged between 10-47% below the cost of production. Family farmers have watched their incomes crash as multinational agribusinesses have expanded their markets internationally with artificially low-priced agricultural goods.

Global Corporatization of Food: the Wrong Path

Transnational corporations are attempting to rewrite the rules of the global agricultural economy in order to control the entire food supply. Abolishing tariffs and quotas, increasing market concentration, and maintaining taxpayer subsidies has enabled them to create a global commodities crisis that threatens global food sovereignty. As a result, our human right to food has become dependent on multinational corporations and markets, putting small farmers out of business and increasing the risk of hunger and famine worldwide.

Effects of “Free Trade” Agricultural Policies on Small Farmers and Food Security

CAFTA and the FTAA would

consolidate and expand free market policies that have already devastated rural communities under NAFTA and the WTO.

Loss of Small Farm Income

The devastation of Mexican corn farmers due to NAFTA most sharply exemplifies the horrifying effects of these policies. After NAFTA eliminated Mexican quotas for corn, artificially-priced U.S. corn flooded the market. U.S. agribusinesses typically dump corn on the Mexican market at prices 30 percent below the cost of production. Before NAFTA, Mexico only imported about 2.5 million tons of corn per year. In 2001, they imported over 6 million tons of corn. The price of Mexican corn fell 70 percent. Millions of small family corn farmers have been left without a source of income, and have been forced to abandon their communities in search of a way to feed their families. The bedrock of traditional Mexican rural life, corn farming families, have been torn apart by NAFTA.

While agreements like NAFTA and the WTO offer policies that favour agribusiness, they have been slow to address concerns of developing countries facing rock-bottom commodities prices. For example, in the WTO, African countries have raised the issue of low commodities prices in cotton, a staple of income for countries like Benin, Senegal, Mali, and Chad. Recent U.S. production of cotton has doubled, causing a world depression in cotton prices. In a July WTO meeting, the Trade Minister of Benin stated that Benin was “not prepared to accept the death of thousands of peasants as the price of a deal.”

Loss of Food Sovereignty

Under free trade regimes,

developing countries are unable to use traditional methods of encouraging self-sufficiency in food production, because NAFTA and the WTO, as would CAFTA, prohibit internal support programs and import controls (quotas). The result has been an increased dependence on imported staples that have to be bought on the global market instead of grown locally. Since many countries can't afford to buy imported food, they have to increase their foreign debt or suffer increased rates of malnutrition.

Under CAFTA, Central American countries were able to negotiate an exemption to tariff reductions only on one corn variety—white corn. This means that protective tariffs for staple food products such as rice and beans are prohibited. The result will be that in Nicaragua, for instance, tariff-free imports of yellow corn would increase ten times their current amount in the first year of CAFTA.

Increased Food Prices

Consumer prices were supposed to decline under NAFTA—yet while farmer's commodity prices have plummeted, consumer food prices have risen in all three NAFTA countries. The U.S. consumer price index for food rose by 22 percent between 1994 and 2002. While Mexican farmers now earn 70 percent less for their corn, they pay 50 percent more for tortillas. Without domestic support for family farmers, poor countries have become increasingly dependent on food imports. Imports of agriculture products in Mexico have increased by 44 percent since NAFTA, pushing local producers out of the market. This is true for products such as: wheat, potatoes, rice, barley, coffee, milk products, sugar, fruits and many others.

When exchange rates fluctuate, this can lead to a dramatic rise—sometimes a doubling or tripling—in food prices for poor consumers.

Loss of Land and Increase in Migration

Under NAFTA and the WTO, over one and a half million Mexican farmers have lost their sources of income, forcing them to abandon their farms. This has created a massive farmers' migration to big cities and other countries in search of jobs. In 2002, an average of 600 Mexicans were forced off their land each day. Annually now 500,000 Mexicans per year attempt to cross the U.S.-Mexico border to find a way to feed their families. In the past five years, 1600 Mexican migrants have died while trying to cross the U.S.-Mexico border searching for jobs. Under CAFTA, Central American corn, rice, beans, and sorghum farmers, as well as poultry, pig, cow, and dairy producers all stand to be driven off their land by cheap imports. In Guatemala alone, experts predict that CAFTA will result in the loss of 45,000 to 120,000 agricultural jobs.

Corporate Consolidation

Since NAFTA was implemented, 38,000 small farms have been lost in the United States, and 11 percent of Canadian farms have gone bankrupt. A mere 2 percent of farms in the United States control 50 percent of American agricultural sales. Over 73 percent of the nation's farms share less than 7 percent of the market value of agricultural products, while 7.2 percent of farms receive 72 percent of the market value of products sold. Eight-two percent of U.S. corn exports are controlled by three agribusiness firms- Cargill, Archer Daniels Midland (ADM), and Zen Noh. While family farmer incomes

have plummeted during the first 7 years of NAFTA, ADM's profits went from \$110 million to \$301 million, while ConAgra's grew from \$143 million to \$413 million.

Corporate Control of Plants and Seeds

The Trade-Related Intellectual Property (TRIPs) agreement within the WTO establishes global and uniform protection for trademarks, copyrights and patents. Perhaps most controversial and worrisome is the fact that these protections also apply to patenting of life forms. For example, traditional, plant-derived medicines used by Indigenous populations in countries such as Brazil could be patented by a transnational corporation for profit, as long as the Indigenous peoples had not already done so. It is highly unlikely, however, that Indigenous communities would seek a patent, because plants are considered to be a shared resource, not a commodity to be exploited for profit.

CAFTA and the TRIPs agreement also undermine global access to and distribution of seeds and, therefore, the food supply. As corporations begin to patent seeds, local farmers must pay annual fees and/or sign technology use agreements that prohibit saving patented seeds and limit the use of seeds that have been used by generations. Subsistence farmers cannot afford the cost of purchasing new seeds each year, and the limiting of seed varieties makes food supplies vulnerable to plant pests and diseases.

The Spread of Genetically Modified Organisms

Currently, agreements under the WTO and CAFTA grant unprecedented rights to multinational corporations

producing genetically modified organisms (GMOs). The WTO has ruled that GMOs must be treated no differently than their conventional counterparts. Thus, consumers are unknowingly being used as guinea pigs for the powerful biotech industry. Scientists have argued that the spread of GMOs drastically reduces biodiversity as a result of the contamination of conventional crops by pollen from those containing GMOs. Currently, no satisfactory protections exist to safeguard our food supply from known or unknown dangers of this new technology. Under CAFTA, GMO corporations would be granted the power to file suit against countries whose farmers replanted GMO seeds.

Environmental Degradation

Industrial agriculture practices replace sustainable family farm practices and take an extra toll on the environment that is not reflected in consumer prices. The overuse of fertilizers and chemicals, overgrazing, and the unenforced regulation of factory farm dumping of agricultural byproducts such as excrement and pesticides into rivers and streams all damage the quality of air, water, and soil, which are our shared resources. Corporate "free trade" agreements continue to stick communities and taxpayers with the costs of cleanup and loss of environmental quality, while corporations reap the profits embodied in industrial agriculture.

Erosion of Democracy

In order to be in compliance with NAFTA, the Mexican government actually had to change the Mexican Constitution's land redistribution statutes to allow foreign ownership of land. This allowed lands owned collectively by

farming communities to be sold off or taken by creditors. This move led to the uprising of the Indigenous people of Chiapas in the Zapatista rebellion on January 1, 1994 — the very day NAFTA took effect. The Zapatistas view NAFTA as a death knell for Indigenous people.

Under Chapter 11 of NAFTA, corporations are also empowered to directly sue national governments (called investor-to-state dispute resolution) in the event that domestic legislation interferes with their profit maximization. CAFTA includes these same investor rights, inviting challenges from foreign corporations over governmental actions such as GMO food labeling, increased food safety standards, or local purchasing preferences.

Farmers across Mexico protested the implementation of the final phase-in of NAFTA agricultural policies on January 1, 2003. A movement called "The Countryside Can't Take Anymore!" is working to educate the world about the failed promises of "free trade" in Mexico. And hundreds of thousands of farmers in Guatemala, Honduras, and Nicaragua have mobilized against CAFTA and the FTAA in recent years.

References

1. Fergusson ps, Ian F. (2008-01-18). "World Trade Organization Negotiations: The Doha Development Agenda"
2. Hanrahan, Charles; Randy Schnepf (2007-01-22). "WTO Doha Round: The Agricultural Negotiations"
3. "World trade talks end in collapse". BBC News. 2008-07-29.
4. Beattie, Alan (2008-07-31). "Hangovers but no anger on the morning after". Financial Times.
5. "Tequila sunset in Cancún". The Economist. 2003-09-17.

**Gopeshwar College,
Hathua**

The Role of Parents in the Development of Peer Group Competence

Shingla Prabha

As a child leaves infancy and approaches toddlerhood, one of the tasks parents face is introducing the child to the peer group. To be sure, parents are interested in their child's earliest interactions with peers, but in time, parents become more seriously invested in their children's ability to get along with playmates. *Getting along* has different meanings for different parents, but in general, parents want their child to enjoy the company of other children, be liked by them, be well-behaved in their presence (for example, share and cooperate with them), and resist the influence of companions who are overly boisterous, aggressive or defiant of adult authority.

How do parents help their child become a socially competent, well-liked playmate who is not too easily influenced by ill-behaved peers? What do we know from research literature in this area? Inasmuch as peer relations is only one of many social relationships that a child must master, it is not surprising that research on parenting styles gives some helpful insights into development of social skills in the peer group. A number of investigators, such as Diana Baumrind, Martin Hoffman, and Martha Putallaz, have made significant contributions to this topic.

The research of Diana Baumrind is particularly noteworthy. Baumrind has published a series of studies on the relation between parental child rearing styles and social competence in children of preschool and school age. Data on nursery school children were obtained from observations in a school setting and in laboratory test situations when the children were approximately four to five years of age. Data on the children's parents were obtained through home observations and interviews of both mothers and

fathers. Three contrasting parenting styles were identified by Baumrind: authoritarian, permissive, and authoritative, each of which has implications for the child's social competence with peers and adults. The three parenting styles differ particularly on two parenting dimensions: the amount of nurturance in child-rearing interactions and the amount of parental control over the child's activities and behaviour.

Authoritarian parents tend to be low in nurturance and high in parental control compared with other parents. They set absolute standards of behaviour for their children that are not to be questioned or negotiated. They favour forceful discipline and demand prompt obedience. Authoritarian parents also are less likely than others to use more gentle methods of persuasion, such as affection, praise and rewards, with their children. Consequently, authoritarian parents are prone to model the more aggressive modes of conflict resolution and are lax in modelling affectionate, nurturant behaviours in their interactions with their children.

In sharp contrast, permissive parents tend to be moderate to high in nurturance, but low in parental control. These parents place relatively few demands on their children and are likely to be inconsistent disciplinarians. They are accepting of the child's impulses, desires, and actions and are less likely than other parents to monitor their children's behaviour. Although their children tend to be friendly, sociable youngsters, compared with others their age they lack a knowledge of appropriate behaviours for ordinary social situations and take too little responsibility for their own misbehaviour.

Authoritative parents, in contrast to both authoritarian and permissive parents, tend to be high in nurturance and moderate in parental control when it comes to dealing with child behaviour. It is this combination of parenting strategies that Baumrind and others find the most facilitative in the development of social competence during early childhood and beyond. The following discussion describes specific behaviours used by authoritative parents and the role these behaviours play in fostering social development.

The Case for High Nurturance

Nurturing behaviours of parents that predict social competence include affectionate and friendly interaction with the child; consideration for the child's feelings, desires and needs; interest in the child's daily activities; respect for the child's points of view; expression of parental pride in the child's

accomplishments; and support and encouragement during times of stress in the child's life.

The advantages of high levels of nurturance in fostering social development have been confirmed again and again in studies of children. These advantages begin in infancy, when maternal nurturance facilitates a secure attachment which, in turn, predicts social competence, and continue throughout childhood. High levels of nurturance in child rearing virtually assure more positive adult-child interactions than negative ones in the day-to-day operations of family life. This, in turn, predisposes the child to return love to the parent and to enjoy spending time with the parent, thus increasing the possibilities of significant parental influence throughout childhood. Parental nurturance also motivates the child to please the parent by striving to live up to parental expectations and helps to keep the child from hurting or disappointing the loved parent. Because children more readily identify with nurturant than nonnurturant models, the children of nurturing parents are more likely to incorporate parental values, such as considerateness and fairness in interpersonal relations, into their own lifestyle. One would also expect these children to resist peer group values that are clearly different from family values.

If there is a downside to high levels of nurturance in child rearing, it is the risk that nurturant parents might be more lax than other parents in challenging their children to measure up to developmentally appropriate standards for behaviour. This risk would appear to be reduced, however, by the authoritative parents' inclination to combine moderate levels of parental control with nurturance.

The Case of Moderate Control

Nurturant parents who maintain at least a moderate level of control over their child do not give up their right to set behavioural standards for the child and to convey the importance of compliance with those standards. To facilitate compliance, and as a courtesy to the child, authoritative parents offer reasons and explanations for the demands placed on their children. Evidence suggests that such a practice increases the child's understanding of rules and regulations, eventually making it possible for the child to monitor his or her behaviour in the absence of the parent.

Parents who use authoritative child rearing practices often use positive reinforcers, such as praise, approval, and rewards, to increase the child's compliance with behavioural standards. The success of positive social reinforcement in producing desirable behaviour is legendary. A parent's positive response to good behaviour may be the most powerful tool the parent has for increasing child compliance and decreasing the need for disciplinary action.

When misbehaviour does occur and discipline is deemed necessary, authoritative parents show a preference for "rational-inductive discipline," in which both sides of an issue are stated and a just solution is sought. These parents also prefer "consequence-oriented discipline" in which children are expected to make up for their wrongdoing. Martin Hoffman points out that this disciplinary strategy has the advantage of focusing the child's attention on the plight of the victim rather than on the child's plight at the hands of an angry parent.

Finally, authoritative parents try to avoid the more extreme forms of punishment in rearing their children. They do not favour harsh physical punishment or put-downs, such as ridicule or negative social comparison, which attack the child's sense of personal worth. Although the harsher forms of punishment can be effective in the short run, they often generate resentment and hostility that carry over to the school and peer group, reducing the child's effectiveness in these settings.

Summary

In parenting, as in other endeavours, nothing works all of the time. It is safe to say, however, that authoritative parenting works better than most other parenting styles in facilitating the development of social competence in children at home and in the peer group. High levels of nurturance combined with moderate levels of control help adults be responsible child rearing agents for their children and help children become mature, competent members of society. With a little bit of luck, the children of authoritative parents should enjoy more than their share of success in the peer group.

References

- Baumrind, D. "Current Patterns of Parental Authority." *Developmental Psychology Monographs*.
- Hoffman, M.L. "Moral Internationalization, Parental Power, and the Nature of Parent-Child Interaction." *Developmental Psychology*.
- Putallaz, M. "Maternal Behaviour and Children's Sociometric Status." *Child Development*.
- Asher, S.R., and Coie, J.D. Eds. *Peer Rejection in Childhood*. New York: Cambridge University Press, 1990.
- Ramsey, P.G. *Making Friends in School: Promoting Peer Relationships in Early Childhood*. New York: Teacher's College Press, 1991.

**Rajendra Agriculture
University, Pusa**

Political Empowerment of Women in India

Rashmi Kumari

Empowerment of women all over the world has acquired a new dimension. But in India it has become a movement and the Centre and the State Governments as well as some NGOs are seriously engaged in the task of improving the social, economic, educational and political conditions of women. This has been seriously understood that without empowering women the pace of development of the nation can't be accelerated.

As per the Census of 2001, women constitute 48.27% of the total population of the Country, the total number being 49,57,38,169. It is not that in the past efforts have not been made for their emancipation. In the past, too, Social reformers like Raja Ram Mohun Roy, Swami Dayanand Saraswati, Jyotibha Phulle, Kandukari Veeresalingam and Political persons like Mahatma Gandhi, Dr. B.R. Ambedkar and others made serious efforts for the upliftment of women in India.

In common parlance empowerment of women constitutes many things such as property rights, political representation, social equality, economic opportunity, personal rights etc. But history is evident that either by law or by custom, the status of women is under-mined by asymmetrical power relationships in decision making, personal and social rights.

The persistence of patriarchal system and other centuries old traditions are also the hurdles in the way of women enjoying equal rights with men, though Indian Constitution grants them equal rights. It is true that principle of gender equality is enshrined in the Indian Constitution in the Preamble, Fundamental Rights, Fundamental Duties and Directive Principles. The Constitution not only grants equality to women,

but also empowers the state to adopt measures of positive discrimination in favour of women within the framework of a democratic polity. Our laws, development policies, plans and programmes have aimed at women's advancement in different spheres.

From the Sixth Five year plan (1980-85) onwards has been a marked shift in the approach to women's issues from welfare to development. More recently the Ninth Five year plan (1997-02) made two significant changes in the conceptual strategy of planning for women development. First, the plan attempted what it called "Empowerment of women", second, it aimed at 'Convergence of existing services' available in both women-specific and women-related sectors.

The National Commission for women was setup by an Act of Parliament in 1990 to safeguard the rights and legal entitlements of women. The National Policy of empowerment of women has set certain goals and objectives to bring about the advancement, development and empowerment of women. Specifically, the objectives of this policy include

- a) Creating an environment through positive economic and social policies for full development of women to enable them to realize their full potential.
- b) The de-jure and defacto enjoyment of all human rights and fundamental freedom by women on equal basis with men in all spheres-political, economic, social, cultural and civil.
- c) Equal access to participation and decision making of women in social, political and economic life of all nation.
- d) Equal access to women to healthcare, quality education at all levels, career and vocational guidance, employment, equal remuneration, occupational health and safety, social security and public office etc.
- e) Strengthening legal systems aimed at elimination of all forms of discrimination against women.
- f) Changing societal attitudes and community practices by active participation and involvement of both men and women.

- g) Mainstreaming of gender perspective in the development process.
- h) Elimination of discrimination and all forms of violence against women and girl child;
- i) Building and strengthening partnerships with civil society, particularly women's organization.

Notwithstanding these facts, efforts are being made by the government to make legal judicial system more responsive and gender sensitive to women's needs, especially in case of domestic violence and personal assault. Moreover, at the initiative of and with the full participation of all stake holders including community and religious leaders, the policy prescriptions of the government aim to encourage changes in personal laws such as those related to marriage, divorce, maintenance and guardianship so as to eliminate gender discrimination.

A major step forward is the evolution of property rights in a patriarchal system which has contributed to the subordinate status of women. The government policy aims to encourage changes in laws relating to ownership of property and inheritance by evolving consensus in order to make them gender just.

The 73rd Amendment Act 1992 of the Constitution of India, provides for the reservation of elective posts for women. This, certainly, has led to women's equality in power sharing and active participation in decision making,

for the achievement of the goals of empowerment. The Act has provided that not less than one-third of the total number of posts of members and chairpersons at all three tiers of Panchayati Raj Institutions (i.e, Gram Panchayat, Intermediate Panchayat and District Panchayat) shall be reserved for women. Presently there are 6,81,258 women elected to Gram Panchayats, 37,109 women to Panchayat Samiti at Intermediate level and 3153 women to Zila Parishad.

The empowerment of Rural women is crucial for the development of rural India. Bringing women into mainstream of development is a major concern for the Indian Government. This is why the Government of India declares 2001 as the "year of women Empowerment".

The Constitution has placed enormous responsibility on the panchayats to formulate and execute various programmes of economic development and social justice and a number of Centrally Sponsored Schemes are being implemented through Panchayats. Thus Women Members and Chairpersons of Panchayats, who are basically new entrants in Panchayats, have to acquire the required skill and be given appropriate orientation to assume their rightful roles as leaders and decision makers.

It is noteworthy-here that states like Bihar, Maharashtra and Chhattisgarh has already given 50% reservation to the women at Panchayat level. Now, Kerala has also decided to reserve 50% seat

for women in civic bodies. These states are organising training programme for elected representatives of Panchayats including Women Members and Chairpersons of Panchayats. The Central Government too, decided the other day to give 50% reservation to women at the Panchayat level and a Bill amending Article 243(d) of the Constitution would be introduced in the coming winter session of Parliament.

The Ministry of Rural Development also extends some financial assistance to the states to improve the quality of training programmes. NGOs are also involved in capacity building initiatives for women members and Chairpersons of Panchayats. Similar capacity building initiatives have also been funded by UNICEF in consultation with the Ministry of Rural Development in the states of Haryana, Tamilnadu, Himachal Pradesh, Rajasthan and West Bengal.

The All India Women Conference, an NGO has been provided funds by UNICEF for organising leader-ship training programmes for women members of Panchayats in Manipur and Tripura. In Bihar, the government has taken several steps to catalyse capacity building through its own state mechanisms. The Self-Help Groups which were formally launched in 1992 as a flag-ship programme by the National Bank for Agriculture and Rural Development have also played a very strong and effective too towards the empowerment of women.

However, this is only one side of the story. Still the question arises as to what extent these measures have been implemented on the ground. There are lot of nodal agencies including the National Commission for Women said to have been working for the welfare of the women apart from governmental efforts. Where does they reach in this direction?

The fact is that leaving a meagre number of urban and suburban women, the Indian women are still urging for simple justice, which is not even allowed to have been accessed to them. In recent past, a lot of hue and cry is being made over 'Women's Reservation Bill' by the different sections of the Indian society, different political or apolitical organisations but nobody seems to be honest in its perspectives.

If we have to be honest towards the empowerment of the women, we must concentrate on improving social education before giving any concrete shape to their political empowerment. Without academic and social education, the political empowerment of women in certain parts of the country have proved futile.

The present Bihar Government has started providing bicycles and tools and instruments to girl child in-order to develop their academic and social education. This is a commendable step. However, this is not enough. It is required that our efforts should be directed towards all round development of each and every section of Indian women b) giving their due share. Let us be a

little bit honest to diagnose the illness by taking into consideration all the aspects and aspiration in changed scenario, circumstances and atmosphere. Only then we could have a perfect planning to achieve over cherished aim that is empowerment of Indian women.

References : -

1. S. L. Bairava "Contribution of Women in Economic Development", Kuruksheetra, vol. 54, No. 5, March 2008, 9-16

2. National Policy for the Empowerment of Women (2001), <http://twed,nic.in/empwomen.htm>.
3. Ram Naresh Thakur, "Rural Women Empowerment in India", in Meena Agrawal & Shobana Nelasco edited Empowerment of Women (Delhi, Kanishk Publishers, 2009)
4. National Policy for the Empowerment of women (2001), op.Cit
5. Times of India, Patna, 20 August, 09
6. Arbind Kumar, "Women Empowerment through Panchayats", Yoina, October 2008 p. 14

Research Scholar

J.P. University, Chapra

उपन्यास

राधारानी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
स्वामी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
आनन्दमठ	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
काशीनाथ	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	125.00
शिकारी	अगाथ क्रिस्टी	200.00
बर्फीली आंधी	अलेक्सान्द्र पुशिकन	125.00
यामा, भाग-1	अलैकजेंडर कुप्रिन	225.00
यामा, भाग-2	अलैकजेंडर कुप्रिन	225.00
फर्ज	राकेश चक्र	125.00
आहुति	सी. रंजन	250.00
महानायिका	सी. रंजन	300.00
द गेट वे ऑफ इंडिया	सी. रंजन	300.00
गरीबी जुर्म नहीं	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	100.00
कमाई की जगह	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
दर्द भरा दिल	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)	देवकी नन्दन खत्री	2400.00
चन्द्रकांता संतति	देवकी नन्दन खत्री	200.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

Decision-Making and Decision- Making Processes

Rashmi Singh & Dr. Sujeet Kr. Dubey

Decision making can be regarded as an outcome of mental processes (cognitive process) leading to the selection of a course of action among several alternatives. Every decision making process produces a final choice. The output can be an action or an opinion of choice. Human performance in decision making terms has been the subject of active research from several perspectives. From a psychological perspective, it is necessary to examine individual decisions in the context of a set of needs, preferences an individual has and values they seek. From a cognitive perspective, the decision making process must be regarded as a continuous process integrated in the interaction with the environment. From a normative perspective, the analysis of individual decisions is concerned with the logic of decision making and rationality and the invariant choice it leads to.

Yet, at another level, it might be regarded as a problem solving activity which is terminated when a satisfactory solution is found. Therefore, decision making is a reasoning or emotional process which can be rational or irrational, can be based on explicit assumptions or tacit assumptions.

Logical decision making is an important part of all science-based professions, where specialists apply their knowledge in a given area to making informed decisions. For example, medical decision making often involves making a diagnosis and selecting an appropriate treatment. Some research using naturalistic methods shows, however, that in situations with higher time pressure, higher stakes, or increased ambiguities, experts use intuitive decision making rather than structured approaches, following a recognition primed decision approach to fit a set of indicators into the expert's experience and immediately arrive at a satisfactory course of action without weighing alternatives. Recent robust decision efforts have formally integrated uncertainty into the decision making process. However, Decision Analysis, recognized and included uncertainties with a structured

and rationally justifiable method of decision making since its conception in 1964.

According to behaviorist Isabel Briggs Myers, a person's decision making process depends to a significant degree on their cognitive style. Myers developed a set of four bi-polar dimensions, called the Myers-Briggs Type Indicator (MBTI). The terminal points on these dimensions are: *thinking* and *feeling*; *extroversion* and *introversion*; *judgment* and *perception*; and *sensing* and *intuition*. She claimed that a person's decision making style is based largely on how they score on these four dimensions. For example, someone who scored near the thinking, extroversion, sensing, and judgment ends of the dimensions would tend to have a logical, analytical, objective, critical, and empirical decision making style. Other studies suggest that these national or cross-cultural differences exist across entire societies. For example, Maris Martinsons has found that American, Japanese and Chinese business leaders each exhibit a distinctive national style of decision making. Some of the decision making techniques that we use in everyday life include:

- listing the advantages and disadvantages of each option, popularized by Plato and Benjamin Franklin
- flipping a coin, cutting a deck of playing cards, and other random or coincidence methods
- accepting the first option that seems like it might achieve the desired result
- prayer, tarot cards, astrology, augurs, revelation, or other forms of divination
- acquiesce to a person in authority or an "expert"
- choosing the alternative with the highest probability-weighted utility for each alternative

Cognitive and Personal Biases

Biases can creep into our decision making processes. Many different people have made a decision about the same question (e.g. "Should I have a doctor look at this troubling breast cancer symptom I've discovered?" "Why did I ignore the evidence that the project was going over budget?") and then craft potential cognitive interventions aimed at improving decision making outcomes. Below is a list of some of the more commonly debated cognitive biases.

- Selective search for evidence (a.k.a. Confirmation bias in psychology) (Scott Plous, 1993) – We tend to be willing to gather facts that support certain

conclusions but disregard other facts that support different conclusions. Individuals who are highly defensive in this manner show significantly greater left prefrontal cortex activity as measured by EEG than do less defensive individuals.

- Premature termination of search for evidence – We tend to accept the first alternative that looks like it might work.
- Inertia – Unwillingness to change thought patterns that we have used in the past in the face of new circumstances.
- Selective perception – We actively screen-out information that we do not think is important. In one demonstration of this effect, discounting of arguments with which one disagrees (by judging them as untrue or irrelevant) was decreased by selective activation of right prefrontal cortex.
- Wishful thinking or optimism bias – We tend to want to see things in a positive light and this can distort our perception and thinking.
- Choice-supportive bias occurs when we distort our memories of chosen and rejected options to make the chosen options seem relatively more attractive.
- Recency – We tend to place more attention on more recent information and either ignore or forget more distant information. The opposite effect in the first set of data or other information is termed Primacy effect (Plous, 1993).
- Repetition bias – A

willingness to believe what we have been told most often and by the greatest number of different sources.

- Anchoring and adjustment – Decisions are unduly influenced by initial information that shapes our view of subsequent information.
- Group think – Peer pressure to conform to the opinions held by the group.
- Source credibility bias – We reject something if we have a bias against the person, organization, or group to which the person belongs: We are inclined to accept a statement by someone we like.
- Incremental decision making and escalating commitment – We look at a decision as a small step in a process and this tends to perpetuate a series of similar decisions. This can be contrasted with zero-based decision making.
- Attribution asymmetry – We tend to attribute our success to our abilities and talents, but we attribute our failures to bad luck and external factors. We attribute other's success to good luck, and their failures to their mistakes.
- Role fulfilment (Self Fulfilling Prophecy) – We conform to the decision making expectations that others have of someone in our position.
- Underestimating uncertainty and the illusion of control – We tend to underestimate future uncertainty because we tend to believe we have more control over events than we really do. We believe we have control to minimize

potential problems in our decisions.

Neuroscience Perspective

The anterior cingulate cortex (ACC), orbitofrontal cortex (and the overlapping ventromedial prefrontal cortex) are brain regions involved in decision making processes. A recent neuroimaging study, found distinctive patterns of neural activation in these regions depending on whether decisions were made on the basis of personal volition or following directions from someone else. Patients with damage to the ventromedial prefrontal cortex have difficulty making decisions.

A recent study involving Rhesus monkeys found that neurons in the parietal cortex not only represent the formation of a decision but also signal the degree of certainty (or “confidence”) associated with the decision. Another recent study found that lesions to the ACC in the macaque resulted in impaired decision making in the long run of reinforcement guided tasks suggesting that the ACC is responsible for evaluating past reinforcement information and guiding future action.

Emotion appears to aid the decision making process: Decision making often occurs in the face of uncertainty about whether one's choices will lead to benefit or harm (see also Risk). The somatic-marker hypothesis is a neurobiological theory of how decisions are made in the face of uncertain outcome. This theory holds that such decisions are aided by emotions, in the form of bodily states, that are elicited during the deliberation of future consequences and that mark different options for behaviour as being advantageous or

disadvantageous. This process involves an interplay between neural systems that elicit emotional/bodily states and neural systems that map these emotional/bodily states.

Styles and Methods of Decision Making

Styles and methods of decision making were elaborated by the founder of Predispositioning Theory, Aron Katsenelinboigen. In his analysis on styles and methods Katsenelinboigen referred to the game of chess, saying that “chess does disclose various methods of operation, notably the creation of predisposition—methods which may be applicable to other, more complex systems.” In his book Katsenelinboigen states that apart from the methods (reactive and selective) and sub-methods (randomization, predispositioning, programming), there are two major styles – positional and combinational. Both styles are utilized in the game of chess. According to Katsenelinboigen, the two styles reflect two basic approaches to the uncertainty: deterministic (combinational style) and indeterministic (positional style). Katsenelinboigen’s definition of the two styles are the following. The lists in this article may contain items that are not notable, encyclopedic, or helpful. Please help out by removing such elements and incorporating appropriate items into the main body of the article. (February 2008)

The combinational style is characterized by

- a very narrow, clearly defined, primarily material goal, and
- a program that links the initial position with the final outcome.

In defining the combinational style in chess, Katsenelinboigen writes:

The combinational style features a clearly formulated limited objective, namely the capture of material (the main constituent element of a chess position). The objective is implemented via a well defined and in some cases in a unique sequence of moves aimed at reaching the set goal. As a rule, this sequence leaves no options for the opponent. Finding a combinational objective allows the player to focus all his energies on efficient execution, that is, the player’s analysis may be limited to the pieces directly partaking in the combination. This approach is the crux of the combination and the combinational style of play.

The positional style is distinguished by:

- a positional goal and
- a formation of semi-complete linkages between the initial step and final outcome.

“Unlike the combinational player, the positional player is occupied, first and foremost, with the elaboration of the position that will allow him to develop in the unknown future. In playing the positional style, the player must evaluate relational and material parameters as independent variables. (...) The positional style gives the player the opportunity to develop a position until it becomes pregnant with a combination. However, the combination is not the final goal of the positional player—it helps him to achieve the desirable, keeping in mind a predisposition for the future development. The Pyrrhic victory is the best example of one’s inability to think positionally.”

The positional style serves to:

- a) create a predisposition to the future development of the position;

- b) induce the environment in a certain way;
- c) absorb an unexpected outcome in one’s favour;
- d) avoid the negative aspects of unexpected outcomes.

The positional style gives the player the opportunity to develop a position until it becomes pregnant with a combination. Katsenelinboigen writes:

“As the game progressed and defense became more sophisticated the combinational style of play declined... The positional style of chess does not eliminate the combinational one with its attempt to see the entire program of action in advance. The positional style merely prepares the transformation to a combination when the latter becomes feasible.”

References

1. James Reason (1990). *Human Error*. Ashgate
2. Daniel Kahneman, Amos Tversky (2000). *Choice, Values, Frames*. The Cambridge University Press.
3. ^ Isabel Briggs Myers | Myers, I. (1962) *Introduction to Type: A description of the theory and applications of the Myers-Briggs type indicator*, Consulting Psychologists Press, Palo Alto Ca., 1962.
4. Martinsons, Maris G., Comparing the Decision Styles of American, Chinese and Japanese Business Leaders. *Best Paper Proceedings of Academy of Management Meetings*, Washington, DC, August 2001.
5. Blackhart, G. C., & Kline, J. P. (2005). Individual differences in anterior EEG asymmetry between high and low defensive individuals during a rumination/distraction task. *Personality and Individual Differences*, 39, 427–437.
6. Drake, R. A. (1993). Processing persuasive arguments: 2. Discounting of truth and relevance as a function of agreement and manipulated activation asymmetry. *Journal of Research in Personality*, 27, 184–196.

Rashmi Singh is Research Scholar at J.P. University & Dr. Sujeet Kr. Dubey is Lecturer at Rajendra College, Chhapra.

Abraham Maslow's Hierarchy of Human Needs

Dr. Asha Kumari

Maslow's hierarchy of needs is a theory of motivation, whereby people must meet certain biological and psychological needs before they can desire self-actualisation. The humanist psychologist, Abraham Maslow, developed a theory of motivation which came to be known as "Maslow's Hierarchy of Needs." Maslow believed that human beings are motivated not only by their basic needs, but by other psychological needs and the desire for self-actualisation as well.

Maslow's Hierarchy of Human Needs

Maslow's hierarchy of needs ascends in a series of levels, from the essential physiological and safety needs at the bottom, to the more complex psychological sources of motivation. Psychological needs include the need to belong and be accepted by others, the need for esteem, and the need for self-actualisation. Needs lower down in the hierarchy must be at least partially met before progressing to higher-order needs.

Higher level psychological needs are only important once the more basic needs have been satisfied. For example, the need for esteem will not be significant if a person is still struggling to satisfy his or her necessary food and safety needs. If people don't have their basic biological needs, they will have little time and energy for needs higher up in the hierarchy.

Physical and Psychological Needs in the Hierarchy

Here are the physical and psychological needs, featured in Maslow's hierarchy of needs:

1. *Physiological needs* - Physiological needs are at the very bottom of the hierarchy, and include food, water and oxygen. People may not survive if their physiological needs are not met, and if they are operating at this level, they could be panicking, terrified or close to violence.

2. *Safety needs* - Next on the hierarchy after physiological needs are safety needs, which include the need to feel comfort and security, and be free from danger and fear.
3. *Belonging needs* - The need to belong is above safety needs, and includes the need to experience the love and acceptance of other people, and feel affiliation with them.
4. *Esteem needs* - The need for self-esteem is above the need to belong in the hierarchy. A person is functioning at this level when he or she feels a sense of success and achievement, and receives the recognition, approval and respect of other people.
5. *Self-actualisation needs* - Self-actualisation sits at the top of the hierarchy. Successfully climbing to this level means experiencing self-fulfilment and realising one's potential.

The level in the hierarchy at which a person is operating may change from time to time. For example, once having ascended to the level of esteem, a person may temporarily regress to the level of the need for belonging if he or she no longer feels loved and accepted by others. The lower level needs must still be met even when someone is functioning at one of the higher levels.

The Motivation for Self-Actualisation

The motivation for self-actualisation becomes apparent when a person realises his or her purpose in life and has the desire to fulfil it. To be the best that one can be is to be self-actualised. For example, a poet writes poetry, a musician makes music, and an artist paints, if this is what is necessary to achieve happiness.

Maslow studied famous people who he considered had realised their full potential in life, including Thomas Jefferson, Ludwig van Beethoven, Eleanor Roosevelt and Albert Einstein. Maslow discovered these particular people shared certain admirable qualities including realism, self-acceptance and acceptance of others, tolerance of uncertain situations, problem solving, objectivity, creativity, a good sense of humour and democratic principles.

Maslow's hierarchy of needs proposes that when human beings have met their basic needs to survive, felt a sense of belonging and developed self-esteem, they can become motivated to achieve self-actualisation.

Resources:

- Maslow, A. H. *Motivation and Personality*, New York: Harper and Row, 1970.

Decision Making and its Theory

Manoranjan Kumar Rai

Decision making can be regarded as an outcome of mental processes (cognitive process) leading to the selection of a course of action among several alternatives. Every decision making process produces a final choice. The output can be an action or an opinion of choice. Human performance in decision making terms has been the subject of active research from several perspectives. From a psychological perspective, it is necessary to examine individual decisions in the context of a set of needs, preferences an individual has and values they seek. From a cognitive perspective, the decision making process must be regarded as a continuous process integrated in the interaction with the environment. From a normative perspective, the analysis of individual decisions is concerned with the logic of decision making and rationality and the invariant choice it leads to.

Yet, at another level, it might be regarded as a problem solving activity which is terminated when a satisfactory solution is found. Therefore, decision making is a reasoning or emotional process which can be rational or irrational, can be based on explicit assumptions or tacit assumptions.

Logical decision making is an important part of all science-based professions, where specialists apply their knowledge in a given area to making informed decisions. For example, medical decision making often involves making a diagnosis and selecting an appropriate treatment. Some research using naturalistic methods shows, however, that in situations with higher time pressure, higher stakes, or increased ambiguities, experts use intuitive decision making rather than structured approaches, following a recognition primed decision approach to fit a set of indicators into the expert's experience and immediately arrive at a satisfactory course of action without weighing alternatives. Recent robust decision efforts have formally integrated uncertainty into the decision making process. However, Decision Analysis, recognized and included uncertainties with a structured and rationally justifiable method of decision making since its conception in 1964.

According to behaviorist Isabel Briggs Myers, a person's decision making process depends to a significant degree on their cognitive style. Myers developed a set of four bi-polar dimensions, called the Myers-Briggs Type Indicator (MBTI). The terminal points on these dimensions are: *thinking* and *feeling*; *extroversion* and *introversion*; *judgment* and *perception*; and *sensing* and *intuition*. She claimed that a person's decision making style is based largely on how they score on these four dimensions. For example, someone who scored near the thinking, extroversion, sensing, and judgment ends of the dimensions would tend to have a logical, analytical, objective, critical, and empirical decision making style.

Other studies suggest that these national or cross-cultural differences exist across entire societies. For example, Maris Martinsons has found that American, Japanese and Chinese business leaders each exhibit a distinctive national style of decision making.

Some of the decision making techniques that we use in everyday life include:

- listing the advantages and disadvantages of each option, popularized by Plato and Benjamin Franklin
- flipping a coin, cutting a deck of playing cards, and other random or coincidence methods
- accepting the first option that seems like it might achieve the desired result
- prayer, tarot cards, astrology, augurs, revelation, or other forms of divination
- acquiesce to a person in authority or an "expert"
- choosing the alternative with the highest probability-weighted utility for each alternative.

Decision Theory

Decision theory in mathematics and statistics is concerned with identifying the values, uncertainties and other issues relevant in a given decision and the resulting optimal decision. It is sometimes called game theory.

Normative and Descriptive Decision Theory

Most of decision theory is normative or prescriptive, *i.e.*, it is concerned with identifying the best decision to take, assuming an ideal decision maker who is fully informed, able to compute with perfect accuracy, and fully rational. The practical application

of this prescriptive approach (how people *actually* make decisions) is called decision analysis, and aimed at finding tools, methodologies and software to help people make better decisions. The most systematic and comprehensive software tools developed in this way are called decision support systems.

Since it is obvious that people do not typically behave in optimal ways, there is also a related area of study, which is a positive or descriptive discipline, attempting to describe what people will actually do. Since the normative, optimal decision often creates hypotheses for testing against actual behaviour, the two fields are closely linked. Furthermore it is possible to relax the assumptions of perfect information, rationality and so forth in various ways, and produce a series of different prescriptions or predictions about behaviour, allowing for further tests of the kind of decision-making that occurs in practice.

What Kinds of Decisions Need a Theory?

Choice under Uncertainty

This area represents the heart of decision theory. The procedure now referred to as expected value was known from the 17th century. Blaise Pascal invoked it in his famous wager, which is contained in his *Pensees*, published in 1670. The idea of expected value is that, when faced with a number of actions, each of which could give rise to more than one possible outcome with different probabilities, the rational procedure is to identify all possible outcomes, determine their values (positive or negative) and the probabilities that will result from

each course of action, and multiply the two to give an expected value. The action to be chosen should be the one that gives rise to the highest total expected value. In 1738, Daniel Bernoulli published an influential paper entitled *Exposition of a New Theory on the Measurement of Risk*, in which he uses the St. Petersburg paradox to show that expected value theory must be normatively wrong. He also gives an example in which a Dutch merchant is trying to decide whether to insure a cargo being sent from Amsterdam to St Petersburg in winter, when it is known that there is a 5% chance that the ship and cargo will be lost. In his solution, he defines a utility function and computes expected utility rather than expected financial value.

In the 20th century, interest was reignited by Abraham Wald's 1939 paper pointing out that the two central concerns of orthodox statistical theory at that time, namely statistical hypothesis testing and statistical estimation theory, could both be regarded as particular special cases of the more general decision problem. This paper introduced much of the mental landscape of modern decision theory, including loss functions, risk functions, admissible decision rules, a priori distributions, Bayes decision rules, and minimax decision rules. The phrase "decision theory" itself was first used in 1950 by E. L. Lehmann.

The rise of subjective probability theory, from the work of Frank Ramsey, Bruno de Finetti, Leonard Savage and others, extended the scope of expected utility theory to situations where only subjective probabilities are available. At this time it was

generally assumed in economics that people behave as rational agents and thus expected utility theory also provided a theory of actual human decision-making behaviour under risk. The work of Maurice Allais and Daniel Ellsberg showed that this was clearly not so. The prospect theory of Daniel Kahneman and Amos Tversky placed behavioural economics on a more evidence-based footing. It emphasized that in actual human (as opposed to normatively correct) decision-making "losses loom larger than gains", people are more focused on *changes* in their utility states than the states themselves and estimation of subjective probabilities is severely biased by anchoring.

Castagnoli and LiCalzi (1996), Bordley and LiCalzi (2000) recently showed that maximizing expected utility is mathematically equivalent to maximizing the probability that the uncertain consequences of a decision are preferable to an uncertain benchmark (e.g., the probability that a mutual fund strategy outperforms the S&P 500 or that a firm outperforms the uncertain future performance of a major competitor.). This reinterpretation relates to psychological work suggesting that individuals have fuzzy aspiration levels (Lopes & Oden), which may vary from choice context to choice context. Hence it shifts the focus from utility to the individual's uncertain reference point.

Pascal's Wager is a classic example of a choice under uncertainty. The uncertainty, according to Pascal, is whether or not God exists. Belief or non-belief in God is the choice to be made. However, the reward for belief in God if God actually does exist is infinite. Therefore, however

small the probability of God's existence, the expected value of belief exceeds that of non-belief, so it is better to believe in God. (There are several criticisms of the argument.)

Intertemporal Choice

This area is concerned with the kind of choice where different actions lead to outcomes that are realised at different points in time. If someone received a windfall of several thousand dollars, they could spend it on an expensive holiday, giving them immediate pleasure, or they could invest it in a pension scheme, giving them an income at some time in the future. What is the optimal thing to do? The answer depends partly on factors such as the expected rates of interest and inflation, the person's life expectancy, and their confidence in the pensions industry. However even with all those factors taken into account, human behaviour again deviates greatly from the predictions of prescriptive decision theory, leading to alternative models in which, for example, objective interest rates are replaced by subjective discount rates.

Competing Decision Makers

Some decisions are difficult because of the need to take into account how other people in the situation will respond to the decision that is taken. The analysis of such social decisions is more often treated under the label of game theory, rather than decision theory, though it involves the same mathematical methods. From the standpoint of game theory most of the problems treated in decision theory are one-player games (or the one player is viewed as playing against an impersonal background

situation). In the emerging socio-cognitive engineering the research is especially focused on the different types of distributed decision-making in human organizations, in normal and abnormal/emergency/crisis situations.

The signal detection theory is based on the Decision theory.

Complex Decisions

Other areas of decision theory are concerned with decisions that are difficult simply because of their complexity, or the complexity of the organization that has to make them. In such cases the issue is not the deviation between real and optimal behaviour, but the difficulty of determining the optimal behaviour in the first place. The Club of Rome, for example, developed a model of economic growth and resource usage that helps politicians make real-life decisions in complex situations.

Paradox of Choice

Observed in many cases is the paradox that more choices may lead to a poorer decision or a failure to make a decision at all. It is sometimes theorized to be caused by analysis paralysis, real or perceived, or perhaps from rational ignorance. A number of researchers including Sheena S. Iyengar and Mark R. Lepper have published studies on this phenomenon. This analysis was popularized by Barry Schwartz in his 2004 book, *The Paradox of Choice*.

Statistical Decision Theory

Several statistical tools and methods are available to organize evidence, evaluate risks, and aid in decision making. The risks of Type I and type II errors can be

quantified (estimated probability, cost, expected value, etc) and rational decision making is improved.

References

1. James Reason (1990). *Human Error*. Ashgate.
2. Daniel Kahneman, Amos Tversky (2000). *Choice, Values, Frames*. The Cambridge University Press.
3. Isabel Briggs Myers | Myers, I. (1962) *Introduction to Type: A description of the theory and applications of the Myers-Briggs type indicator*, Consulting Psychologists Press, Palo Alto Ca., 1962.
4. Martinsons, Maris G., Comparing the Decision Styles of American, Chinese and Japanese Business Leaders. *Best Paper Proceedings of Academy of Management Meetings*, Washington, DC, August 2001
5. Blackhart, G. C., & Kline, J. P. (2005). Individual differences in anterior EEG asymmetry between high and low defensive individuals during a rumination/distraction task. *Personality and Individual Differences*.
6. Drake, R. A. (1993). Processing persuasive arguments: 2. Discounting of truth and relevance as a function of agreement and manipulated activation asymmetry. *Journal of Research in Personality*.
7. Chua, E. F., Rand-Giovannetti, E., Schacter, D. L., Albert, M., & Sperling, R. A. (2004). Dissociating confidence and accuracy: Functional magnetic resonance imaging shows origins of the subjective memory experience. *Journal of Cognitive Neuroscience*.
8. Interactions between decision making and performance monitoring within prefrontal cortex
9. Damasio, AR (1994). *Descartes' Error: Emotion, reason and the human brain*. New York: Picador.
10. Roozbeh Kiani and Michael N. Shadlen, Representation of Confidence Associated with a Decision by Neurons in the Parietal Cortex
11. Kennerly, et al. (2006)
12. Nasir Naqvi, et al. "The Role of Emotion in Decision Making: A Cognitive Neuroscience Perspective", *Current Directions in Psychological Science*.

**Dharampur,
Narepur (Begusarai)**

International Politics on Climate Change

Raghendra Kishor

Fifteen years after over 150 countries signed the United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCCC) and ten years after the subsequent Kyoto Protocol on reducing greenhouse gas emissions was created, the world is in need of international cooperation to address global warming more than ever. The process to agree the regime for the next phase of emissions reduction, kicking-off in earnest at the December 2007 Convention of the Parties to the UNFCCC in Bali, could not be more important. Progress on curbing emissions has been sporadic at best and targets are being missed left, right and centre. At the same time, the science on climate change and its likely impacts becomes ever more compelling. The message being sent is loud and clear: the action required must be radical and swift. Time is running out to take the steps necessary to limit the average increase in global temperature to at most 2°C – a level that will still have severe impacts on people and the environment – and to facilitate adaptation to this level of climate change. The Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC) report on mitigation in May 2007 calculated that to keep the increase in global temperatures to between 2°C and 2.4°C requires global emissions to peak between now and 2015, at the latest, and then fall by between 50 and 85 per cent, on 2000 levels, by 2050.

Yet despite this scientific boldness, the international politics of the climate talks are still characterised by fear: fear of losing international competitiveness; fear of taking on vested interests; and fear of potentially unpopular policy choices. And with fear comes the need to apportion blame. The very real and very dangerous scenario we face is the talks breaking down in acrimony with rich countries playing the 'blame China game'; as the US administration did in the late 1990s, pointing the finger at the growing emissions of large developing countries as a reason not to take concerted action themselves.

Taking China as the most obvious example of a large, rapidly growing developing country and the UK as an example of an established industrialised country, the first part of this report looks behind this issue of 'who is responsible', comparing the situation in the two countries and highlighting the implications for the international talks. The report highlights the difference between current emissions and historical emissions; the difference between emissions per country and emissions per person; the UK's recent patchy history in reducing emissions; and the recent trend for the UK to 'import' emissions from countries such as China. The report suggests the need for understanding that different positions in the negotiations are based on different ways of looking at who is responsible, and that accommodating these different perspectives is a critical part of the negotiations.

In the complex world of international climate negotiations, who moves first, who demonstrates the willingness and ability to reduce greenhouse gas emissions first, is also a critical issue. Governments are involved in an international game of 'chicken'. As we all race headlong towards a catastrophic collision, we are waiting to see if someone else will move out of the way first – the perception being that the one who moves 'loses'. This perception is based on a fear that taking the necessary steps towards a low carbon economy will undermine a country's competitiveness in a globalised world, which is why reaching international agreement is seen as being a key part of the process.

However, as recent experience with the Doha Round of trade negotiations highlights, reaching an international accord that can address fears of losing competitiveness and create a just outcome is far from simple. In many ways the climate talks display similar characteristics to the Doha Round of trade negotiations in the World Trade Organisation (WTO). The World Development Movement has been following the WTO talks for many years, and the second part of this report analyses the similarities, and also the differences between the climate talks and the trade talks in order to draw lessons and help understand what we can expect in Bali, and beyond. The report draws out some reasons to be pessimistic, but also highlights several reasons for optimism that suggest, unlike with the WTO, cooperation rather than competition can win the day.

Ultimately of course, it has to. Unless historical responsibility and the gaping inequality in emissions and consumption is accounted for, the patchy record

of industrialised countries in reducing emissions is acknowledged, the current emissions situation addressed, and the fear of being 'first to move' is overcome, we face a much more frightening prospect; dangerous, irreversible, runaway climate change. After the Kyoto Protocol was created, the United States refused to ratify it. Bill Clinton (then President) and Al Gore (then Vice President) would not put the Treaty before the US Senate for a vote. They knew it would not be passed because larger developing countries were not required by the treaty to make emissions cuts – one of the US's 'red lines' in the negotiations. Since then, the share of global emissions from developing countries has continued to increase, and with it calls from richer countries for larger developing countries to make cuts have become louder. But this overall picture of rapid emissions growth in countries like India and China still hides a gaping inequality in both historical and per person emissions. The politics of the international negotiations and the arguments that play out in the media are heavily influenced by which set of figures form the frame of reference. Industrialised country governments will point to current emissions and demand action - some may possibly demand equal action - from larger developing countries. Larger developing countries will point to the historical emissions of rich countries and demand that the industrialised world acts first and does the most. The picture is further complicated by the fact that, even though overall emissions in a country like China dwarf those of the UK, emissions per person are still highly unequal. A more equitable approach to addressing climate change has to factor in this

disparity. At an informal preparatory meeting of the UNFCCC in late October the call was once again made, this time by Pakistan, that the most equitable way to determine responsibilities on climate change would be based on per person greenhouse gas emissions.

It is far from simple then to apportion responsibility for climate change based on current emissions per country. The nations of the developing world might also point towards the difficulty rich countries have had in actually reducing emissions in the decade since signing the Kyoto Protocol and also to the shift of manufacturing production (sometimes by western companies) from industrialised to developing countries. On climate change, the approach of most developing countries is to demand action from the industrialised world in order to correct a historical injustice; rich countries have become wealthy as a result of high carbon economies, causing yet another problem that will hurt the poorest countries and poorest people most. They see little reason why they should make commitments that are perceived to potentially hurt the competitiveness of their economies when they are not, historically, the principal cause of the problem. Their focus in the climate talks is for developed countries to agree emissions cuts in a second 'commitment period' already mandated in the Kyoto Protocol; the first commitment period expires in 2012. Industrialised countries are more focused on the future prospects for emissions (and competitiveness). While, unlike the trade talks, there is a greater willingness to acknowledge past injustice there is still a tendency to look more at the current and likely future emissions

picture and demand action on that basis. There is also an underlying fear, as expressed above by the CBI, that making emissions reduction commitments in the absence of commitments by larger developing countries will hurt competitiveness. While not yet fully expressed, the focus will probably be on creating a new deal that either augments or replaces the second commitment period of the Kyoto Protocol in order to draw-in larger developing countries to an emissions reduction framework. As the European Union representative stated at a preparatory UNFCCC meeting at the end of October 2007, in addition to industrialised countries committing to another round of emissions cuts, "It is up to emerging economies to take up further, fair and effective contributions that are quantifiable and reportable to reduce GHG emissions and the energy intensity of their economic development."

Of course the characterisation of developed and developing country positions outlined above masks differences between some countries or groups of countries. For example, in the climate talks, the Alliance of Small Island Developing States (AOSIS) is also calling on larger developing countries to start making emissions cuts. It also masks a good deal of complexity in the issues that will comprise the final deal such as technology transfer, aid for mitigation and the nature of so-called 'clean development mechanism' projects between developed and developing countries.

However, the essential point remains: the extent to which the need for justice as well as the need to address future prospects for emissions can be successfully

accommodated, while at the same time overcoming fears of losing competitiveness, is the key test for the climate talks.

For developing countries in the WTO no deal is better than a bad deal. While few if any governments would publicly advocate such a position while the talks are still theoretically 'alive', ending up with no new rules and no new commitments may well be a more palatable outcome for many than signing up to a new deal exchanging the possibility of modest agricultural reform in rich countries (that could benefit a *few* developing countries) for import tariff cuts on manufactured goods and opening up service markets (that could be harmful for *many* developing countries). In contrast, on climate change, no deal and no significant change spells catastrophe for probably hundreds of millions of poor people across the world.

Also in many (not all) rich countries the push for a new trade round and the push for ever more liberalisation tends to come from corporate lobby groups with the public largely an indifferent bystander or involved in campaigns to reign-in the liberalisation agenda. On climate, in many (not all) rich countries there is more public interest in pushing for an effective international agreement while companies play more diverse roles with some calling for effective international action, some seeking to use the talks to create new market opportunities, and some, as seems to have been the case with the Australian coal industry and the US oil industry, opposing an international deal. As a recent UN report says concerning opposition to the Kyoto Protocol, "Some industrial sectors that were unfavourable to the Protocol

managed successfully to undermine the political will to ratify it." There are significant barriers to agreeing a new phase of international greenhouse gas emissions reduction commitments, particularly one that is effective and just. As this report has shown, there is potential for disagreement due to fundamentally different perspectives over who is responsible for the problem. On the one hand, there is little if any realistic chance of tackling the problem if all the major greenhouse gas emitters, including the major developing country emitters, are not in some way committed to undertaking emissions reduction and pursuing low carbon development. On the other, there is no chance of reaching a fair outcome if the imbalance in historical responsibility for emissions and the massive inequality in per person emissions and consumption are not acknowledged and accounted for.

As in the WTO, the major barrier to creating an international agreement to tackle climate change that is fair – in other words one that treats developed and developing countries asymmetrically – is fear over 'international competitiveness'. Although this report has highlighted several reasons for pessimism, including the increasingly sensitive trading relationship between the west (US and EU) and China, there also exist reasons to be optimistic, including changing attitudes in several countries. These changes need to be reflected in the willingness of governments to take bold steps. Going into the talks with a mindset like that of George Bush senior at the Rio Earth Summit in 1992 is a recipe for deadlock and acrimony. It is also imperative that the industrialised world pursues a different strategy to the 'blame

large developing countries' approach used in the WTO.

Ultimately, playing a game of 'blame China' simply won't work. Pointing the finger at large developing countries while at the same time citizens in rich countries voraciously consume imported manufactured goods makes little negotiating sense. The responsibility to act first and do the most must lie with the industrialised world, not only because of historical emissions and unsustainable levels of resource consumption, but also because these countries hold many of the other key cards in the negotiations, such as the ability to transfer technology and financial resources to those who need it. All these cards will need to be played well if the negotiations are to have any chance of reaching a successful conclusion. And reach a successful conclusion they must, because unless the various political fears can be overcome, we face a much more frightening prospect; dangerous, irreversible, runaway climate change.

References

- IPCC. (2007). *Climate Change 2007: Mitigation*. Summary for Policymakers. Contribution of Working Group III to the Fourth Assessment Report of the Intergovernmental Panel on Climate Change.
- Remarks As Prepared for Delivery for Vice President Al Gore Kyoto Climate Change Conference December 8, 1997.
- Koch, E.I. (2004). *Al Gore's Kyoto Hypocrisy*. Newsmax.com. Wednesday, Sept. 22, 2004.
- The data set on historical emissions was taken from the World Resources Institute.
- Calculated by WDM from US Energy Information Administration.
- Hames, T. (2007). Let's stop being horrid about Heathrow. *The Times*. August 20, 2007.

**Lecturer, Deptt. of Pol. Science,
MD College, Naubatpur, Patna**

Geoeconomics in the Rise of the Super Trading Blocs and the Accent on Free Trade Regimes

Pankaj Kumar

To fully appreciate the role played by geoeconomics, we need to heed to the often missed point about the timing of the arrival of APEC, NAFTA, and even the World Trade Organization (WTO), all being created within a few years between 1989 and the early 1990s. In addition, the initial negotiations for a Free Trade Area of the Americas (FTAA) also began from the late 1980s on. The common impetus was the adoption in 1986 of the Single Europe Act (SEA) by the European Community, announcing that its 12 members (with three additional states to join later) were scheduled to build a single integrated market in 1992 (known as EC-1992). The news shocked the world. The first to feel the pinch calling for reaction was Australia, which would lose the preferential treatment for its wool and other exports to Britain as a member of the British Commonwealth, following EC-1992. Prime Minister Bob Hawke saw the signs on the walls and heralded the idea of a reactive regional banding together as a protective measure. When promptly responded to by the United States and other nations across the Pacific, the idea materialized into the Asia Pacific Economic Cooperation (APEC) forum, which was established in 1989 with an initial 12 members, eventually growing to 21.

In 1994, or two years after EC-1992, the United States joined hands with Canada and Mexico to form the NAFTA as a means to fend off the challenge

posed by a single-market integrated Europe. In the same year (1986) as the SEA was adopted by the European Community, the United States initiated the Uruguay Round of the GATT to examine the future of the governance of global commerce in the face of mounting pressures for regionalism, especially the acceleration of the movement toward European integration. The final decision to establish a new World Trade Organization appears, in retrospect, to have been a U.S. success in making a multilateral system, encompassing the integrated Europe, as the cornerstone of the international trade regime. But, if Washington was hoping that the WTO regime, in addition to the NAFTA, would be adequate to keep European regionalism in check, it was soon to be disappointed when the Europeans began to link up with Pacific Asian nations in a move that literally linked their two super trading blocs together, threatening the U.S.-led North American regional trade bloc.

In 1994, the same year that NAFTA was launched, the EU adopted a resolution on “Towards a New Strategy for Asia,” which was published by the European Commission. It stressed the importance of modernizing EU’s relationship with Asia. In November, Singapore and France proposed that an EU-Asia summit meeting be held, to consider how to build a new partnership between the two regions. As a result, EU’s 15 members and ten Asian states met in Bangkok in March 1996, for the first ASEM Summit. The goal was to build a “strong partnership” in trade and investment. The summit was the first step to more ambitious joint undertakings, including the establishment of more institutions, such as the Asian–Europe Environmental Technology Center in Thailand, and the Asia–Europe Foundation in Singapore. Other measures include an Asia–Europe university program and links integrating a trans-Asian railway network with the trans-European railway network.

The cooperation between the two supertrading blocs is significant for theory in a number of ways. First, it confirms a collectivist proclivity, including a reliance on institutions—at least those of the most

successful economies. Second, it was an obvious snub to the United States, as the meeting's "mutual respect" motto turned out to mean noninterference in the internal affairs of other countries, a veiled criticism of the U.S. policy of making trade with Asian countries dependent on progress in combating child labor, improving worker-safety conditions, and allowing the formation of labor unions. Third, the combined total GDP of ASEM members—consisting of EU-15 and Asia-10⁶—is 55% (30% + 25%) of the world's total, as compared with NAFTA's 34%. This conforms to the traditional balance of power rules deducible from state practices since Westphalia, in which the second largest and the smallest would align against the largest in a group of three actors or blocs. But, in terms of trade as a share of global trade, the combined 48% share from combining EU-15's 23% and Asian-10's 25% of the total world trade is bigger than NAFTA's 13%. Hence, when measured by GDP, the ASEM is an alliance between the largest (Asian-10) and the second largest (EU-15) against the smallest (13%) component of the group of three.

The ASEM Summit has since developed into a biennial event, alternating between a meeting site in Europe and Asia, supplemented by more frequent ministerial meetings and regular meetings of senior officials. At the ASEM Summit-5 meeting in Hanoi (2004), the participants had expanded to 39, including EU's 25 members, plus the European Commission,

and 13 Asian states. In 2006, at its meeting in Helsinki, ASEM Summit-6 already had 45 participants. ASEM's "partnership building" goal was not just rhetoric. During the Asian financial crisis of 1997–1999, for instance, ASEM established the Asian Financial Crisis Response Trust Fund, to replace the failed AMF (Asian Monetary Fund) proposed initially by the International Monetary Fund, but collapsed after the United States balked at lending a hand. The Trust Fund provided technical advice and training on financial sector and policy reforms, making a positive contribution to the speedy recovery of the region from the crisis.

In view of the developments surrounding the growth of the ASEM and the U.S. attempt to build a cross-Atlantic economic partnership by creating a Trans-Atlantic Economic Council we can draw a number of lessons bearing on balance of power in the geoeconomic age.

First, unlike in all previous centuries since Westphalia, balance of power in the age of geoeconomics is not a zero sum game. Hence, the ASEM alignment, drawing European Union and Pacific Asian countries into a mammoth economic community, does not rule out the possibility of a cross-Atlantic economic entity featuring cooperation between the U.S.-led NAFTA and the European single market.

Secondly, in this geoeconomic game, both Europe and the U.S.-

led NAFTA are competing for a close partnership with the Asian region for the same reason, namely: the latter's success in rapid and sustained growth. In 2000, EU identified Pacific Asia (East and Southeast Asia) as the growth engine of the world and hence the center of EU's policy toward Asia. For its part, the United States placed before the APEC at its 2006 annual meeting in Hanoi a proposal to build a cross-Pacific super free trade area extending from China to Chile. If materialized, this move and the concomitant U.S. endeavour to fashion a cross-Atlantic economic zone would give Washington an added advantage over all competing trading partners and blocs. For the United States would be the only country that is a member—hence has unimpeded access and influence—in all the three regional super trading blocs (NAFTA, Europe, and Asia) by dint of the two cross-regional linkups.

Thirdly, with its sustained, strong economic showing, China plays a special role in the global geoeconomic game, as witnessed in two episodes. The first is the ability of China to withstand the Asian Financial Crisis of 1997–1999 and to emerge unscathed with a sturdy 9% annual growth, when all the region's other high-performance economies fell tumbling down. The second is the shelving of the U.S.-initiated cross-Pacific super free trade area, as a result of China's objection, despite the support of all the other targeted members on the Pacific Rim.

The Prospect of China's Resurgence

In addressing the resurgence of China, we need to pay equal attention to (a) its economic clout and potential, and (b) the role it will consequently play on the world stage. In this section, we will look at a few indicators why China is on its way back up.

- (a) By 2002, according to WTO data, China had already become the world's fourth largest trading nation, next to the U.S., Germany, and Japan. A report in the *New York Times* (October 18, 2003) foresaw China to emerge as the biggest trading partner with members of the Association of Southeast Asian Nations (ASEAN) in 2 years.
- (b) In 2004, China's GDP inched forward to become the world's fourth largest, following the U.S., Japan, and Germany.
- (c) According to statistics made available in 2004 by the Japanese Economic and Trade Organization (JETRO), China was Japan's largest trading partner.
- (d) China in 2005 became the world's largest consumer nation in five categories (i.e., basic foods, industrial goods, meats, steel and iron; and energy), according to data from the Earth Policy Institute, a think tank in Washington, D. C.
- (e) In 2006, China replaced Japan as the holder of the

largest foreign reserves, totalling \$1.5 trillion, over Japan's \$846 billion.

- (f) In the first half of 2006, China was the second largest exporter nation, reported the *Wall Street Journal* (April 12, 2007), citing data released by the WTO. In the same report, China was expected to surpass Germany as the largest exporter nation in 2008.

The next question is: Will China's economic growth be sustainable? If not, then China might duplicate the experience of Japan, which became an economic superpower by the 1980s only to find its economy hamstrung by a nearly two-decade recession and economic doldrums, from which Japan has yet to fully recover.

Carsten A. Holz, an economist at the Hong Kong University of Science and Technology, probably has done more than anyone else that I know, in delving into this question in search of an answer. The following is a summary of his analyses and findings.

First, relying on tools of transition economics, he looks at the diverse factors contributing to China's rapid growth:

- (a) Jettisoning of the pre-reform planning system eliminated inefficiencies;
- (b) Agricultural and industrial reforms unleashed incentives and thereby caused an immediate increase in output;
- (c) Competition between enterprises, increasingly

under private management, led to cost-cutting and innovation.

- (d) The Chinese diaspora (overseas Chinese, plus those from Taiwan and Hong Kong, etc.) helped with management techniques, finance, and knowledge of foreign markets.

For analyzing China's future economic growth, Holz employs a different set of tools, from development economics. He examines the shifts of labor from agriculture to industry and services. In this regard, China shows a different pattern, and thus potential, from other Asian economies. In South Korea and Taiwan, for example, the agricultural share in the total employment showed drastic declines: from 63% (1963) down to 9% (2003) in one case; and from 46% (1965) down to 7% (2003), in the other case. China, however, does not have a similar labor-supply problem as its growing industrial and service sectors demand an ever expanding labor force. In China, agriculture accounted for 71% of employment in 1978, and 49% in 2003. In other words, in 24 years, there was a 22% shift of labor, hence less than 1% per year. Calculated on the basis of an average 1% shifting of labor out of agriculture every year, China is looking forward to another 40 years of agricultural change, or a steady labor supply to the growing industrial needs in that duration.

This matters, because productivity in industry is seven

times larger than in agriculture, and three to four times larger in the service sector. At 1% of the labor force moving out of agriculture every year, he continues, this shift alone signifies an approximately 4% to 5% GDP growth a year. Structural change, as such, will remain a major source of China's economic growth in the next two to three decades.

In short, unless the 1% shift of labor from agriculture to industry and services encounters insurmountable obstacles, and barring other unforeseen circumstances, the answer to whether China's growth is sustainable is positively in the affirmative.

China's Bandwagoning, and Changing Debates on the China Threat Issue

At the turn of the century, after its robust economy had withstood the Asian Financial Crisis of 1997–1999 unscathed, while all other economies in the region were tumbling down, China became the envy, and fear, of many in the West. More scary were forecasts by respectable pundits that China was poised to catch up with the United States economically by 2005 and militarily by mid-century. Hence, the cries of the “China threat” took off relentlessly.

Following the same cue, scholarly warnings of an emerging Chinese hegemony swarmed the literature, to an extent unmatched since the erstwhile warnings of the Soviet threat during the Cold War.

The best known, and most blunt, example was probably the mega opus by John Mearsheimer at the University of Chicago. Writing in the *Foreign Affairs*, Mearsheimer called for reversal of America's engagement policy, and suggested that U.S. interests would be best served by keeping China down and encouraging Japan to build up its military capability, to help cope with the China threat.

If Mearsheimer was speaking for the mainstream realist international-relations (IR) scholars at the time, there, however, has been an unforeseen change in the intellectual climate. To wit, there has been a discernible shift away from the realist paradigm, a shift that can in part be traced to the fact that Chinese international behaviour has been perceived as at variance with what most realists divined. Kenneth Waltz, arguably the best known spokesman for the realist school since Hans Morgethau, for example, had predicted that secondary states such as China, Japan, and Russia would seek to balance U.S. power in the post-Cold War era. His view was shared by other realists including Christopher Layne. It certainly jived with Mearsheimer's thinking that a rising China would seek dominance at the expense of the United States, the world's prevailing hegemon.

However, from observing that China has not tried to balance the United States but is instead bandwagoning—such as playing a supporting role in brokering the six-nation talks on the

denuclearization of the Korean Peninsula, and cooperating on the anti-Terrorism fight after 9/11—Peter, at the Australian National University, for one, speculates that the stiff hierarchy in the present system may provide an answer why the realist view is not borne out empirically. Following the same vein, David (Dartmouth College) also raises a question as to why Thailand and other Asian secondary states are not balancing China in the region in “the same way that the United States balanced the Soviet Union.” Extrapolating from his earlier studies of six centuries of East Asian international relations, Kang finds bandwagoning, not balancing, to be the typical behaviour of secondary states in a steep hierarchy.

The return of scholarly interest in hierarchy, which David Lake (UC-San Diego) calls “one of the dead horses” in IR literature, calls into question the adequacy of the realist paradigm, which is purely based on the premise of anarchy (i.e., lack of a supranational authority over the states). Picking up the theme of hierarchy as a structure of international relations, Lake develops a derivative point regarding the importance of (moral) authority in the conduct of hegemonic foreign policy, if the United States is going to lead. Applying this framework to future East–West relations, he sees that conflict with rising powers, especially China, is not “foredoomed.” By building authority, rather than relying purely on brute power, he explains, the

United States will have enough followings in the world, when it has to face a future Chinese superpower. The U.S., he adds, “might even succeed in locking China into an American-dominated international order.”

Similarly tweaked by a curiosity about the prospect of a rising China, many other scholars also began to do some rethinking about IR theory. For example, Jacek (Claremont Graduate University) who collaborated with the late Alfred Organski in developing the “power transition” theory, steps forward to fine-tune, or clarify, the theory itself. According to the original “power transition” theory, as is generally understood by most IR students, war is most likely when power is roughly equal. Kugler is now emphasizing what has been said only in find print, but often overlooked, in the theory as it was formulated on the basis of historical examples, namely: that “such a war is likely *only* when the parties fundamentally disagree about the status quo.” Thus, an advice he offered is that the United States should focus on Asia far more than on the Global War on Terror. “The path to international peace,” he stressed, “can be ensured if action is taken to enhance satisfaction by China and other growing giants in Asia”.

Another challenge to the realist reflex on the China threat is from Richard, an IPE expert at Harvard, who weighs in by calling attention to the transformation of the Westphalian system as a result of the post-Cold War economic globalization. Thanks to

globalization, China will enter a world market in which “many of the spoils have already been appropriated”. In the world of 1914, he adds, great powers (i.e., Britain, France, Germany, etc.) were not dependent upon the commercial ties forged among them. Those ties could be replaced by other suppliers and markets. Foreign direct investments (FDI) did not flow between the major powers, but from the metropole to the colonies, even then in small amounts.

In the world of the 21st century, however, Chinese industries, although growing rapidly, may often be subsidiaries (or joint-venture partners) of major world corporations located elsewhere, he points out. In the age of what Rosecrance calls “vulnerability interdependence,” not even the United States can boast of having attained unipolarity of economies, despite its overwhelming military might. For the Chinese, it means their country will be studded with foreign firms—including U.S., Japanese, European firms—contributing the needed technology for its development. Hence, it is unlikely that China will be so insane as to seek self-destruction by trying to destroy the existing system.

References

1. Binnendijk, Hans, with Alan Hanikson. 1999. Back to Bipolarity, Strategic Forum, No. 161 (May). Washington, E.C.: Institute for National Strategic Studies (INSS), National Defense University.
2. Chen, Po-chih. 2000. Analysis of the state of Japan–China trade relations. *Mainland China Studies (Taipei)*.

3. China Institute. 1956. *China and the United Nations*. New York: Manhattan.
4. Frank, Andre Gunder. 1998. *ReOrient: Global economy in the Asian age*. Berkeley, CA: University of California Press.
5. Gray, Colin S. 1977. *The geopolitics of the nuclear era*. New York: Crane, Rusak.
6. Daalder, Ivo H. 2001. Are the United States and Europe heading for a divorce. *International Affairs*.
7. Feng, Yu-lan. 1968 (reprint). *Zhongguo zhexue shi [History of Chinese Philosophy]*. Kowloon: The Pacific Books.
8. Gilpin, Robert. 1981. *War & change in world politics*. Cambridge: Cambridge University Press.
9. Gilpin, Robert. 2000. *The challenge of capitalism: The world economy in the 21st century*. Princeton, N.J.: Princeton University Press.
10. Holz, Carsten A. 2006. Why China’s rise is sustainable. *Far Eastern Economic Review*.
11. Hsiung, James C. ed. 1993. *Asia Pacific in the New World Politics*. Boulder, CO: Lynne Rienner.
12. Hsiung, James C. 1997. *Anarchy and order: The interplay of politics and law in international relations*. Boulder, CO: Lynne Rienner.
13. Hsiung, James C. ed. 2001. *Twenty-first century world order and the Asia Pacific*. New York: Palgrave-Macmillan.
14. Hsiung, James C. 2002. Pacific Asia in the Twenty-First Century World Order: What China Threat? *Asian Affairs: an American Review*.
15. Hsiung, James C. 2008. “The Changing Intellectual and Political Climate in the China Debate and the Future of International-Relations Theory,” *American Foreign Policy Interests* (published by the National Committee on American Foreign Policy).
16. Hunter, Robert E. 1992. The United States in the new era. In *U.S. Foreign Policy after the cold war*, ed. Brad Roberts, 3–18. Cambridge, MS: MIT.
17. Kagan, Robert. 2003. *Of paradise and power: America and Europe in the new world order*. New York: Knopf.

Baghee (Begusarai)

The Gender Debate: An International Relations Perspective

Dr. Arun Kumar Singh and Sri Gautam Kumar

The theoretical traditions International Relations focuses on the classical issues: war and peace, cooperation and conflict, wealth and poverty. After the Cold war, a number of issues came to the fore which demand attention such as gender issue. These issues were evident earlier, but for several reasons they stand higher on the agenda today. These issues are merely additional items on the already crowded agenda or they signal a more profound transformation of International Relations.

Gender issues have received increasing attention in many areas of the social sciences in recent decades. The starting point for introducing gender to IR is often the debate about basic inequalities between men and women and the consequences of such inequalities for world politics. For example, women own about one percent of the world's property, make up less than five percent of the heads of state and cabinet ministers, put in about sixty percent of all working hours but they only take home ten percent of all income and also account for sixty percent of all illiterates and about eighty percent of all refugees. Not only this, the gendered dichotomies of culture-nature, subject-object, exploiter--exploited, agency-passivity and leader-follower are reproduced in the process and justification of exploiting human mothers and mother nature continues.

Core concepts- of IR, such as violent conflict, security, power and sovereignty would have to be

redefined. For example, violent conflict is not only international, it must include both domestic violence against women, and structural violence against women i.e., the oppression and hardship that women suffer from political and economic structures that subject them to unequal positions. Such aspects of violence demand a concept of security that is radically different from the traditional concepts. New theories will be needed that challenge gender hierarchies and the question of women's right and status at the constitutive core. The gender issue will further broaden the tradition of social theory concerning with the studies of social power and human emancipation. A new look at the issue will make the world a happy place to live in.

Gender is social positioning of females where males are supposed to have privileged view of power. A gender sensitive focus on world politics seeks to bring such gender inequalities into open, to empirically demonstrate the subordinate positions of women and to explain how the working of the international political and economic system reproduces an underprivileged position of women. Much work by men are noticed and work of women are invisible and unpaid. Few studies suggest that economic development policies of structural adjustment adopted by the IMF and the World Bank and changes in the international division of labour contribute to an increased "feminization of poverty". *Underpaid, difficult work load, sex tourism and migrant domestic labour* are examples of how developments in the international economy involve the exploitation of women. Different forms of gender inequality and discrimination can be found in advanced industrial societies even after many decades of high *rates of participation of women in the workforce*. Even the realist idea of *security* based on the military defence of states in an international anarchy is a masculinist way of thinking which conceals the continued existence of a gender hierarchy in world politics.

Feminist IR scholars argue that war and peace, conflict and cooperation are gendered activities, and they believe that a research focus which reveals that fact will provide fresh insights. On the other hand, the military and indeed most activities connected with war and conflict and the conduct of foreign policy are conducted by men and take place in a universe

dominated by male values. However, women do play crucial roles in many activities related to war and conflict, and feminist IR scholars show them women as diplomat wives as workers for defense contractors, as prostitutes, as civilian victims of wars, and particularly as refugees. In other words, war is a gendered activity with specific, frequently subordinate positions for women. Yet the dominant ideology sees men as “Just Warriors” and women as “Beautiful Souls” who are being protected. Feminists’ scholars argue that this ideology keeps women and men from questioning the essential purpose and the negative effects of war, militarization, and violence on their own and other’s lives. Gender inequality is in itself a source of conflict in areas like rate of population growth, literacy, fertility, poverty, education and others leading to incremental injustice.

The discipline of IR developed around men during the early 20th century and women role was not taken into account in areas as peace movements; international cooperation, and diplomacy and conflict resolvers. All this has brought to the question of theoretically understanding the problem of women. These may be Feminism, Marxian feminism and Radical feminism. The first deals with the idea of women equal rights, justice, freedom, liberty, property, education, equal opportunity and power sharing. The second level of feminist view addresses the women’s problem of inferiority in economic, social and political structure of the capitalist system. Marxists/Socialists

feminism focuses on the ways in which capitalism and patriarchy places women in an underprivileged position. This focus can be connected with IPE theory inspired by Marxism and from the analysis of economic exploitation based on class it is relatively easy to include gender in the inquiry. Radical feminism want to develop a more genuine and independent feminist analysis that can entirely avoid subordinating gender to traditional IR agendas. It rejects any cooperation among the various gender related thinking.

However, gender analysis and feminism came late in international relations and subsequent women’s experiences of and ideas about world politics were rarely admitted to the discipline. This led to the muted understanding of the issues of women in international politics. As time went by the asking, of the question “Where are the women?” began the process of making women visible in the world affairs. It is this position that making the women visible started revealing gender relations as power relations make their point strong, feminism claims that women’s experiences are systematically different from men’s and that all social relations are gendered.

The actual position of women in the present day world can be assessed by the statistically data and information provided by the international Labour Organization. Of the 192 countries of the world, only 12 have female head of the state. Seventy percent of the world’s 1.3 billion poor those who are living on, the equivalent of less than US dollar 1 per day - are women. It is also found that

women spend twice as much time a men or more time on unpaid work. In fact, worldwide, women on average earn two-thirds of what men earn and women make up the majority of the world’s part time workers between 60 percent and 90 percent. In the European Union, 83 percent of part time workers are women. In countries such as Australia, Canada, Thailand and the United States, over 30 percent of all business are now owned or operated by women, with Thailand topping the list at almost 40 percent. In some countries of sub-Saharan Africa, most of the female force is in the informal economy, for example, 97 percent in Benin, 95 percent in Chad, 85 percent in Guinea, and 83 percent in Kenya, in Europe, women are the heads of household in nine out of ten single-parent families.

The idea of Feminism is not restricted to Western states Contemporary feminisms are diverse in their understandings of the difference gender makes, and how to stop this difference from counting against women. Since the early 1980s, the issue of differences between women has become visible in feminist politics. Women’s right are not being progressively achieved. Today there is a global-wide backlash against women’s rights. According to World March of Women. 2000, women possess roughly 1 percent of the land in the world. Today only six countries can boast the following: close to complete sexual equality in the area of secondary education, 30 percent representation of women in elected government positions, roughly 50 percent of non-

agricultural jobs occupied by women. In nearly 100 years, only 24 women have been elected as head of state. Around 80 percent of the 27 million refugees around the planet are women. Two-thirds of the 300 million children who have an access to education are girls.

Out of a most a billion people who are unable to read and write, two-thirds of them are women. Over 200,00 women die every year as a result of back street abortions. Women produce 80 percent of the food in the poorest areas of the world; in some places, this figure is as high as 95 percent. Officially, 110 million girls worldwide between the ages of 5 and 14 work, and this does not include domestic tasks.

According to Seager 2003, an estimated 150,000 women are advertised each year through marriage bureaux and catalogues as being available for international marriage. There are 250 mail-order bride companies in the USA alone. The mail sending countries are China, Indonesia, Malaysia, Philippines, Russia, South Korea, Thailand, Ukraine, Vietnam etc. and the main receiving countries are Germany, Japan, Taiwan, Thailand, and USA. The minimum estimates of women and children trafficked out of regions in 2001-02 are the following South-East 225,000, South Asia 150,000, New Independent States 100,000, Latin America/Caribbean 100,000, Eastern Europe 75,000, Africa 50,000. As such, feminist critiques, women's NGOs, and the Decade for Women helped generate 'Women in Development'. It includes very different approaches

to gender and development. Recent crises associated with intensifying globalization and restructuring impact on women in particular, generating a crisis in reproduction. The export of women is big business, and so contributes significantly through remittances to poorer states economies. The migrants and foreign workers are often scape-goated for rising unemployment and social distress.

One of the key issues to be discussed regarding gender in international relations is their position in the context of nationalism. Women are seen as the physical reproducers of the nation; they are nationalist wombs. They are also seen as social reproducers and cultural transmitters. They are also seen as 'signifiers of difference', marking the boundaries of belonging for example, in their clothing's and movements. They are also agents in or against nationalist politics in their own right. Nationalism is usually called up in gendered language. It is easier for women to mobilize in support of nationalist causes, if this cause is in their power in their state or region. They are caught up in nationalist politics in their construction as mothers of the nation and as markers of difference. Women also participate in or oppose nationalist politics and their symbolic significance in nationalism makes them vulnerable to violence, including war rape. However their role in nation building has suddenly been muted in the wake of 9/11 and the war of terror. This incident had the effect of further militarizing and masculinizing international politics.

There is a correlation between gender, peace and conflict. According to the UN Security Council Resolution 1325(2000), the member states are urged to ensure increased representation of women at all decision-making levels in national, regional and international institutions and mechanisms for the prevention, management, and resolution of conflict. It expresses its willingness to incorporate a gender perspective into peacekeeping operations, and urges the Secretary General to ensure that, where appropriate, field operations in a gender component. It also calls upon all actors involved in negotiation and agreements to adopt a gender perspective. It calls on all parties to armed conflict to take special measures to protect women and girls from gender based violence, particularly rape and other forms of sexual abuse, and all other forms of violence in situations of armed conflict. It encourages all those involved in the planning for disarmament, demobilization and reintegration to consider the different needs of female and male ex-combatants and to take into account the needs of their dependents. It invites the Secretary-General to carry out a study on the impact of armed conflict on women and girls, the role of women in peace building and gender dimensions of peace processes and conflict resolution, and further invites him to submit a report to the Security Council on the results of the study and to make this available to all the member states of the UN. It also requests the Secretary General, where appropriate, to include in his

reporting to the Security Council progress on gender mainstreaming throughout peacekeeping missions and a number of other aspects relating to women and girls.

In an important report of UN Development Fund For Women, 2000, the position and importance of women in the peacekeeping process is very evident. It says that in conflict and war women bear great responsibility for the physical, educational, and economic well-being of their families, for carrying for the wounded for maintaining the national economy. They also have been increasingly targets as weapons of war as they are raped, forced: Into marriage, abducted and attacked. However, women are not invited to the tense and delicate negotiations for peace. Indeed the culture of militarism so present during conflict tends to reinforce gender based discrimination. In spite of resistance to their participation women are developing strategies for their voices to be heard at the peace table. They form community groups and non-governmental organizations that campaign and lobby the peace process and international forums. Their strategies have been creative.

Women often take the lead in developing grassroots movements to bring about peace because the men are away fighting. In Northern Ireland issues such as child care, education, health, and micro-enterprise brought women together to cooperate in resolving shared problems. It was from here that women came to launch a powerful campaign to bring about peace and be included in the peace process. The numerous grassroots

women's organizations came together to politicize and form the Northern Ireland Women's Coalition. Sustaining peace requires commitment from people at the grassroots, it is they who must build lasting reconciliation and peace. The involvement of women in peace negotiations leads to ensuring a peace agreement that builds lasting peace at all levels.

In the era of international political economy, the position of women in the global care economy has to be looked into. The global care economy starts from recognizing the growing global demand for women's domestic and sexual services, which often see poorer, minority, or Third World women providing domestic or sexual labour in other households and countries. Apart from this, a demand for transnational feminism is also growing to look into the women's related issues. It is a sustained cross border response to globalization, especially in its negative impacts on women, taking advantage of new opportunities for women's organizing through UN and other international conferences and global communications technology. There also a need of gendering globalization which will give a more clear view of gender issues. It means applying gender lens to globalization, to reveal that women are differently positioned in relation to globalization processes and differently- impacted upon them and that women become global players in response to these gendered effects.

The gender issues as international concerns do have different reflective points and the

focus on the increasing role of women proves this. There are now different transnational women's movements, for example, for women's health and reproductive rights. Besides this, international conferences, especially women's conferences, have been very important in building transnational women's networks, and in putting women issues on the global agenda. The Beijing conference is seen by some as an example of global feminism in action, while for others it illustrates the difficulties facing women's rights struggles globally. However we see a conceptual binary position in case of gender issue at present day world. The contemporary global politics are strongly antifeminist, threaten the gain of the last two decades of gender struggle. Nevertheless, women are gaining power both in official positions and in relation to government-through social movements and NGOs. In the political structure that matters and which includes democratic systems of parliamentary nature, the gender has a voice. The political parties gain seats through proportional representation that implement goals for more critical masses of women, have higher rates of women representatives than presidential systems. Although the women do have fewer decisional access points in the political matrix. However, once in office, bureaucratic or elected, women decision-makers will respond to women's interests and needs only if committed to justice in a political party that does the same and where accountable to relevant NGOs. The tools available to women to

nudge the more resistant bureaucracies include mainstreaming strategies, begets and audits.

In any case it is not easy for women to be heard properly. Laws, public policies and decisions about how to implement public policies are deeply and historically embedded in states with their concentrated political authority. Government that affects the whole of society. Men have captured and controlled these political institutions in ways that disempowered women and muted their policy interests. In the developing world, this patriarchal state model both emerged from the indigenous practices and or was spread through colonialism.

Women and their policy matters have been marginalized as a result of historic state structures and political institutions that privilege men and their voices in the decision making process. Over the last century, women have gradually increased their participation in politics and voters, decision makers, and members of non-government organizations. Public policy agendas have widened, taking into account discrimination and gendered inequalities. Progressive policies have yet to be fully implemented, but various bureaucratic tools and NGO oversight increase the prospects for implementation and accountability.

Women are gaining ground in most nation-states, thus altering power relations between men and women. The, meager pace of change in most countries, however, may mean that our great

grandchildren will be among the first to experience a gender-balanced polity in most of the developing and developed countries.

In conclusion, it can be said that gender is a relevant, and indeed necessary, category for analysis in global politics. It is a matter of international concern and at present, globalization affects women somewhat differently from men. It also depends on women's other identities and interests. In times of intensifying globalization which affects everyone, the state is no longer either willing or able to act in support of a global response. As well, the politics of identity and, global militarism threaten had won gains, and make global politics even less amenable to feminist action. At the same time, this triad of contemporary global politics—liberal capitalism, exclusivist identities, and militarism—generate more women's activism. Growing numbers of women and women's NGOs are organizing transnationally, including in solidarity with other progressive movements and organizations. Utilizing congenial aspects of globalization, especially new communications technology, they are ensuring that gender issues are increasingly globalized.

It is now accepted that gender is an important new issue in IR. A gender focus on world politics seeks to bring inequalities between men and women into open, to demonstrate the subordinate positions of women, and to explain how the international political and economic system helps reproduce the underprivileged position of women. Radical feminists want to

an autonomous feminist discipline that addresses the gender issue in a way which avoids subordinating it under traditional analytical agendas.

They demand wholesale changes of both core concepts and theories of IR. The nature of challenge to IR posed by the gender issues depends on one's valuation of what is at stake. There is need to take less radical and more eclectic approach within the existing traditions in IR to understand gender and gender related issues.

Readings

1. Jahans, R. *The Elusive Agenda: Mainstreaming Women in Development* (London Zed, 1997).
2. Marchand, M., and Runyan, A.S. (eds) (2000), *Gender and Global Restructuring* (London, Routledge).
3. Moser, C., ANS Clarke, F (eds.) (2001). *Victims, Perpetrators or Actors? Gender, Armed Conflict and Political Violence* (London Zed Books).
4. Peterson, V.S. Runyan, A.S. (1999) *Global Gender Issues*, 2nd edn (Boulder Col. Westview Press).
5. Sen, G. and Grown, C. (1987), *Development, Crises and Alternative Visions Third World Women's Perspectives* (New York: Monthly Review Press).
6. Steans, J. (1998). *Gender and International Relations* (Cambridge, Polity press).
7. Stromquist, N.P. (ed.) *Women in the Third World: An Encyclopedia of Contemporary Issues* (New York and London: Garland Publishing, 1998).
8. Tickner, A. (2001) *Gendering World Politics* (New York: Columbia University Press).

Dr. Arun Kumar Singh
Reader, Dept. of Political
Science, Patna University
Sri Gautam Kumar
Research Scholar, Dept. of
Political Science, Patna University

Environment and Sustainable Development

Nripendra Kr. Singh, Punam Kumari

Sustainable Development

Introduction

Sustainable development is development that lasts. A specific concern is that those who enjoy the fruits of economic development today may be making future generations worse off by excessively degrading the earth's resources and polluting the earth environment. The general principle of sustainable development adopted by the world commission of environment and development (our common future 1987). That current generations should "meet their needs without comprising the ability of future generations to meet their own needs" - has become widely accepted and is strongly supported in this report.

Turning the concept of sustainability into policy raises fundamental questions about how to assess the well being of present and future generations. What should we leave to our children and grand children to maximize the chances that they will be no worse off than ourselves? The issue is the more complicated because our children to maximize the chances that they will be no worse off than ourselves? The issue is the more complicated because our children do not just inherit our pollution and resources depletion but also enjoy the fruits of our labour in the form of education, skills and knowledge (Human capital) as well as physical capital. They may also benefit from investments in natural resources – improvement in soil fertility and reform station, for example. Thus is considering what we pass on to future generations, we must take account of the full range of physical, human and natural capital that will determine their welfare and their bequests to their successors.

International choices of this kind are reflected in the discount rate used to assess investments. The

discount rate is the mechanism through which present and future cost and benefits are compared. The lower the discount rate, the more it is worth investing to day to make future gains. It is some times claimed that a lower discount rate even a zero discount rate should be used in order to give appropriate weight to the long term consequences of environmental changes. Encouraging that yield a lower net rate of return is wasteful, it implies a loss of welfare and of income the might have been devoted to environmental objectives.

Problem to be Studied

The degradation of the life support systems in the developing world is the result of many interlinked factors. Environmental degradation is basically of two kinds :- (A) A degradation of the productive capacity of the life support systems on which man depends, that is mainly land and water resource (B) Delineation that will inherit on reduce the usefulness or water, food and other produce from the ecosystems. Lands cape desertification, erosion and loss of biological diversity are examples of the first type of environment problems. Concentration and accumulation of pollutants (various waste, products, pesticides, heavy metals, etc.) in water bodies, soil and else where in the living environment are examples of the latter kind of environmental problem after the change in one part of an ecosystems will be the beginning of a process which in the long run leads to a destruction of the whole ecosystem. Removal of permanent vegetation (deforestation), for instance, will lead to a loss of biological diversity. It will also significantly influence erosion, siltation, and water balance and thus the productive capacity of large area also outside the deforested areas.

The loss of permanent vegetation and deforestation is mainly caused by the expansion of agriculture. The expansion in often be hesitated by the prevailing low land and wastes productivity in agriculture areas, which in turn is a result of in appropriate land use and unsuitable farming methods. Practicing of none culture can, for instance; impoverish the soil and lead to a reduction or export of soil organic matter. Soil and water conservation is

not practiced to the extent required and the costly irrigation systems are not properly managed (at present, as much irrigated land is seriously degraded each year as the area opened up new irrigation).

In some areas there is also a heavy use of pesticides and other chemicals that are hazardous to human health.

Currently and especially for the future one of the most alarming circumstances and a significant driving force behind the detouring change in resource use and management in the rapid growth of population. Due to increasing population pressure and other factors, people are forced to move to area, unsuitable for the kind of agriculture practiced, like rain forests and semi arid areas. The pressure to migrate increases, when the existing agricultural are evaded and yields decline.

Shortcoming in the management of land and water resources of the terrestrial system will also have serious repercussions on the marine environment. About 75% of the world population lives in coastal areas. Erosion can influence the sea and coastal area. Pollution from cities industries and other land-based activities will eventually react the sea. Also economic activities by the coastal population and other will destroy mangrove forests, coral reefs and seaweed areas. Many ecologists consider the destruction of the marine coastal ecosystems as serious as the destruction of the tropical forests in the world.

Some very visible results of environments destruction are loss

of main forests and large scale desiccation of the landscape.

Hypothesis

Today there is no consistent system or integrated environment and economic accounting for countries. The four district programmes are identified are :-

- (a) Integrating environment and development at the policy, planning and management levels.
- (b) Providing an effective legal and regulating frame work.
- (c) Making effective use of economic instrument and market and over incentives and
- (d) Establishing systems for integrated and economic account.

The Study

Major Environmental Problems

Environmental pollution today poses a great threat to all the countries. The use of fossil facts has increased the emission of sulphur and nitrogen oxides and other harmful gases to the atmosphere. Acid rain, ozone and other anthropogenic gases are creating harmful effects on human health, forests, agnatic life and agriculture all over the globe. Many lakes and river suffers from cultural eutrophication and contamination from central eutrophication and contamination from industrial effluents and toxic chemical wide spread sue or pesticide is a content threat to human health and wild life more so by accumulation in the food chain fertilizer population is

also posing a threat to ground eater.

The changes in the composition of the atmosphere have been predicted to cause warning of the earth. The global average temperature is predicted to rise by 0.3 degree per decade and 1.58 to 4.5^oC by 2100 (IPCC, 1990). The global warming will being about major climate changes shifts in rain fall and monsoon pattern, sea level rising and flooding of coastal waters (IPCC, 1990, Godess and plantikof, 1992). There will be several direct and indirect effects of global change on agriculture and natural ecosystems (Parry, 1992). The depletion of stratospheric ozone layer is also a threat to human health and natural ecosystems due to increase in ultraviolet radiations (Coohill, 1991).

Biologists estimate that there are total of 3 to 50 million species on the earth. Due to change in environment more and more species of plants and animals are disappearing from the earth. The maintenance of biological diversity is essential for breeding new varieties of crop plants adopted to climate change and technological requirements.

The degradation of ecosystems are occurring on an unprecedented scale due to deforestation, overgrazing on fragile range lands, due to excessive cutting of trees for fuelwood in arid region salinization and alkalization of agriculture land and faulty irrigation practices. As forests grass lands and net lands disappear, deserts grow is size. It is reported that the desertification

threatens about 30% of the land surface and are affecting the lives of millions of the people. Soil degradation is widespread and increasing in severity. By the year 2000, 15% of agricultural lands may become unproductive due to various soil degradation processes (Wood, 1990). Urbanization is already using up the high quality agricultural land and influencing the surrounding environment.

Tropical forest ecosystems constitute an important natural resource and contain about 50 to 90% of all living species (Ramakrishna 1992). These forest ecosystems sustain the local environments and have major regulatory influence on global climate. Current estimates show that 16.8 million hectares of tropical forests are being cleared per year. Destruction and degradation of tropical forest is one of the greatest threats of all times due to loss of biological diversity and contribution to global changes. In India, dense forest cover has been reduced to 11% of the total geographical area.

Determining factors

(i) *Population growth*: World population grows by nearly 90 million people every year (81 million in developing countries). To keep up with the growing population, agriculture production must show a steady growth and preferably grow faster than the population. Such a fast growth in production is not always compatible with sustainability, nor possible in low-productive areas.

(ii) *Poverty* : Poverty has increased. Many studies show that poverty leads to environmental degradation, and possibly vice versa. Poor people are often marginalized and forced to move into ecologically fragile areas. Their first priority is survival and they can not afford to plan for the future.

(iii) *National political decisions* : In many countries, government pursue policies that are detrimental to environment. Leaders states can not take tough decisions.

(iv) *Lack of knowledge and awareness* : Bad policies are some times based on good intentions but without sufficient knowledge. If people are not aware on environmental problems and their causes politicians have less incentive or pressure on them to improve the situation.

(v) *Low productivity and slow growth*: If productivity in agriculture does not rise the environmental problems will increase by more marginal land being cultivated, with slow growth in the economy and lack of alternative employment, agriculture has to employ increasing numbers of people on shrinking.

(vi) *Income distribution* : A more equal income distribution is often conducive to better environment. Sustainable agriculture production is some times not possible without a certain amount of resources or level of income.

(vii) *Urban Bias* : Increased production has to come from a real expansion in to marginal areas where agriculture with unsuitable methods leads to environmental destruction.

(viii) *Insecurity Tenure* : In Ethiopia, farmers in 1991 cut down trees planted by themselves and destroyed terraces built on their own land.

(ix) *Inappropriate Farming (Fishing) Methods*: The direct cause of environmental degradation is often the use of inappropriate farming or fishing methods. Pesticides are over used, forests are cut with destructive methods and fishermen are using dynamite.

(x) *Policies in Industrialized countries* : Economic policies technological development and power politics by the industrialized countries can have a negative impact on the environment in the developing countries.

(xi) *Strategies for sustainable developments* : Problems that challenge the human society are ecological in nature the United Nations conference on environment and Development in Rio in June, 1992 emphasized a close link between environmental problems and economic development. The concept of growth at all costs is to be replaced with sustainable development which implies equitable distribution of resources in harmony with nature.

The local environment and ecological system are to be used in a manner that satisfies current needs of options without comprising on the welfare of future generations. The "Agenda 21" is a comprehensive action plan for moving human kind into the age of sustainability.

Global change from the Green house effect, stratospheric ozone depletion and atmosphere pollution have seems inevitable. The emission of carbon dioxide and other harmful gases can be reduced by conserving energy, controlling deforestation and planting more trees. The intentional geosphere and biosphere programme has established a comprehensive programme of research to study global change.

The plant genetic resources would be needed more and more as human numbers increase, marginal land increase, world's climate change and for future breeding programmes. A major challenge is to define ways and means for the conservation and sustainable use of plant genetic rescuers. The strategies should be scientifically based, technologically, feasible, cost effective and socially acceptable.

As supplies of fossil fuel energy dwindle, conventional energy inputs will have to be reduced. It is also essential that large amounts of energy could be produced at low costs from the non-conventional sources, such as biomass, wild power and solar energy.

Afforestation of degraded lands has a wide-ranging scope of

prevent their further degradation and maintaining the ecological balance.

Protecting the ecological security of farming systems would involve maintenance of soil fertility, water conservation and sustainable use of biological diversity.

The rural societies depend on land-based economy. In our country more than 70% of rural population still depends on agriculture for their existence. The development of low input technologies will help strengthen the ecological security of rural areas.

The tasks of achieving sustainable development through difficult, yet seem to be distinctly feasible through environment friendly decentralized planning scientific evaluation of resources, clean production technologies, propagation of indigenous knowledge using locally available materials and community participation.

Suggestions

The following measures spear promising both in ecological and economic terms :-

- Cropping systems including mixed cropping, crop rotation and intercropping with nitrogen mixing grain legumes, fodder, legumes or leguminous trees or shrub allegy arming.
- Growing yield stable varieties of crops.
- Integrated pest management.
- Combining several methods of regenerating soil fertility

including combined use of mineral fertilizers and compost farm yard manure, ashes, organic wastes, green manuring etc.

- Integrating trees into farming system agro forestry.
- Water management, water harvesting and water recycling.
- To build a sustainable environment, one must learn ways and means for a better treatment of Mother Earth. For an effective in environmental, one must learn ways and means for a better treatment of Mother Earth. For an effective environmental management, education and training at all levels is must.
- Introduction of counter ploughing counter planting terracing, grass, buffer.

References

- (i) India's Environment :- Crisis and Resources, eds - J, Bandopadhyaya, and others Mstray publishers dehradun, 1985, pp 309.
- (ii) The second citizen's Report eds. A. Aggrawal and S. Narain centre of science and Environment, New Delhi, 1985, pp398.
- (iii) Marothia, P.K. 1989, Socio Economic Relations of Waste land afforestation J. of Tropical Forestry October, December 1989 Vol. 5 (iv), pp 343-49.
- (iv) A guide to Agenda 21-International Development Research centre - Issues, Debates and Canadian Initiatives 1993 IRDDRCC Books P.C. Box 9500 on KIG389. The state of Indias Environment 1984-85.
- (v) Swaminathan, M.S. 1991. Environment and Development, Current Clence 30 : pp 633-636.

The Will of the People

Dr. Rita Kumari

By 'will of the people' I mean a deliberate, emancipatory and inclusive process of collective self-determination. Like any kind of will, its exercise is voluntary and autonomous, a matter of practical freedom; like any form of collective action, it involves assembly and organization. Recent examples of the sort of popular will that I have in mind include the determination, assembled by South Africa's United Democratic Front, to overthrow an apartheid based on culture and race, or the mobilization of Haiti's Lavalas to confront an apartheid based on privilege and class. Conditioned by the specific strategic constraints that structure a particular situation, such mobilizations test the truth expressed in the old cliché, 'where there's a will there's a way'. Or, to adapt Antonio Machado's less prosaic phrase, taken up as a motto by Paulo Freire, they assume that 'there is no way, we make the way by walking it.'

To say that we make the way by walking it is to resist the power of the historical, cultural or socio-economic terrain to determine our way. It is to insist that in an emancipatory political sequence what is 'determinant in the first instance' is the will of the people to prescribe, through the terrain that confronts them, the course of their own history. It is to privilege, over the complexity of the terrain and the forms of knowledge and authority that govern behaviour 'adapted' to it, the purposeful will of the people to take and retain their place as the 'authors and actors of their own drama'.

To say that we make our way by walking it is not to pretend, however, that we invent the ground we traverse. It is not to suppose that a will creates itself and the conditions of its exercise abruptly or ex nihilo. It is not to assume that the 'real movement which abolishes the existing state of things' proceeds through empty or indeterminate space. It is not to disregard the obstacles or opportunities that characterize a particular terrain, or to deny their ability to influence

the forging of a way. Instead it is to remember, after Sartre, that obstacles appear as such in the light of a project to climb past them. It is to remember, after Marx, that we make our own history, without choosing the conditions of its making. It is to conceive of terrain and way through a dialectic which, connecting both objective and subjective forms of determination, is oriented by the primacy of the latter.

Affirmation of such relational primacy informs what might be called a 'dialectical voluntarism'. A dialectical voluntarist assumes that collective self-determination - more than an assessment of what seems feasible or appropriate - is the animating principle of political action. Dialectical voluntarists have confidence in the will of the people to the degree that they think each term through the other: 'will' in terms of assembly, deliberation and determination, and 'people' in terms of an exercise of collective volition.

The arrival of the will of the people as an actor on the political stage over the course of the eighteenth century was itself a revolutionary development, and it was experienced as such by the people themselves. To assert the rational and collective will of the people as the source of political authority and power was to reject alternative conceptions of politics premised on either the mutual exclusion of society and will (a politics determined by natural, historical or economic necessity), or the primacy of another sort of will (the will of God, of God's representative on earth, or of his semi-secular equivalent: the will of an elite entitled to govern on account of their accumulated privileges and qualifications).

If the French and Haitian revolutions of the late eighteenth century remain two of the most decisive political events of modern times it's not because they affirmed the liberal freedoms that are so easily (because unevenly) commemorated today. What was and remains revolutionary about France 1789-94 and Haiti 1791-1803 is the direct mobilization of the people to claim these universal rights and freedoms, in direct confrontation with the most powerful vested interests upon Versailles, the invasion of the Tuileries, the September Massacres, the expulsion of the Girondins, the innumerable confrontations with 'enemies of the

people' up and down the country: these are the deliberate interventions that defined both the course of the French Revolution, and the immense, unending counter-revolution that it provoked. The Haitian revolutionaries went one step further and forced, for the first time, immediate and unconditional application of the principle that inspired the whole of the radical enlightenment: affirmation of the natural, inalienable rights of all human beings. The campaign to repacify the people has been running, in different ways in different places, ever since.

The events of 1789-94, and the popular mobilization that enabled them, continue to frame our most basic political choice - between empowerment or disempowerment of the will of the people. In Robespierre's France 'there are only two parties: the people and its enemies', and 'whoever is not for the people is against the people.' Despite the well-known limits of his own populism, Thomas Jefferson found a similar distinction at work in every political configuration: there are 'those who fear and distrust the people, and wish to draw all powers from them into the hands of the higher classes', and there are 'those who identify themselves with the people, have confidence in them' and consider them the 'safest depository of their own rights'. In spite of all that has changed over the past two hundred years, the alternative remains much the same: either an insistence on the primacy of popular self-determination, or a presumption that the people are too crude, barbaric or childlike to

be capable of exercising a rational and deliberate will.

Different versions of this choice have come to the fore every time there is an opportunity to confront the system of domination that structures a specific situation. The will, as Badiou notes, is an essentially 'combative' process. Haiti, Bolivia, Palestine and Ecuador are some of the places where in recent years the people have managed, in the face of considerable opposition, to formulate and to some extent impose their will to transform the situation that oppresses them. Responses to such imposition have tended to follow the Thermidorian model. The mix of old and new counter-revolutionary strategies for criminalizing, dividing, and then dissolving the will of the people - for restoring the people to their 'normal' condition as a dispersed and passive flock - is likely to define the terrain of emancipatory struggle for the foreseeable future.

In a European context, philosophical expression of a confidence in the will of the people dates back to Rousseau, and develops in different directions via Kant, Fichte, Hegel and Marx. Over the course of this trajectory the category of the people expands from the anachronistic idealization of a small homogeneous community towards an anticipation of humanity as a whole. The more it approaches a global universality the more difficult it becomes, of course, to conceive of the people in terms of a naively immediate or self-actualizing conception of will. Kant's abstract universalization makes too sharp a distinction

between determination of the will and its realization; Hegel goes too far in the other direction.

I will assume here that the most fruitful way to begin thinking a dialectical voluntarism that might eventually draw on aspects of both Kant and Hegel is to start with a return to Rousseau and his Jacobin followers, notably Robespierre and Saint-Just, supplemented by reference to more recent interventions that might be described in roughly neo-Jacobin terms. Rousseau's conception of a general will remains the single most important contribution to the logic at work in a dialectical voluntarism. Unlike Rousseau or Hegel, however, my concern here is not with a people conceived as a socially or ethically integrated unit, one that finds its natural horizon in the nation-state, so much as with the people who participate in the active willing of a general will as such. Such a will is at work in the mobilization of any emancipatory collective force - a national liberation struggle, a movement for social justice, an empowering political or economic association, and so on. 'The people' at issue here are simply those who, in any given situation, formulate, assert and sustain a fully common (and thus fully inclusive and egalitarian) interest, over and above any divisive or exclusive interest.

The gulf that separates Marxist from Jacobin conceptions of political action is obvious enough, and in the first instance a dialectical voluntarism has more to learn from the latter than the former. Nevertheless, what is most fundamental in Marx is not the 'inevitable' or involuntary process

whereby capitalism might seem to dig its own grave, but rather the way in which it prepares the ground upon which the determined diggers might appear. 'The emancipation of the working classes', stipulates the wellknown opening sentence of the rules Marx drafted for the First International, 'must be conquered by the working classes themselves'. Even Marx's most non-voluntarist work is best described as an effort to show 'how the will to change capitalism can develop into successful transformative (revolutionary) activity', or as an effort 'not only to make History but to get a grip on it, practically and theoretically'. (A similar argument, as Adrian Johnston, Tracy McNulty and several others point out, might be made in relation to Freud and Lacan.) The concentration of capital and the intensification of exploitation and misery which accompanies it lead not to the automatic collapse of capitalism but to a growth in the size, frequency and intensity of 'the revolt of the working-class'.

It is this class which, as anticipated by the Paris Communards, will carry out the deliberate work of 'expropriating the expropriators'. Once victorious, this same class will preside over the establishment of a mode of production marked above all by the predominance of autonomy, mastery and freedom. The newly 'associated producers [will] regulate their interchange with nature rationally and bring it under their common control, instead of being ruled by it as by some blind power.' They will thereby enable affirmation of

human creativity and 'energy [as] an end in itself'. Understood as the real movement which abolishes the existing state of things, communism, we might say, forces the conversion of work into will.

The optimism that characterizes such an approach is still emphatic in Gramsci (who seeks 'to put the "will", which in the last analysis equals practical or political activity, at the base of philosophy') and in the early writings of Lukacs (for whom 'decision', 'subjective will' and 'free action' have strategic precedence over the apparent 'facts' of a situation).

Comparable priorities also orient the political writings of a few more recent philosophers, like Sartre, Beauvoir and Badiou. Obvious differences aside, what these thinkers have in common is an emphasis on the practical primacy of self-determination and self-emancipation. However constrained your situation you are always free, as Sartre liked to say, 'to make something of what is made of you'.

Reference:

1. Antonio Machado, 'Proverbios y Cantares – XXIX', 1912, in Selected Poems of Antonio Machado, trans. Betty Jean Craige, Louisiana State University Press, Baton Rouge, 1978.
2. Karl Marx, *The Poverty of Philosophy* (1847), Foreign Languages Press, Beijing, 1966, p. 109; cf. Peter Hallward, 'What's the Point: First Notes Towards a Philosophy of Determination', in Rachel Moffat and Eugene de Klerk, eds, *Material Worlds*, Cambridge Scholars Publishing, Cambridge, 2007, pp. 148–58.
3. See in particular Sophie Wahnich, *La Liberte ou la mort: Essai sur la terreur et le terrorisme*, La Fabrique, Paris,

2003; Wahnich, *La Longue Patience du peuple: 1792, la naissance de la Republique*, Payot, Paris, 2008; Florence Gauthier, 'The French Revolution: Revolution and the Rights of Man and the Citizen', in Michael Haynes and Jim Wolfreys, eds, *History and Revolution: Refuting Revisionism*, Verso, London, 2007.

4. Cf. Nick Nesbitt, *Universal Emancipation: The Haitian Revolution and the Radical Enlightenment*, University of Virginia Press, Charlottesville, 2008; Peter Hallward, 'Haitian Inspiration: Notes on the Bicentenary of Independence', *Radical Philosophy* 123, January 2004, pp. 2–7.
5. Robespierre, *Oeuvres*, IX, pp. 487–8; Thomas Jefferson, letter to Henry Lee 1824, in *The Writings of Thomas Jefferson*, ed. Andrew Lipscomb and Albert Bergh, Thomas Jefferson Memorial Association, Washington DC, 1903–04.
6. 'There can be no pacified conception of the voluntary act' (Badiou, 'La Volonte: Cours d'agregation', 17 October 2002, notes taken by François Nicolas, www.entretemps.asso.fr/Badiou/02-03.2.htm); I'm grateful to Adrian Johnston for drawing my attention to these lecture notes.
7. More substantial studies which cover some of this ground include Patrick Riley, *Will and Political Legitimacy*, Harvard University Press, Cambridge MA, 1982; Patrick Riley, *The General Will before Rousseau*, Princeton University Press, Princeton NJ, 1986; Andrew Levine, *The General Will*, Cambridge University Press, Cambridge, 1993; John H. Smith, *Dialectics of the Will*, Detroit, Wayne State University Press, 2000.
8. Marx, 'Rules and Administrative Regulations of the International Workingmen's Association' (1867), in *Collected Works of Marx and Engels*, Lawrence & Wishart, London, 1975–2005.
9. Ben Fine and Alfredo Saad-Filho, *Marx's Capital*, Pluto, London, pp. 11–12; Jean-Paul Sartre, *Search for a Method*, trans. Hazel Barnes, Vintage, New York, 1968, p. 89.

Religion and Morality in the Twentieth Century

Dr. Sanjay Kumar

In the twentieth century professional philosophy divided up into two streams, sometimes called 'Analytic' and 'Continental', and there were periods during which the two schools lost contact with each other. Towards the end of the century, however, there were more philosophers who could speak the languages of both traditions. The beginning of the analytic school is sometimes located with the rejection of a neo-Hegelian idealism by G. E. Moore (1873-1958). One way to characterize the two schools is that the Continental school continued to read and be influenced by Hegel, and the Analytic school (with some exceptions) did not. Another way to make the distinction is geographical; the analytic school is located primarily in Britain, Scandinavia and N. America, and the continental school in the rest of Europe, in Latin America and in certain schools in N. America. Some figures from the Continental school are described first, after which we turn to the analytic school (which is this writer's own). Martin Heidegger (1889-1976) was initially trained as a theologian, and wrote his dissertation on what he took to be a work of Duns Scotus. He took an appointment under Edmund Husserl (1855-1938) at Freiburg, and was appointed to succeed him in his chair. Husserl's program of 'phenomenology' was to recover a sense of certainty about the world by studying in exhaustive detail the cognitive structure of appearance. Heidegger departed from Husserl in approaching Being through a focus on 'Human Being' (in German *Dasein*) as concerned above all for its fate in an alien world, or as 'anxiety' (*Angst*) towards death. In this sense he is the first existentialist, though he did not use the term. Heidegger emphasized that we are 'thrown' into a world that is not 'home', and we have a radical choice about what possibilities for ourselves we will make actual.

Heidegger drew here from Kierkegaard, and he is also similar in describing the danger of falling back into mere conventionality, what Heidegger calls 'the They' (*das Man*). On the other hand he is unlike Kierkegaard in thinking of traditional Christianity as just one more convention that authentic existence requires us to get beyond. In Heidegger, as in Nietzsche, it is hard to find a positive or constructive ethics. Heidegger's position is somewhat compromised, moreover, by his initial embrace of the Nazi party. In his later work he moved increasingly towards a kind of quasi-religious mysticism. His Romantic hatred of the modern world and his distrust of system-building led to the espousal of either silence or poetry as the best way to be open to the 'something' (sometimes he says 'the earth') which reveals itself only as 'self-secluding' or hiding itself away from our various conceptualizations. He held the hope that through poetry, and in particular the poetry of Hölderlin, we might be able to still sense something of the god who appears 'as the one who remains unknown,' who is quite different from the object of theology or piety, but who can bring us back to the Being we have long lost sight of (*Poetry, Language, Thought*, 222).

Jean-Paul Sartre (1905-80) did use the label 'existentialist', and said that 'Existentialism is nothing else than an attempt to draw all the consequences of a coherent atheist position'. He denied (like Scotus) that the moral law could be deduced from human nature, but this was because (unlike Scotus) he thought that we give ourselves our own essences by the choices we make. His slogan was, 'Existence precedes essence'. 'Essence' is here the defining property of a thing, and Sartre gave the example of a paper cutter, which is given its definition by the artisan who makes it. Sartre said that when people believed God made human beings, they could believe humans had a God-given essence; but now that we do not believe this, we have realized that humans give themselves their own essences ('First of all, man exists, turns up, appears on the scene, and, only afterwards, defines himself.' *Ibid.*, 15). On this view there are no outside commands to appeal to for legitimation, and we are condemned to our own freedom. Sartre thought of human beings as trying to be God (on a Hegelian account of what God is), even though there is no God. This is an inevitably fruitless undertaking, which he called 'anguish'. Moreover, we inevitably desire to choose

not just for ourselves, but for the world. We want, like God, to create humankind in our own image, 'If I want to marry, to have children, even if this marriage depends solely on my own circumstances or passion or wish, I am involving all humanity in monogamy and not merely myself. Therefore, I am responsible for myself and for everyone else. I am creating a certain image of man of my own choosing. In choosing myself, I choose man'. To recognize that this project does not make sense is required by honesty, and to hide this from ourselves is 'bad faith'. One form of bad faith is to pretend that there is a God who is giving us our tasks. Another is to pretend that there is a 'human nature' that is doing the same thing. To live authentically is to realize both that we create these tasks for ourselves, and that they are futile.

The twentieth century also saw, within Roman Catholicism, forms of Christian Existentialism and new adaptations of the system of Thomas Aquinas. Gabriel Marcel (1889-73), like Heidegger, was concerned with the nature of Being as it appears to human being, but he tried to show that there are experiences of love, joy, hope and faith which, as understood from *within*, give us reason to believe in an inexhaustible Presence, which is God. Jacques Maritain (1882-1973) developed a form of Thomism that retained the natural law, but regarded ethical judgment as not purely cognitive but guided by pre-conceptual affective inclinations. He took a more Hegelian view of history than traditional Thomism, allowing for development in the human

knowledge of natural law, and he defended democracy as the appropriate way for human persons to attain freedom and dignity. The notion of the value of the person and the capacities given to persons by their creator was at the center of the 'personalism' of Pope John Paul II's *The Acting Person* (1979), influenced by Max Scheler (1874-1928). Natural law theory has been taken up and modified more recently by two philosophers who write in a style closer to the analytic tradition, John Finnis (1940-) and, in a different and incompatible way, Alastair MacIntyre (1929-). Finnis holds that our knowledge of the fundamental moral truths is self-evident, and so is not deduced from human nature. His *Natural Law and Natural Rights* (1980) was a landmark in integrating the modern vocabulary and grammar of rights into the tradition of Natural Law. MacIntyre, who has been on a long journey back from Marxism to Thomism, holds that we can know what kind of life we ought to live on the basis of knowing our natural end, which he now identifies in theological terms. He is still influenced by a Hegelian historicism, and holds that the only way to settle rival knowledge claims is to see how successfully each can account for the shape taken by its rivals.

Michel Foucault (1926-84) followed Nietzsche in aspiring to uncover the 'genealogy' of various contemporary forms of thought and practice (he was concerned, for example, with sexuality and mental illness), and how relations of power and domination have produced 'discourses of truth'. In

his later work he described four different aspects of the 'practice of the self' in which we have been engaged. We select the desires, acts, and thoughts that we attend to morally. We recognize ourselves as morally bound by some particular ground, e.g., divine commands, or rationality, or human nature. We transform ourselves into ethical subjects by some set of techniques, e.g., meditation or mortification or consciousness-raising. Finally, we propose a '*telos*' or goal, the way of life or mode of being that the subject is aiming at, e.g., self-mastery, tranquility or purification. Foucault criticized Christian conventions that tend to take morality as a juristic and often universal code of laws, and to ignore the creative practice of self-making. Even if Christian and post-Christian moralists turn their attention to self-expression, he thought they tend to focus on the confession of truth about oneself, a mode of expression which is historically linked to the church and the modern psycho-sciences. Foucault preferred stressing our freedom to form ourselves as ethical subjects, and develop 'a new form of right' and a 'non-disciplinary form of power'. He did not, however, tell us much more about what these new forms would be like.

Jurgen Habermas (1929-) proposed a 'communicative ethics' that develops the Kantian element in Marxism. By analyzing the structure of communication (using speech-act theory developed in analytic philosophy) he lays out a procedure that will rationally justify norms, though he does not claim to know what norms a society will

adopt by using this procedure. The two ideas behind this procedure are that norms are valid if they receive the consent of all the affected parties in unconstrained practical communication, and if the consequences of the general observance of the norms (in terms of how each person's interests are affected) are acceptable to all.

Habermas thinks he fulfills in this way Hegel's aim of reconciling the individual and society, because the communication process extends individuals beyond their private perspectives in the process of reaching agreement. Religious convictions need to be left behind, on this scheme, because they are not universalizable in the way the procedure requires.

We are sometimes said to live now in a 'post-modern' age. This term is problematic in various ways. As used within architectural theory in the 1960's and 1970's it had a relatively clear sense. There was a recognizable style that either borrowed bits and pieces from styles of the past, or mocked the very idea (in modernist architecture) of essential functionality.

In philosophy, the term is less clearly definable. It combines a distaste for 'meta-narratives' and a rejection of any form of foundationalism. The effect on philosophical thinking about the relation between morality and religion is two-fold. On the one hand, the modernist rejection of religion on the basis of a foundationalist empiricism is itself rejected. This makes the current climate more hospitable to religious language than it was for

most of the twentieth century. But on the other hand, the distaste for over-arching theory means that religious meta-narratives are suspect to the same degree as any other, and the hospitality is more likely to be towards bits and pieces of traditional theology than to any theological system as a whole.

We conclude this section with some movements that are not philosophical in a professional sense, but are important in understanding the relation between morality and religion. Liberation theology, of which a leading spokesman from Latin America is Gustavo Gutierrez (1928-), has attempted to reconcile the Christian gospel with a commitment (influenced by Marxist categories) to revolution to relieve the condition of the oppressed.

The civil rights movement (drawing heavily on *Exodus*), feminist ethics, animal liberation, environmental ethics, and the gay rights and children's rights movements have shown special sensitivity to the moral status of some particular oppressed class. The leadership of some of these movements has been religiously committed, while the leadership of others has not.

At the same time, the notion of human rights, or justified claims by *every* human being, has grown in global reach, partly through the various instrumentalities of the United Nations. There has, however, been less consensus on the question of how to *justify* human rights. There are theological justifications, deriving from the image of God in every human being, or the command to love the

neighbor, or the covenant between God and humanity. Whether there is a non-theological justification is not yet clear. Finally, there has also been a burst of activity in professional ethics, such as medical ethics, engineering ethics, and business ethics. This has not been associated with any one school of philosophy rather than another. The connection of religion with these developments has been variable. In some cases (e.g., medical ethics) the initial impetus for the new sub-discipline was strongly influenced by theology, and in other cases not.

References

- Adams, R. M., 1999, *Finite and Infinite Goods*, Oxford: Oxford University Press.
- Anselm, *S. Anselmi Cantuariensis Archiepiscopi Opera Omnia*, Franciscus Salesius, Stuttgart-Bad Cannstatt: Friedrich Fromann Verlag, 1968.
- Aquinas, T., *Summa Theologiae*, English Dominicans (trans.), London: Burns, Oats, and Washbourne, 1912-36; repr. New York: Christian Classics, 1981.
- Aristotle, *The Complete Works of Aristotle*, Jonathan Barnes, Princeton: Princeton University Press, 1984.
- Aristotle, *Nicomachean Ethics*, Roger Crisp (trans.), Cambridge: Cambridge University Press, 2000.
- Augustine, *The City of God*, Robert Dyson, Cambridge: Cambridge University Press, 1998.
- Augustine, *Confessions*, Henry Chadwick (trans.), Oxford: Oxford University Press, 1991.
- Austin, J., 1965, *How to Do Things With Words*, Oxford: Oxford University Press.
- Ayer, A. J., 1936, *Language, Truth and Logic*, London: Gollancz.
- Bourke, V. J., 1968, *History of Ethics*, Garden City, NY: Doubleday.
- Carson, T. L., 2000, *Value and the Good Life*, Notre Dame: Notre Dame Press.

**PNB, Jawaharlal Road,
Muzaffarpur**

Sources of Revenue Under Firoz Shah Tughluq

Moon Arif Rahman

Ph.D. UGC-NET

Muhammad bin Tughluq had no male issue, he was succeeded by his cousin Firoz Shah Tughluq who enjoyed a long reign of thirty-seven years (1351-88). He inherited a truncated empire, infested with widespread revolts and disorder. The civil services had been crippled and the royal treasury was empty, there was near bankruptcy of the state. He handled the situation very tactfully and initiated a state policy on a conciliatory note. The leit-motif of Firoz Shah's administration was religious. It was his earnest desire to conduct the government of the realm in accordance with the principle of Shariat. Futuhat-i-Firoz Shahi which is the best guide to the working of the mind of Firoz Shah bears ample testimony to his religious zeal.

Firoz Shah took keen interest in the revenue establishment though he was not an expert in financial affairs by any means. He thoroughly revised the fiscal policy of his predecessors with the twin objects of ensuring adequate state revenues and reducing the burden on the tax payers. Shams Siraj Afif narrates that 2 crore of rupees or 20 million tankas were given by Sultan Muhammad bin Tughluq by way of Sondhar for the purpose of restoring land, villages and quarters which had fallen into ruin during the famine. He agrees that none of the money was recovered by the treasury after Sultan Muhammad's death, being entirely written off by his successor Firoz.

In the sphere of taxation, Firoz Shah abolished all taxes that were not permitted by the Shariat. He imparted a theocratic tinge to the taxation policy by abolishing as many as twenty three cesses, including the unpopular grazing and the housing taxes. Firoz Tughluq not only abandoned the grand project of his predecessor, but sought to give some fiscal concessions. He abolished agrarian cesses (muhaddisat,

qismat) (Muhammad Tughluq's abwab?). Sirat-i-Firoz Shahi, Futuhat-i-Firoz Shahi and Tabqat-i-Akbari gives somewhat similar lists of the taxes that were so abolished. A few not mentioned in the above books are given by Afif and Ainul-Mulk Mahru. According to the sanction of the Islamic law, only four taxes were retained; these were Kharaj; Zakat, Jezia and Khams. Two points demands enquiry, firstly as to when the abolition was affected and secondly how far it was effective. Mahru says that certain taxes were abolished by Muhammad bin Tughluq and the abolition was endorsed by Firoz. Afif gives the date of the abolition as 777, after a deep change had come over Firoz and he had got himself shaved. We cannot arrive at any definite conclusion though we may just hazard the conclusion that the abolition may have been in 772 and 777. A cryptic reference in Barni suggest that the policy may have been initiated in the early years of the reign. My personal opinion is that the taxes were abolished early in the reign to reconcile public opinion and restore confidence among people.

There is not much to help us to determine how far the abolition was effective. Most of the abolished taxes are urban and it is probably that their abolition would have been effective in provincial capitals. In other terms it would have been a mixed success.

Kharaj

It occurs in Futuhat as Kharaj Araaz Ushur and Dr. I.H. Qureshi has rendered it as the Kharaj from tithes – Paying lands. It has to be kept in mind that Firoz Shah is here enumerating the Shari taxes of which Kharaj and Ushur are distinct units. Ainul - Mulk also speaks of Kharaj and Ushur as alternatives. Now Kharaj is the revenue – demand levied by the State from the peasants directly or through the muqaddams and the rais. The demand was settled by “the rule of the Produce” according to Barni. According to Afif, however, as interpreted by Moreland it was settled by the rule of inspection.

The sultan deputed Khwaja Hisamuddin Junaid to prepare a rough estimate of the public revenues of the state. Khawaja toured the territories of the realm for 6 years, accompanied by a large body of the staff and settled the demand. After examining the revenue

records of the various provinces, assessed the revenue expected from the Khalsa lands (under the direct administrative control of the state) at six crore and eighty five lakh tankas. Firoz forbade the officials to trouble his subjects with extra demands (Muhaddas) and enforcement of demand in case of crop failure (Nabudha) and the like. His revenue officials were under strict instruction not to make demands 'in excess of the regular government dues' and those found guilty of any such exaction had to make 'full reparation'. Firoz Tughluq's motto was :-

"Better a People's weal than treasures vast,

Better an empty chest than hearts downcast".

The rate of Kharaj – 'the land revenue' was considerably lowered and brought to one tenth of the estimated produce to the great relief of the agriculturists.

Ushur

No records exists to show the existence of Ushur or tithe – paying land in India at this period. Mention of Ushur occurs, however, in Futuhat, Afif and Munshat-i-Mahru. Firoz Shah may have referred to it, like Aurangzeb, Simply because it was so important an item of Islamic fiscal system even though it had no practical application in India. Afif's reference suggest that Ushur was some urban or Octroi impost, though the possibility remains that there were tithe – paying lands in the vicinity of Delhi. Ainul -Mulk simply says, "the Wazifa land is either Kharaj – paying or tithe – paying".

Zakat (alms)

A religious tax payable by the Muslim in Islamic state. The context in which it is mentioned in Futuhat and Sirat would lead one to believe that it was the Zakat of Muslim law, i.e. 1/40 of the income which every Muslim has to part with annually. But actually by this time Zakat has already assumed an entirely different import. It had come to mean the import and octroi duties and it is always in this sense that this term is used in contemporary and later literature.

Afif says that goods of merchants were brought to the sarai adl and Zakat was levied there on them. At another place Afif speaks of the Zakat of the City which obviously means the octroi duties of Delhi.

Jezia-i-hunud

By Jezia here is obviously meant the tax taken from non-muslims or Zimmis. It was a Islamic Poll tax on Non-Muslims. Before this time the land tax was indifferently called Jezia or Kharaj-Jiziya; and it seems that no separate tax under the name of Jezia was levied in addition to the land tax. But from Firoz Shah's time a document comes down to us, distinctly showing that the Jiziya was now levied upon the peasantry as a separate tax. In order to show his religious zeal, the sultan extended the scope of the Jezia by levying it on the Brahmans also who had previously been exempt from this tax. In his Memoirs, the Futuhat-i-Firuz shahi, he takes pride for such mearures of religious suppression. It is interesting to consider whether Jezia here was simply replacing

ghari. Since the women and minors were exempted from Jezia, it too was really a tax on (heads of) houses.

The authorities of Firoz's reign, however, differ as to the mode of its collection. But the differences are adjustable. Afif speaks of it as poll tax and says that there were three grades of Jezia in Delhi – 40, 20 and 10 tankas per head. It is, however, Just possible that Jezia was levied as a poll tax only in Delhi or urban areas. For Barni speaks of Jezia (as well as Kharaj) being levied according to "the rule of produce" thus giving it the character of a tax on produce and not per capital. This is partially corroborated by Ainul Mulk. It can therefore be inferred with considerable probability that Jezia was levied as a poll tax in the urban areas and on produce (Hukm-i-Hasil) in the rural areas.

Tarakat

Tarakat means the property left by a person without any heir and without any will to determine its distribution. Such property was attached by the state. But as Aghnides remarks, it is "a source of negligible importance."

The case of the riches left by Imadul-Mulk Bashir may be noted here, although it does not come under this heading for he left a son. He left thirteen crores of hard cash after him. Firoz took 9 crores out of this to himself, saying "what is Bashir's is mine." The argument, however, had no legal force.

Khams-i-ghanaim

It is the fifth of the spoils. The earlier sultans of Delhi, Particularly Alauddin Khalji, used to acquire

from the soldiers four-fifth of the booty, obtained during the war, as khams, but Firoz following strictly the Islamic conjunctions, reversed the ratio and wanted his soldiers to pay only one-fifth of such spoils to the state exchequer. Thus Firoz restored the shari proportion. It is important to note that very few wars were waged in the reign of Firoz. The two expeditions to Lakhnauti ended in compromise. The Thatta campaign brought tremendous loss and suffering. The Jainagar hunting expedition would not have brought much booty as Firoz lost his way on return march.

Khams-i-maadin

It is the state's share of the mines. The word Khams (1/5th) is probably attached to Maadin as well as spoils, for according to the Hanafites the mines are to be treated as spoils and the state's share of both is one-fifth.

Mines, however, find mention only in Futuhāt, Sirat does not include it in the list of legal taxes. Sirat on the other hand, has 'Luqtat' which is not mentioned by Futuhāt. Luqtat may be a plural of luqta which means any-thing that is picked up from the street. In any case it would not have been an important source of income. Luqtat is not mentioned by Aghnides.

The above taxes which are permitted by the Shariat and which according to Firoz's claim in Futuhāt, were the only sources of state's income. Presents, which were a considerable source of income in previous reigns, lost that character. For the value of presents brought or sent annually by the Governors was deducted from the

demand of the revenue ministry against them.

Haqq-i-shirb or 'water – perquisite'

Technically this need not be discussed here, for the income under this head did not occur to the state coffers but was given over to the privy purse of Firoz. Firoz introduced, with the approval of the theologians, an irrigation tax at ten per cent of the produce of the lands which were irrigated by the state constructed canals.

The areas where it was imposed was practically confined to Haryana. Firoz constructed four or five canals which irrigated a large tract of land in the vicinity of Delhi including Hissar (modern Haryana). New agricultural settlements sprang up along the banks of these canals. There is no reference as to what this 10% constituted. Dr. I.H. Qureshi's conjecture, that the 10% was levied on the gross produce and the remainder distributed between the state and the peasant is the only sound interpretation. Even the 10% was levied on the gross produce, the state and the peasants would yet be not losers.

A disputed point in the fiscal system of Firoz is Mahsul-i-Muamlati. Moreland treats it as a tax and syas that he did not find any parallel passage to indicate its meaning. I.H. Qureshi also says that the phrase is unique in Barni's writings. Muamlat occurs quite frequently in Affi and Barni. A comparison of the various contexts would give its meaning as demand, Kharaj. Its dictionary meaning also is Kharaj, tax.

Firoz is said to have laid out 1200 state – managed fruit gardens in the neighbourhood of the capital. Their produce was sold in the open market; it brought substantial income to the exchequer. Firoz also helped in the extension and promotion of the internal trade and commerce by abolishing vexatious taxes and reducing the octroi duties. All these measures benefited the country immensely; agricultural production increased, trade and commerce was revived and the countryside rehabilitated. It warded off the famines and ushered in an era of peace and prosperity. Afif, though a Panegyrist of the sultan, writes with much truth that as a result of these regulations, the ryots grew rich and were satisfied. We have it on the testimony of Afif that :-

“Abundance of the necessities of life prevailed in the reign of Firoz Shah not only in the capital but throughout the dominions. During the whole forty years of his reign, there was no appearance of scarcity, and the times were so happy that the people of Delhi forgot the reign of Alauddin, although no more prosperous times than this (sic) had ever fallen to the lot of any Muhammadan sovereign”.

The revenues of the Doab amounted to eighty lacs of tankas and those of the territories of Delhi to six crores and eighty five lacs of tankas. The prices of the articles of common consumption also became low. Afif makes an interesting comparison between the 'plenty and cheapness' that prevailed during the reign of Alauddin Khalji and Firoz Tughluq as follows:-

“In the reign of Alauddin the necessities of life were abundant through excellent management, but through the favour of

God, grain continued cheap throughout the reign of Firoz Shah, without any effort on his part. Grain was so cheap that, in the city of Delhi, wheat was eight jitals a maund, and grain and barley four four jitals a maund. A campfollower could give his horse a feed of ten seers of corn (dalida) for one jital. Fabrics of all kinds were cheap, and silk goods, both white and coloured, were of moderate price.

Subsequent to Firoz, information about agrarian taxation becomes very scarce. It is very likely that the land tax continued to be taken from the peasants in full, although the claimant was no longer the sultan of Delhi, but either a provincial ruler or a local hereditary or semi-hereditary governor. But it does not come under the purview of this article.

References

1. Afif, 91-2 Tarikh-i-Firoz Shahi. He says the advances had been made to resettle towns and villages devastated by the famine.
2. Barni, 174 Tarikh-i-Firoz Shahi.
3. Sirat-i-Firoz Shjahi, Aligarh copy, p. 124.
4. Futuh-i-Firoz Shahi, Aligarh edn. P.6.
5. Tabaqat-i-Akbari of Khwajah Nizamuddin Bakhshi, p.240.
6. Afif, Tarikh-i-Firoz Shahi, pp. 74-79.
7. Munshat-i-Mahru of Ainul Mulk Mahru, Aligarh copy, p.97.
8. Sultan Firoz Shah Tughluq, Futuh-i-Firoz Shahi, E & D, III, p.377.
9. Barni, Tarikh-i-Firoz Shahi, p.554 "The merchant is the master of his merchandise and buys and sells as he likes and does not pay any Kharaj. The merchant earn 100 and 200 tankas daily and do not pay a single tanka as tax".
10. "This Wazifa land is either Kharaj-paying or tithe – paying", Munshat, p.77.
11. Moreland, Agrarian System of Muslim India, p.232; Afif, p.94.
12. Sirat, p. 124 Barni, 574, Muhaddas

means "taxes over and above the stipulated taxes".

13. Afif, Tarikh-i-Firoz Shahi, pp. 289-90.
14. Firoz Tughluq, Futuh-i-Firoz Shahi, E & D, III, p.377.
15. Futuh, p.6. Afif p. 449. Munshat-i-Mahru, p.77.
16. Moreland, pp.139-40, "We are given detailed rules.....which were almost irrelevant in India.....the firman stresses the distinction between tithe – land and tribute – land, but I have failed so far to find a single case of tithe-land existing in India."
17. Firoz Shah also speaks of Jezia as Zar-i-Zimma, i.e. money levied from Zimmis. Futuh, p.11.
18. In Malik, 232-3 (A.D.1315), Kharaj, Jiziya, and tax on cultivation (Wajib-i-Kisht-ba) are all used for the same tax. The anecdote is related of how a collector demanded of a Muslim mystic Jiziya for the land he tilled. For Kharaj-Jiziya see: Barni, 291, 231,

where it is plainly used in lieu simply of Kharaj.

19. Mahru, 61-3 where separate arguments are advanced for the collection of Jiziya and Kharaj from deserting peasants.
20. Sultan Firoz Shjahi Tughluq, Futuh-i-Firoz Shahi, E & D, III, Part 4, P.379.
21. Afif, Tarikh-i-Firoz Shahi pp. 268-69.
22. Barni, p.574. Moreland has translated it as "And a reduction was made in the Mahsul-i-Muamlati ..."
23. Afif, Tarikh-i-Firoz Shahi, p.344.
24. The prices of articles have been thus stated by Afif:
Wheat 1 Man 8 Jitals
Dal 10 seers 1 Jitals
Barley 1 Man 4 Jitals
Ghee 1 seer 2 ½ Jitals
Grain 1 Man 4
Jitals/sugar 1 seer 3 ½ Jitals
25. Afif, Tarikh-i-Firoz Shahi, p.345.

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय साहित्य

Devdas	150-00
विप्रदास	200.00
चरित्रहीन	200.00
पथ के दावेदार	250.00
परिणीता	100.00
लेन-देन	200.00
आखिरी परिचय	250.00
श्रीकांत	250.00
शरत्चन्द्र की श्रेष्ठ कहानियां	200.00
शरत्चन्द्र की अमर कहानियां	200.00
शेष प्रश्न	250.00
कमला	150.00
शारदा	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-
पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

Techniques of Wood Carving in Ancient India

Dr. Lalit Kishore

“The study of technology is an essential key to the understanding of a people’s culture”. This is a very significant statement made by M.J.Harskovits in his monumental work on *Man and His Works*. It cannot be denied that in man’s struggle for survival, resources and techniques are his greatest assets.

In India, the study of the technology of crafts has not been made in a systematic manner. A good deal of work has, however, been done in respect of the artistic appreciation, socio-religious significance and aesthetic appraisal of ancient, mediaeval and contemporary Indian art, architecture, sculpture, painting, etc., but so far as the technology of crafts is concerned, only a few casual references from ancient texts or some results of stray investigations on the technology of a few excavated and explored artifacts have been recorded without any fruitful analysis.

As a result, we have so long been deprived of obtaining a true picture of the technology of a good number of traditional crafts with special reference to their evolution, development or ups and downs in different epochs of Indian history. But if we carefully examine the materials at our disposal, there is some possibility of tracing out the sequences of the technology of at least some of the important age-old crafts flourishing in different periods starting from the earliest times down to the present day.

In this essay an attempt is being made to study the techno-history of wood-carving, which still play a significant role in the socio-economic life of the sub-continent. It is true that many of our craftsmen have given up their traditional occupations and have taken to petty shopkeeping, service and even professional like law and medicine, but still there are thousands of craftsmen who patiently and unobtrusively ply the trade of the fore-fathers, and produce masterpieces

of crafts specimens with the aid of simple age-old tools, techniques and equipments.

The techniques of wood-carving have been practised in India since very ancient times. In constructing palaces, temples and houses, wood was the main raw material used. As these were mostly constructed in perishable wood, little remains to speak of its antiquity more clearly. A careful examination of the stone carvings of the ancient period, however, shows that the technique of wood-carving was later on transformed into the stone-work technique. Those craftsmen who handled wood changing to stone found it difficult to forget completely their old style.

The technique of wood-carving also finds mention in the ancient literary texts. The wood-carver is seen plying his trade with the hatchet with the hatchet, the adze, the chisel and the mallet (Vasipharasunikhadanamuggare) and the measuring line’, which he draws out at length or winds up short’ or which he puts round a log of wood with black dust to guide his saw tacchako kalasuttam anulometva rukkham tacchati) he bends a log of wood (darunamayanti tacchaka) and discarding soft parts of the wood takes the hard parts (pheggum apaharitva saram adiyati) as obviously in the case of ebony of which the outside is soft and inside hard. Panini also refers to tanukarana or hewing as the chief part of the carpenter’s work. Amongst these tools reference is made to udghana, the bench on which he works.

An idea of the ancient method of wood-carving may also be had from the oldest known remains of Indian wood works found in the farming at the entrance to one of the big chaityas at Karli. The pillars obviously executed by means of different types of chisels, are quite plain like those of the earliest caves, while the capitals or brackets are shaped into pendent lotus and tasselled forms, often massed one above the other, and some times provided with lateral struts carved as figures of horsemen or elephants’ another specimen of ancient wood-carving made by chisels has been found at Arikamedu near Pondicherry in South-East India”. The specimen belonging to late first century B.C. or early first century A.D. appears to have been fashioned from a block of wood with its central portion scooped out. The specimen resembling a

cumbrous shuttle, possibly represents a toy-boat.

In olden times much of the carving seems to have been done by free hand assisted by rough outlines drawn on wood. Even a stencil would only give the outlines, while relief carving as well as low and deep undercutting used to depend on the skill of the worker. The crafts-men translated the shape in his imagination into perfect form in wood with extraordinary deftness. Moreover, before starting his work, he has in his mind clear perception or image of the final shape of the article.

The techniques of wood-carving as practised by the present day wood-carvers of India are mainly traditional, though there are some negligible variations in both materials and techniques in many wood-carving centres in the country. A consolidated account of the techniques as followed by the craftsmen of a few important centres is presented below “.

Nowadays, the piece of wood on which carving is to be done is first cut off in required size from the log and given proper shape. For this purpose, straight lines are marked with the help of a string dipped in chalk or red ochre (geru). The piece is carefully trimmed with the adze to give the desired shape.

After drawing the outline on a selected log of wood the superfluous portion is first taken out to give it a rough shape. The real technique and skill, however, lie in the subsequent operations, which require on the part of the carver true knowledge of forms and correct use of the tools which

would enable him to deftly take out the unwanted portion by means of gauges and chisels of different sizes with the manipulation of strokes through the movement of hand. Starting with broad outlines, the artisan proceeds from simple to intricate carvings. Beginning with large tools, he progressively uses finer chisels, smothering surfaces, carving veins, giving light and shade, curves, relief, chipping off spaces in the recesses or decorating the background. The chisel in hand, lightly held and freely manipulated by the fingers, is tapped by the mallet with repeated strokes, light or heavy according to necessity. Thus the craftsman works from low to moderate, and moderate to high relief and carries out low or deep under-cutting as required by means of very simple tools. In most cases the finishing is done by innumerable patient strokes of finer chisels. For smoothening roughages indigenous files are used. On bold carving work dry coconut husk is also rubbed.

Of the tools utilised by the wood-carvers for minute details, special mention may here be made of chisels and gauges of various sizes and shapes ranging from the point of a needle to three-fourths of an inch. They also vary in number according to the extent of artistic ability of the craftsmen, the nature of carving and the quality of wood on which they work. Different sizes of chisels are also used for different purposes. The largest size which has a breadth of about 6 inches at the edge is generally used for levelling flat surfaces before the plane is applied for smoothening. Chisels of

smaller size of 4 inches, 3 inches, 2 inches, half-an-inch, etc. in width are used for different purposes like rounding the edges, cutting timber into pieces, making holes and for other old purposes.

For preliminary work like cutting and preparing pieces of wood to be carved, the artisan, who is also skilled in simple carpentry, uses the common tools like hand-saw, adze, plane, chisel and drilling equipments. Other small instruments include a centre-bit, screw-driver, a hammer, a foot-rule and a hone for sharpening chisels. But main dependence of the carver is on a large number of small handleless chisels, gauges and punches of various size and shapes worked with the help of a mallet of wood used to strike the chisel. It may be noted here that in the production of wooden models ordinary tools are used by the craftsmen. It is only when the finer items of work like the carvings of the eyes, ears, nose, lips, locks, etc. of a statue are done, the sharper and more tiny tools specially suited for carving are used. The tools used in sandal wood-carving mainly consist of a saw, a plane, a mallet, a hone and a chisel. The saw is an ordinary hand-saw used for cutting the log into planks in required size. The plane is used for smothering the surface of the plank to be operated upon and for planning cornice or moulding. The mallet is a strip of wood having about 9" to 21" in length. The hone is a rough slate of finely grained hard stone with one face rubbed down used for sharpening tools. The chisel is the instrument used for carving which is in many forms employed according to the nature

of carving. One is called firmer, a flat instrument curved or screw edged. The screw edged firmer is to work out sharp corners. Another is hollow chisel of varying size and curvature of edge and the other is engraver. These tools are generally made by the local craftsmen. Some of them are very delicate and minute, designed to work out extremely delicate and slender figures. The tools needed for carving of walnut wood articles are not many, nor are they elaborate. For shaping and carving articles, a carver generally needs assortment of both carving and ordinary carpentry tools which include straight and curved chisels, a plane and a hand-saw. Besides these tools, various other elaborate

carpentry tools and equipments such as lathe, freight saw, drilling machines, etc. are also used by the carvers.

Reference

1. M.J. Harskovits, Man and His Works, New York, 1952, P. 241.
2. Kalasutta Jataka, II. 405 and IV 344.
3. Dighanikaya, XXII. 2
4. Milindapanho, 413
5. Dhammapada, 145.
6. Milindapanho, op. cit.
7. III. 1.76
8. III. 3.80
9. A. K. Coomaraswamy, The Arts and Crafts of India and Ceylon, 1913, Chapter VI, p.p. 163-164
10. Wheeler, Ghosh and K. Deva, "Arikamedu : An Indo-Roman Trading-Station on the East Coast of India", Ancient India, No. 2, July 1946.
11. Mainly based on the personal observations in the field. See also

R.K.Trivedi (ed.) Census of India 1961, Vol. V, Part - VII-A(2), "Wood Carving of Gujarat", pp. 28-32; M. K. Devassy (ed) Census of India, 1961, Vol VII, Kerala, Part VII-A "Selected Crafts of Kerala", 1964, p.p. 178-180; Handi crafts Survey Report No. 36, " Wood Carving Industry, Srinagar", published by the All India handi crafts Board, New Delhi, 1965, pp. 6-7 and T.M. Abraham, handicrafts in India, 1964, New Delhi, pp. 62-77

12. Census of India 1961, Vol XXIII, Part VII, 1966, Wood Carving and Wood work, Handicrafts of Nagaland, pp. 33-45
13. Census of India 1961, Vol. IX, Madras, Part VII-A (vi), 1965, Wood carving of Madurai, Flandi crafts and Artisans of Madras State.

**Lecturer, Hindi
Journalism & Mass
Communication
BRABU, Muzaffarpur**

States of India Series

States of India : Uttarakhand
States of India : Rajasthan
States of India : Bihar
States of India : Himachal Pradesh
States of India : Delhi
States of India : Punjab
States of India : Mizoram
States of India : Nagaland
States of India : Gujarat
States of India : Tripura
States of India : Andhra Pradesh
States of India : Sikkim
States of India : Karnataka
States of India : Meghalaya
States of India : Jammu & Kashmir

States of India : Uttar Pradesh
States of India : Jharkhand
States of India : Chhattisgarh
States of India : Haryana
States of India : Madhya Pradesh
States of India : Maharashtra
States of India : Manipur
States of India : Orissa
States of India : Assam
States of India : Goa
States of India : West Bengal
States of India : Tamil Nadu
States of India : Kerala
States of India : Arunachal Pradesh

To Order Please Write to :

Pushpanjali Prakashan

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053, Phone : 9811710900

Contacts with the Hellenistic world in Maurya Empire

Raj Kumar Prasad

Foundation of the Empire

Relations with the Hellenistic world may have started from the very beginning of the Maurya Empire. Plutarch reports that Chandragupta Maurya met with Alexander the Great, probably around Taxila in the northwest:

“Sandrocottus, when he was a stripling, saw Alexander himself, and we are told that he often said in later times that Alexander narrowly missed making himself master of the country, since its king was hated and despised on account of his baseness and low birth”. Plutarch 62-3.

Reconquest of the Northwest (c. 310 BCE)

Chandragupta ultimately occupied Northwestern India, in the territories formerly ruled by the Greeks, where he fought the satraps (described as “Prefects” in Western sources) left in place after Alexander (Justin), among whom may have been Eudemus, ruler in the western Punjab until his departure in 317 BCE or Peithon, son of Agenor, ruler of the Greek colonies along the Indus until his departure for Babylon in 316 BCE.

“India, after the death of Alexander, had assassinated his prefects, as if shaking the burden of servitude. The author of this liberation was Sandracottos, but he had transformed liberation in servitude after victory, since, after taking the throne, he himself oppressed the very people he has liberated from foreign domination” Justin XV.4.12-13

“Later, as he was preparing war against the prefects of Alexander, a huge wild elephant went to him and took him on his back as if tame, and he became a remarkable fighter and war leader. Having thus acquired royal power, Sandracottos possessed India at the time Seleucos was preparing future glory.” Justin XV.4.19

Conflict and Alliance with Seleucus (305 BCE)

Seleucus I Nicator, the Macedonian satrap of the Asian portion of Alexander’s former empire, conquered and put under his own authority eastern territories as far as Bactria and the Indus (Appian, History of Rome, The Syrian Wars 55), until in 305 BCE he entered in a confrontation with Chandragupta:

“Always lying in wait for the neighboring nations, strong in arms and persuasive in council, he [Seleucus] acquired Mesopotamia, Armenia, ‘Seleucid’ Cappadocia, Persis, Parthia, Bactria, Arabia, Tapouria, Sogdia, Arachosia, Hyrcania, and other adjacent peoples that had been subdued by Alexander, as far as the river Indus, so that the boundaries of his empire were the most extensive in Asia after that of Alexander. The whole region from Phrygia to the Indus was subject to Seleucus”. Appian, History of Rome, The Syrian Wars 55

Though no accounts of the conflict remain, it is clear that Seleucus fared poorly against the Indian Emperor as he failed in conquering any territory, and in fact, was forced to surrender much that was already his. Regardless, Seleucus and Chandragupta ultimately reached a settlement and through a treaty sealed in 305 BCE, Seleucus, according to Strabo, ceded a number of territories to Chandragupta, including southern Afghanistan and parts of Persia.

Accordingly, Seleucus obtained five hundred war elephants, a military asset which would play a decisive role at the Battle of Ipsus in 301 BCE.

Marital Alliance

It is generally thought that Chandragupta married Seleucus’s daughter, or a Greek Macedonian princess, a gift from Seleucus to formalize an alliance. In a return gesture, Chandragupta sent 500 war-elephants, a military asset which would play a decisive role at the Battle of Ipsus in 302 BC. In addition to this treaty, Seleucus dispatched an ambassador, Megasthenes, to Chandragupta, and later Deimakos to his son Bindusara, at the Mauryan court at Pataliputra (modern Patna in Bihar state). Later Ptolemy II Philadelphus, the ruler of Ptolemaic Egypt and contemporary of Ashoka the Great, is also recorded by Pliny the Elder as having sent an ambassador named Dionysius to the Mauryan court.

Mainstream scholarship asserts that Chandragupta received vast territory west of the Indus, including the Hindu Kush, modern day Afghanistan, and the

Balochistan province of Pakistan. Archaeologically, concrete indications of Mauryan rule, such as the inscriptions of the Edicts of Ashoka, are known as far as Kandahar in southern Afghanistan.

The treaty on “Epigamia” implies lawful marriage between Greeks and Indians was recognized at the State level, although it is unclear whether it occurred among dynastic rulers or common people, or both..

Exchange of Ambassadors

Seleucus dispatched an ambassador, Megasthenes, to Chandragupta, and later Deimakos to his son Bindusara, at the Mauryan court at Pataliputra (Modern Patna in Bihar state). Later Ptolemy II Philadelphus, the ruler of Ptolemaic Egypt and contemporary of Ashoka, is also recorded by Pliny the Elder as having sent an ambassador named Dionysius to the Mauryan court.

Exchange of Presents

Classical sources have also recorded that following their treaty, Chandragupta and Seleucus exchanged presents, such as when Chandragupta sent various aphrodisiacs to Seleucus:

“And Theophrastus says that some contrivances are of wondrous efficacy in such matters [as to make people more amorous]. And Phylarchus confirms him, by reference to some of the presents which Sandrakottus, the king of the Indians, sent to Seleucus; which were to act like charms in producing a wonderful degree of affection, while some, on the contrary, were to banish love” Athenaeus of Naucratis, “The deipnosophists” Book I, chapter 32

His son Bindusara ‘Amitraghata’ (Slayer of Enemies)

also is recorded in Classical sources as having exchanged present with Antiochus I:

“But dried figs were so very much sought after by all men (for really, as Aristophanes says, “There’s really nothing nicer than dried figs”), that even Amitrochates, the king of the Indians, wrote to Antiochus, entreating him (it is Hegesander who tells this story) to buy and send him some sweet wine, and some dried figs, and a sophist; and that Antiochus wrote to him in answer, “The dry figs and the sweet wine we will send you; but it is not lawful for a sophist to be sold in Greece” Athenaeus, “Deipnosophistae” XIV.67

Greek Populations in India

Greek populations apparently remained in the northwest of the Indian subcontinent under Ashoka’s rule. In his Edicts of Ashoka, set in stone, some of them written in Greek, Ashoka describes that Greek populations within his realm converted to Buddhism:

“Here in the king’s domain among the Greeks, the Kambojas, the Nabhakas, the Nabhapamkites, the Bhojas, the Pitinikas, the Andhras and the Palidas, everywhere people are following Beloved-of-the-Gods’ instructions in Dharma”. Rock Edict Nb13 (S. Dhammika).

Fragments of Edict 13 have been found in Greek, and a full Edict, written in both Greek and Aramaic has been discovered in Kandahar. It is said to be written in excellent Classical Greek, using sophisticated philosophical terms. In this Edict, Ashoka uses the word Eusebeia (“Piety”) as the Greek translation for the ubiquitous “Dharma” of his other Edicts written in Prakrit:

“Ten years (of reign) having been completed, King Piodasses (Ashoka) made known (the doctrine of) Piety to men; and from

this moment he has made men more pious, and everything thrives throughout the whole world. And the king abstains from (killing) living beings, and other men and those who (are) huntsmen and fishermen of the king have desisted from hunting. And if some (were) intemperate, they have ceased from their intemperance as was in their power; and obedient to their father and mother and to the elders, in opposition to the past also in the future, by so acting on every occasion, they will live better and more happily”. (Trans. by G.P. Carratelli)

Buddhist Missions to the West (c.250 BCE)

Also, in the Edicts of Ashoka, Ashoka mentions the Hellenistic kings of the period as a recipient of his Buddhist proselytism, although no Western historical record of this event remain:

“The conquest by Dharma has been won here, on the borders, and even six hundred yojanas (5,400-9,600 km) away, where the Greek king Antiochos rules, beyond there where the four kings named Ptolemy, Antigonos, Magas and Alexander rule, likewise in the south among the Cholas, the Pandiyas, and as far as Tamraparni (Sri Lanka).” (Edicts of Ashoka, 13th Rock Edict, S. Dhammika).

Ashoka also claims that he encouraged the development of herbal medicine, for men and animals, in their territories:

“Everywhere within Beloved-of-the-Gods, King Piyadasi’s [Ashoka’s] domain, and among the people beyond the borders, the Cholas, the Pandiyas, the Satiyaputras, the Keralaputras, as far as Tamraparni and where the Greek king Antiochos rules, and among the kings who are neighbors of Antiochos, everywhere has Beloved-of-the-Gods, King Piyadasi, made provision for two types of medical

treatment: medical treatment for humans and medical treatment for animals. Wherever medical herbs suitable for humans or animals are not available, I have had them imported and grown. Wherever medical roots or fruits are not available I have had them imported and grown. Along roads I have had wells dug and trees planted for the benefit of humans and animals". 2nd Rock Edict

The Greeks in India even seem to have played an active role in the propagation of Buddhism, as some of the emissaries of Ashoka, such as Dharmarakshita, are described in Pali sources as leading Greek ("Yona") Buddhist monks, active in Buddhist proselytism (the Mahavamsa, XII).

Subhagsena and Antiochos III (206 BCE)

Sophagasenus was an Indian Mauryan ruler of the 3rd century BCE, described in ancient Greek sources, and named Subhagsena or Subhashsena in Prakrit. His name is mentioned in the list of Mauryan princes, and also in the list of the Yadava dynasty, as a descendant of Pradyumna. He may have been a grandson of Ashoka, or Kunala, the son of Ashoka. He ruled an area south of the Hindu Kush, possibly in Gandhara. Antiochos III, the Seleucid king, after having made peace with Euthydemus in Bactria, went to India in 206 BC and is said to have renewed his friendship with the Indian king there:

"He (Antiochus) crossed the Caucasus and descended into India; renewed his friendship with Sophagasenus the king of the Indians; received more elephants, until he had a hundred and fifty altogether; and having once more provisioned his troops, set out again personally with his army: leaving Androsthenes of Cyzicus the duty of taking home the treasure which this king had agreed to hand over to him".

References

1. Appian, History of Rome, The Syrian Wars 55
2. Ancient India, (Kachroo)
3. The Imperial Gazetteer of India, (Hunter)
4. The evolution of man and society, (Darlington)
5. W. W. Tarn (1940). "Two Notes on Seleucid History: 1. Seleucus' 500 Elephants, 2. Tarmita", *The Journal of Hellenic Studies*.
6. Partha Sarathi Bose (2003). *Alexander the Great's Art of Strategy*. Gotham Books.
7. Pliny the Elder, "The Natural History", Chap. 21
8. Vincent A. Smith (1998). *Asoka*. Asian Educational Services..
9. Walter Eugene Clark (1919). "The Importance of Hellenism from the Point of View of Indic-Philology", *Classical Philology* 14 (4), p. 297-313.
10. Ath. Deip. I.32
11. Athenaeus, "Deipnosophistae"
12. Full text of the Mahavamsa
13. According to the Ashokavadana
14. Sir John Marshall, "A Guide to Sanchi", Eastern Book House, 1990.
15. E. Lamotte: History of Indian Buddhism, Institut Orientaliste, Louvain-la-Neuve 1988 (1958)
16. Asoka and the Decline of the Mauryas by Romila Thapar, Oxford University Press, 1960 P200

Patna City

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय साहित्य

बिराज बहू	100.00
गृहदाह	225.00
नारी का मूल्य	100.00
अरक्षणीया	100.00
शुभदा	100.00
ग्रामीण समाज	125.00
दत्ता	150.00
वैकुण्ठ का दान-पत्र	100.00
जागरण	100.00
चन्द्रनाथ	80.00
षोडशी-रमा	175.00
विजया	150.00
देवदास	100.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

Gupta and Harsha the Classical Age

Om Rajput

The Classical Age refers to the period when most of North India was reunited under the Gupta Empire (ca. A.D. 320-550). Because of the relative peace, law and order, and extensive cultural achievements during this period, it has been described as a “golden age” that crystallized the elements of what is generally known as Hindu culture with all its variety, contradiction, and synthesis.

The golden age was confined to the north, and the classical patterns began to spread south only after the Gupta Empire had vanished from the historical scene. The military exploits of the first three rulers — Chandragupta I (ca. 319-335), Samudragupta (ca. 335-376), and Chandragupta II (ca. 376-415) — brought all of North India under their leadership.

From Pataliputra, their capital, they sought to retain political preeminence as much by pragmatism and judicious marriage alliances as by military strength. Despite their self-conferred titles, their overlordship was threatened and by 500 ultimately ruined by the Hunas (a branch of the White Huns emanating from Central Asia), who were yet another group in the long succession of ethnically and culturally different outsiders drawn into India and then woven into the hybrid Indian fabric.

Under Harsha Vardhana (or Harsha, r. 606-47), North India was reunited briefly, but neither the Guptas nor Harsha controlled a centralized state, and their administrative styles rested on the collaboration of regional and local officials for administering their rule rather than on centrally appointed personnel. The Gupta period marked a watershed of Indian culture: the Guptas performed Vedic sacrifices to legitimize their rule, but they also patronized Buddhism, which

continued to provide an alternative to Brahmanical orthodoxy.

The most significant achievements of this period, however, were in religion, education, mathematics, art, and Sanskrit literature and drama. The religion that later developed into modern Hinduism witnessed a crystallization of its components: major sectarian deities, image worship, devotionism, and the importance of the temple. Education included grammar, composition, logic, metaphysics, mathematics, medicine, and astronomy.

These subjects became highly specialized and reached an advanced level. The Indian numeral system — sometimes erroneously attributed to the Arabs, who took it from India to Europe where it replaced the Roman system — and the decimal system are Indian inventions of this period. Aryabhata's expositions on astronomy in 499, moreover, gave calculations of the solar year and the shape and movement of astral bodies with remarkable accuracy. In medicine, Charaka and Sushruta wrote about a fully evolved system, resembling those of Hippocrates and Galen in Greece. Although progress in physiology and biology was hindered by religious injunctions against contact with dead bodies, which discouraged dissection and anatomy, Indian physicians excelled in pharmacopoeia, caesarean section, bone setting, and skin grafting.

The Southern Rivals

When Gupta disintegration was complete, the classical patterns of civilization continued to thrive not only in the middle Ganga Valley and the kingdoms that emerged on the heels of Gupta demise but also in the Deccan and in South India, which acquired a more prominent place in history. In fact, from the mid-seventh to the mid-thirteenth centuries, regionalism was the dominant theme of political or dynastic history of South Asia. Three features, as political scientist Radha Champakalakshmi has noted, commonly characterize the sociopolitical realities of this period. First, the spread of Brahmanical religions was a two-way process of Sanskritization of local cults

and localization of Brahmanical social order. Second was the ascendancy of the Brahman priestly and landowning groups that later dominated regional institutions and political developments. Third, because of the seesawing of numerous dynasties that had a remarkable ability to survive perennial military attacks, regional kingdoms faced frequent defeats but seldom total annihilation.

Peninsular India was involved in an eighth-century tripartite power struggle among the Chalukyas (556-757) of Vatapi, the Pallavas (300-888) of Kanchipuram, and the Pandyas (seventh through the tenth centuries) of Madurai. The Chalukya rulers were overthrown by their subordinates, the Rashtrakutas, who ruled from 753 to 973. Although both the Pallava and Pandya kingdoms were enemies, the real struggle for political domination was between the Pallava and Chalukya realms.

Despite interregional conflicts, local autonomy was preserved to a far greater degree in the south where it had prevailed for centuries. The absence of a highly centralized government was associated with a corresponding local autonomy in

the administration of villages and districts. Extensive and well-documented overland and maritime trade flourished with the Arabs on the west coast and with Southeast Asia. Trade facilitated cultural diffusion in Southeast Asia, where local elites selectively but willingly adopted Indian art, architecture, literature, and social customs.

The interdynastic rivalry and seasonal raids into each other's territory notwithstanding, the rulers in the Deccan and South India patronized all three religions — Buddhism, Hinduism, and Jainism. The religions vied with each other for royal favour, expressed in land grants but more importantly in the creation of monumental temples, which remain architectural wonders. The cave temples of Elephanta Island (near Bombay, or Mumbai in Marathi), Ajanta, and Ellora (in Maharashtra), and structural temples of Kanchipuram (in Tamil Nadu) are enduring legacies of otherwise warring regional rulers. By the mid-seventh century, Buddhism and Jainism began to decline as sectarian Hindu devotional cults of Shiva and Vishnu vigorously competed for popular support.

Although Sanskrit was the language of learning and theology in South India, as it was in the north, the growth of the bhakti (devotional) movements enhanced the crystallization of vernacular literature in all four major Dravidian languages: Tamil, Telugu, Malayalam, and Kannada; they often borrowed themes and vocabulary from Sanskrit but preserved much local cultural lore.

Examples of Tamil literature include two major poems, *Cilappatikaram* (The Jewelled Anklet) and *Manimekalai* (The Jewelled Belt), the body of devotional literature of Shaivism and Vaishnavism — Hindu devotional movements; and the reworking of the Ramayana by Kamban in the twelfth century. A nationwide cultural synthesis had taken place with a minimum of common characteristics in the various regions of South Asia, but the process of cultural infusion and assimilation would continue to shape and influence India's history through the centuries.

References

- S.K. Lall, *Ancient India*
- Romila Thapar, *Ancient India*
- Shailendra Sengar, *History of India*.

New Release

The Hero of Changing World Barack Obama

By Ravi Kant Dubey

Immigrations of Indo-Aryan Speaking Tribes

Dilip Kumar Yadav

Models of the Indo-Aryan migration discuss scenarios of prehistoric migrations of the early Indo-Aryans to their historically attested areas of settlement in the northwest of the Indian subcontinent (i.e. the area of modern Pakistan) and from there further across all of North India. Claims of Indo-Aryan migration are primarily drawn from linguistic evidence but also from a multitude of data stemming from Vedic religion, rituals, poetics as well as some aspects of social organization and chariot technology. However, recent extensive studies conducted on genetics and archaeogenetics of the South Asian population have found no proof of large population migrations, since at least 10,000 years, and that Indo-Aryan language speakers have a largely South Asian origin.

Indo-Aryan derives from an earlier Proto-Indo-Iranian stage, usually identified with the Bronze Age Sintashta and Andronovo culture north of the Caspian Sea. Their migration to and within Northwestern parts of South Asia is consequently presumed to have taken place in the Middle to Late Bronze Age, contemporary to the Late Harappan phase (ca. 1700 to 1300 BC). An influx of early Indo-Aryan speakers over the Hindukush (comparable to the Kushan expansion of the first centuries CE) together with Late Harappan cultures gave rise to the Vedic civilization of the Early Iron Age. This period is marked by a gradual and continual shift of the population to the east, first to the Gangetic plain with the Kurus and Panchalas, and further east with the Kosala and Videha. This Iron Age expansion corresponds to the black and red ware and painted grey ware cultures.

Linguistics

The linguistic center of gravity principle states that a language family's most likely point of origin is in the area of its greatest diversity. Take, for example, the Germanic languages—of which English is one. North America may have more speakers of Germanic languages, but almost all of them are exclusively or

primarily speakers of English. Northern Europe, where the Germanic languages are known to have originated, has in significant numbers speakers not only of English but also German, Dutch/Flemish, Frisian, and North Germanic (Swedish, Danish, Norwegian, Icelandic). By this criterion, India, home to only a single branch of the Indo-European language family (i.e. Indo-Aryan), is an exceedingly unlikely candidate for the Indo-European homeland; Central-Eastern Europe, on the other hand, is home to the Italic, Venetic, Illyrian, Albanian, Germanic, Baltic, Slavic, Thracian, and Greek branches of Indo-European. Both mainstream Urheimat solutions locate the Indo-European homeland in the vicinity of the Black Sea.

Dialectical Variation

It has been recognized since mid-19th century that a binary tree model cannot capture all linguistic alignments; certain areal features cut across language groups and are better explained through a model treating linguistic change like waves rippling out through a pond. This is true of the Indo-European languages as well. Various features originated and spread while Proto-Indo-European was still a dialect continuum. These features sometimes cut across sub-families: for instance, the instrumental, dative, and ablative plurals in Germanic and Balto-Slavic feature endings beginning with *-m-*, rather than the usual e.g. Old Church Slavonic instrumental plural *synŭ-mi* 'with sons', despite the fact that the Germanic languages are centum, while Balto-Slavic languages are satem.

There is a close relationship between the dialectical relationship of the Indo-European languages and the actual geographical arrangement of the languages in their earliest attested forms that makes an Indian origin for the family unlikely.

Substrate Influence

Burrow compiled a list of approximately 500 foreign words in Sanskrit that he considered to be loans predominantly from Dravidian. Kuiper identified 383 Zgvedic words as non-Indo-Aryan—roughly 4% of its (liturgical) vocabulary—borrowed from Old Dravidian, Old Munda, and several other languages. However, Thieme has questioned Dravidian etymologies proposed for Vedic words, most of which he gives Indo-Aryan or Sanskrit etymologies, and condemned what he characterizes as a misplaced "zeal for hunting up Dravidian loans in Sanskrit". Das even

contends that there is “*not a single case* in which a *communis opinio* has been found confirming the foreign origin of a Rgvedic (and probably Vedic in general) word”. Burrow in turn has criticized the “resort to tortuous reconstructions in order to find, by hook or by crook, Indo-European explanations for Sanskrit words”. However, later on he revoked many of his 26 Dravidian etymologies in the Rigveda. Kuiper reasons that given the abundance of Indo-European comparative material—and the scarcity of early Dravidian or Munda—the inability to clearly confirm whether the etymology of a Vedic word is Indo-European implies that it is not. In addition, the state of the art of the three language families differs widely.

Dravidian and other South Asian languages share with Indo-Aryan a number of syntactical and morphological features that are alien to other Indo-European languages, including even its closest relative, Old Iranian. Phonologically, there is the introduction of retroflexes, which alternate with dentals in Indo-Aryan; morphologically there are the gerunds; and syntactically there is the use of a quotative marker (“iti”). Krishnamurti states: “Besides, the Rig Veda has used the gerund, not found in Avestan, with the same grammatical function as in Dravidian, as a non-finite verb for ‘incomplete’ action. Rig Vedic language also attests the use of *iti* as a quotative clause complementizer. All these features are not a consequence of simple borrowing but they indicate substratum influence”. Several linguists, all of whom accept the external origin of the Aryan languages on other grounds, are quite open to considering that various syntactical developments in Indo-Aryan could have been internal developments

rather than the result of substrate influences, or have been the result of adstratum. About retroflexion Tikkanen (1999) states that “in view of the strictly areal implications of retroflexion and the occurrence of retroflexes in many early loanwords, it is hardly likely that Indo-Aryan retroflexion arose in a region that did not have a substratum with retroflexes.”

Writing specifically about language contact phenomena, Thomason & Kaufman (1988) state that there is strong evidence that Dravidian influenced Indic through “shift”, that is, native Dravidian speakers learning and adopting Indic languages. Even though the innovative traits in Indic could be explained by multiple internal explanations, early Dravidian influence is the only explanation that can account for all of the innovations at once – it becomes a question of explanatory parsimony; moreover, early Dravidian influence accounts for the several of the innovative traits in Indic better than any internal explanation that has been proposed.

Erdosy (1995:18) states that the most plausible explanation for the presence of Dravidian structural features in Old Indo-Aryan is that the majority of early Old Indo-Aryan speakers had a Dravidian mother tongue which they gradually abandoned.

Zvelebil remarks that “Several scholars have demonstrated that pre-Indo-Aryan and pre-Dravidian bilingualism in India provided conditions for the far-reaching influence of Dravidian on the Indo-Aryan tongues in the spheres of phonology, syntax and vocabulary”.

In addition, the influences of other non-Indo-Aryan languages on early Indo-Aryan (such as

Proto-Burushaski, the Indus substrate language(s), Witzel’s Para-Munda, Masica’s Gangetic “language X”, Proto-Munda, etc.) have to be taken into account.

Material Archaeology

Jim Shaffer wrote, “Current archaeological data do not support the existence of an Indo-Aryan or European invasion into South Asia any time in the pre- or protohistoric periods. Instead, it is possible to document archaeologically a series of cultural changes reflecting indigenous cultural developments from prehistoric to historic periods” The vast majority of the professional archaeologists Bryant (2001) interviewed in India insisted that there was no convincing archaeological evidence whatsoever to support any claims of external Indo-Aryan origins. Kenoyer (as cited in Bryant 2001:231) and Shaffer (as cited in Bryant 2001:232) argue that current archaeological evidence does not support an invasion of South Asia in the pre- or proto-historic periods.

According to Kenoyer (as quoted in Bryant 2001:190): Although the overall socio-economic organization changed, continuities in technology, subsistence practices, settlement organization, and some regional symbols show that the indigenous population was not displaced by invading hordes of Indo-Aryan speaking people. For many years, the ‘invasions’ or ‘migrations’ of these Indo-Aryan-speaking Vedic/Aryan tribes explained the decline of the Indus civilization and the sudden rise of urbanization in the Ganga-Yamuna valley. This was based on simplistic models of culture change and an uncritical reading of Vedic texts...

Similar arguments were made

by Häusler (as cited in Bryant 2001:141), who found that the archaeological evidence in central Europe showed continuous linear development, with no marked external influences. As Bryant (2001:235) points out, “India is not the only Indo-European-speaking area that has not revealed any archaeological traces of immigration.” Mallory (in Blench & Spriggs 1997) states that archaeological continuity can be supported for every Indo-European-speaking region of Eurasia, not just India. Several historically documented migrations, such as those of the Helvetii to Switzerland, the Huns into Europe, or Gaelic-speakers into Scotland are not attested in the archaeological record. Cavalli-Sforza (2000) states that “archeology can verify the occurrence of migration only in exceptional cases”.

Bryant (2001:236) grants that “there is at least a series of archaeological cultures that can be traced approaching the Indian subcontinent, even if discontinuous, which does not seem to be the case for any hypothetical east-to-west emigration.” Erdosy (1995) states that “some support was found in the archaeological record for small-scale migrations from Central to South Asia in the late 3rd/early 2nd millennia BC.”

The Andronovo, BMAC and Yaz cultures have often been associated with Indo-Iranian migrations. The Gandhara Grave (GGC), Cemetery H, Copper Hoard and Painted Grey Ware (PGW) cultures are candidates for cultures associated with Indo-Aryan movements. The Indo-Aryan migration is dated subsequent to the Mature Harappan culture and the arrival of

Indo-Aryans in the Indian subcontinent dated during the Late Harappan period. Based on linguistic data, many scholars argue that the Indo-Aryan languages were introduced to India in the 2nd millennium BC. The standard model for the entry of the Indo-European languages into India is that this first wave went over the Hindu Kush, forming the Gandhara grave (or Swat) culture, either into the headwaters of the Indus or the Ganges (probably both). The language of the Rigveda, the earliest stratum of Vedic Sanskrit is assigned to about 1500-1200 BC.

The separation of Indo-Aryans proper from Proto-Indo-Iranians has been dated to roughly 2000–1800 BC. It is believed Indo-Aryans reached Assyria in the west and the Punjab in the east before 1500 BC: the Hurrite speaking Mitanni rulers, influenced by Indo-Aryan, appear from 1500 in northern Mesopotamia, and the Gandhara grave culture emerges from 1600. This suggests that Indo-Aryan tribes would have had to be present in the area of the Bactria-Margiana Archaeological Complex (southern Turkmenistan/northern Afghanistan) from 1700 BC at the latest (incidentally corresponding with the decline of that culture).

The Gandhara grave culture is the most likely locus of the earliest Indo-European presence east of the Hindu Kush of the bearers of Rigvedic culture, and based on this Parpola (1998) assumes an immigration to the Punjab ca. 1700-1400 BC, but he also postulates a first wave of immigration from as early as 1900 BC, corresponding to the Cemetery H culture. However, this culture may also represent forerunners of the Indo-Iranians,

similar to the Lullubi and Kassite invasion of Mesopotamia early in the second millennium BC.

Rajesh Kochhar (2000:185–186) argues that there were three waves of Indo-Aryan immigration that occurred after the mature Harappan phase: the “Murghamu” (BMAC) related people who entered Baluchistan at Pirak, Mehrgarh south cemetery, etc. and later merged with the post-urban Harappans during the late Harappans Jhukar phase; the Swat IV that co-founded the Harappan Cemetery H phase in Punjab and the Rigvedic Indo-Aryans of Swat V that later absorbed the Cemetery H people and gave rise to the Painted Grey Ware culture. He dates the first two to 2000-1800 BC and the third to 1400 BC.

References

- Allchin, F. Raymond (1995), *The Archaeology of Early History South Asia: The Emergence of Cities and States*, Cambridge University Press .
- Anthony, David; Vinogradov, Nikolai (1995), “Birth of the Chariot”, *Archaeology* 48 (2): 36–41 .
- Blench, Roger; Spriggs, Matthew, eds. (1997), *Archaeology and Language, I: Theoretical and Methodological Orientations*, London: Routledge .
- edited by Johannes Bronkhorst & Madhav M. Deshpande. (1999), Bronkhorst, J.; Deshpande, M.M., eds., *Aryan and Non-Aryan in South Asia: Evidence, Interpretation, and Ideology*, Department of Sanskrit and Indian Studies, Harvard University.
- Bryant, Edwin (2001), *The Quest for the Origins of Vedic Culture: The Indo-Aryan Migration Debate*, Oxford University Press.
- Bryant, Edwin F.; Patton, Laurie L., eds. (2005), *The Indo-Aryan Controversy: Evidence and inference in Indian history*, London: Routledge.
- Cavalli-Sforza, Luigi Luca (2000), *Genes, Peoples, and Languages*, New York: North Point Press .
- Chakrabarti, D.K. The Early use of Iron In India. Dilip K. Chakrabarti.1992. New Delhi: The Oxford University Press.

M.A., NET

Middle Kingdoms of India

Dr. Sunil Kumar

Middle kingdoms of India refers to the political entities in India from the 2nd century BC since the decline of the Maurya Empire, and the corresponding rise of the Satavahana dynasty, beginning with Simuka, from 230 BC. The “Middle” period lasts for some 1,500 years, and ends in the 13th century, with the rise of the Islamic Sultanates (the Delhi Sultanate was established in 1206) and the end of the Chalukya Cholas (Rajendra Chola III died 1279).

The North West

In the wake of the disintegration of the Mauryan Empire during the 2nd century BC, South Asia became a collage of regional powers with overlapping boundaries. The Indus Valley and Gangetic plains of the northwest attracted a series of invaders between 200 BC and 300 AD. The Puranas speak of many of these tribes as foreigners and impure barbarians (Mlechhas) First the Satavahanas and later the Gupta Empire, both successor states to the Mauryan Empire, attempt to contain the expansions of the successive before eventually crumbling internally due pressure exerted by these wars.

The invading tribes are influenced by and adopt Buddhism which continues to flourish under the patronage of both the invaders and the Satavahanas and Guptas and provides a cultural bridge between the two cultures. Over time, the invaders became “Indianized” as they influence society and philosophy across the gangetic plains and are conversely influenced by it. This period is marked by both intellectual and artistic achievements inspired by cultural diffusion and syncretism as the new kingdoms straddle the Silk route.

The Indo-Scythian Sakas

The Indo-Scythians are a branch of Sakas (Scythians), who migrated from southern Siberia into Bactria, Sogdiana, Arachosia, Gandhara, Kashmir, Punjab, and into parts of Western and Central India,

Gujarat, Maharashtra and Rajasthan, from the middle of the 2nd century BCE to the 4th century CE. The first Saka king in India was Maues or Moga who established Saka power in Gandhara and gradually extended supremacy over north-western India. Indo-Scythian rule in India ended with the last Western Satrap Rudrasimha III in 395 CE.

The invasion of India by Scythian tribes from Central Asia, often referred to as the Indo-Scythian invasion, played a significant part in the history of India as well as nearby countries. In fact, the Indo-Scythian war is just one chapter in the events triggered by the nomadic flight of Central Asians from conflict with Chinese tribes which had lasting effects on Bactria, Kabul, Parthia and India as well as far off Rome in the west. The Scythian groups that invaded India and set up various kingdoms, included besides the Sakas other allied tribes, such as the Medii, Xanthii, Massagetae, Getae, Parama Kambojas, Avars, Bahlikas, Rishikas and Paradas.

The Indo-Greeks

The Indo-Greek Kingdom (or sometimes Graeco-Indian Kingdom) covered various parts of the northwest and northern Indian subcontinent during the last two centuries BC, and was ruled by more than 30 Hellenistic kings, often in conflict with each other. The kingdom was founded when the Greco-Bactrian king Demetrius invaded India early in the second century BC; in this context the boundary of “India” is the Hindu Kush. The Greeks in India were eventually divided from the Greco-Bactrian Kingdom centred in Bactria (now the border between Afghanistan and Uzbekistan). The expression “Indo-Greek Kingdom” loosely describes a number of various dynastic polities. There were numerous cities, such as Taxila Pakistan’s Punjab, or Pushkalavati and Sagala. These cities would house a number of dynasties in their times, and based on Ptolemy’s *Geographia* and the nomenclature of later kings, a certain Theophila in the south was also probably a satrapal or royal seat at some point.

During the two centuries of their rule, the Indo-Greek kings combined the Greek and Indian languages and symbols, as seen on their coins, and blended ancient Greek, Hindu and Buddhist religious practices, as seen in the archaeological remains of their cities and in the indications of their support of Buddhism,

pointing to a rich fusion of Indian and Hellenistic influences. The diffusion of Indo-Greek culture had consequences which are still felt today, particularly through the influence of Greco-Buddhist art. The Indo-Greeks ultimately disappeared as a political entity around 10 AD following the invasions of the Indo-Scythians, although pockets of Greek populations probably remained for several centuries longer under the subsequent rule of the Indo-Parthians and Kushans.

The Yavanas

The Yavanas were described as living beyond Gandhara. There was another country mentioned in the epic as Parama Yona, in the far west of Yavana. This could be the Ionia of Greece, somehow related to Indian Ionians or Yavanas. The name Yavana could be the Sanskritized form of the name Ionia. Some believe that the name Ionia originated from the Sanskrit word *Ayonija* meaning *one who born not from a (human) womb or people with extra ordinary origins*. Yavanas, Sakas, Pahlavas and Hunas were sometimes described as Mlechhas. Sometimes along with them, the Madras, Kambojas, Kekeyas, Sindhus and Gandharas were included. This name was used to indicate their cultural differences with the Vedic culture, prevailed in the Kuru-Panchala Kingdoms.

The Indo-Parthians

With the rise of the Parthians, the Indus Valley was once again brought under the influence of Persia as they conquered the Indo-Scythians. They had Gandhara as their Capital city. The Indo-Parthian Kingdom was founded by Gondophernes around 20 AD

when he declared his Independence from the Parthians. This Kingdom last only briefly until its conquest by the Kushans in 75 AD.

The Pahlavas

The Pahlavas are a people mentioned in ancient Indian texts like the Manu Smriti, various Puranas, the Ramayana, the Mahabharata, and the Brhatsamhita. In some texts the Pahlavas are synonymous with the Pallavas, a dynasty of Southern India: While the Vayu Purana distinguishes between *Pablava* and *Pahnava*, the Vamana Purana and Matsya Purana refer to both as *Pallava*. The Brahmanda Purana and Markendeya Purana refer to both as *Pablava* or *Pallava*. *Bhishama Parava* Mahabharata 6.11.66. of the Mahabharata also does not distinguish between the Pahlavas and Pallavas. The Pahlavas are said to be same as the Parasikas. According to P. Carnegy, the Pahlava are probably those people who spoke Paluvi or Pehlvi, that is the Parthian language. Buhler similarly suggests Pahlava is an Indic form of *Parthava* meaning 'Parthian'. In a 4th century BCE, Vartika of Katyayana mentions the *Sakab-Parthavah* demonstrating an awareness of these Saka-Parthians, probably by way of commerce.

The Western Satraps

The Western Satraps, or Western Kshatrapas (35-405) were Saka rulers of the western and central part of India (Saurashtra and Malwa: modern Gujarat, Southern Sindh, Maharashtra, Rajasthan and Madhya Pradesh states). Their state, or at least part of it, was called "Ariaca" according to the Periplus of the Erythraean

Sea. They were successors to the Indo-Scythians, and were contemporaneous with the Kushans who ruled the northern part of the Indian subcontinent and were possibly their overlords, and the Satavahana (Andhra) who ruled in Central India. They are called "Western" in contrast to the "Northern" Indo-Scythian satraps who ruled in the area of Mathura, such as Rajuvula, and his successors under the Kushans, the "Great Satrap" Kharapallana and the "Satrap" Vanaspara. Although they called themselves "Satraps" on their coins, leading to their modern designation of "Western Satraps", Ptolemy in his 2nd century "Geographia" still called them "Indo-Scythians". Altogether, there were 27 independent Western Satrap rulers during a period of about 350 years. The word *Kshatrapa* stands for *satrap*, and its equivalent in Persian *Ksatrapavan*, which means viceroy or governor of a province.

The Kushans

The Kushan Empire (c. 1st–3rd centuries) originally formed in Bactria on either side of the middle course of the Oxus River or Syr Darya in what is now northern Afghanistan, Tajikistan and Uzbekistan, and, during the first century CE, they expanded their territory to include the Punjab and much of the Ganges basin, conquering a number of kingdoms across the northern part of the Indian subcontinent in the process. The Kushans conquered the central section of the main Silk Routes and, therefore, had control of the overland trade between India, Parthia, China, and the Roman Empire.

The Indo-Sassanid Kushanshahs

The rise of a new Persian dynasty, the Sassanids saw them re-exert their influence into the Indus region and conquer lands from the Kushans setting up the Kushanshahs around 240 AD. They were to maintain their influence in the region until they were overthrown by the rising Caliphate. Afterwards they were displaced in 410 CE by the invasions of the Indo-Hephthalites.

The Hephthalite Hunas

The Hephthalite were another Central Asian nomadic tribe to invade. They are also linked to the Yuezhi who founded the Kushan Empire. From their capital in Bamiyan, Afghanistan they extended their rule across the Indus and Northern India thereby pressuring the collapse of the Gupta Empire. They were eventually defeated by the Sassanid Empire in alliance with other Turkic tribes.

The Rais

The Rai Dynasty of Sindh were patrons of Buddhism even though they also established a huge temple of Shiva in present-day Sukkur, derived from original Shankar, close to their capital in Alror. This is consistent with the historical accounts from the times of Emperor Ashoka and Harsha because Indian monarchs never sponsored a state religion and usually patronized more than one faith. The influence of the Rai state extended from Kashmir and Kannauj in the east, Makran and Debal (Karachi) port in the west, Surat port in south, Kandahar, Sistan, Suleyman, Ferdan and Kikanan hills in the north.

The Gandharan Kambojas

After the collapse of the Sassanid Empire to the Caliphate the Gandharan Satrapy became an independent Kingdom based from Afghanistan and vied with the Tang dynasty, Tibet, the Caliphate and other Turkic tribes for domination in the region.

The Shahis

The Shahi, Sahi, also called Shahiya dynasties ruled portions of the Kabul Valley (in eastern Afghanistan) and the old province of Gandhara (northern Pakistan from the decline of the Kushan Empire in third century to the early ninth century. The kingdom was known as Kabul-shahan or Ratbelshahan from (565 - 670 CE) when the capitals were located in Kapisa and Kabul, and later Udabhandapura (also known as *Hunda*) for its new capital. In ancient time, the title Shahi appears to be a quite popular royal title in Afghanistan and the north-western areas of the Indo-Pakistani sub-continent. It was used by Achaemenids, Sakas, Kushanas, Hunas, Bactrians, by the rulers of Kapisa/Kabul and Gilgit. In Persian form, the title appears as *Ksbathiya*, *Ksbathiya Ksbathiyanam*, - Shao of the Kushanas and the *Ssaba* of Mihirakula (Huna chief). The Kushanas are stated to have adopted the title *Shab-in-shabi* ("*Shaonano shao*") in imitation of Achaemenid practice.

Ancient Jaina work *Kalakacarya-kathanaka* says that the rulers of the Sakas who had invaded Ujjaini/Malwa in 62 BCE also wore the titles of *Sabi* and *Sabnusabi*. Since the title *Shabi* was used by the rulers of *Kapisa/Kabul* or *Gandhara* also in imitation of Kushana "Shao", it has been

speculated by some writers that the Shahi dynasty of Kapisa/Kabul or Gandhara was a *foreign dynasty* and had descended from the Kushans or Turks (*Turushkas*). However, the title has been used by several rulers irrespective of any racial connotations and this may refute the above speculation. The Shahis of Kabul/Gandhara are generally split up into two eras — the Buddhist-Shahis and the Hindu-Shahis, with the change-over thought to have occurred sometime around 870 AD.

References

1. Sir Alexander Cunningham, (Sir, Major-General, and former Director-General of the Archeological Survey of India), *Coins of the Indo-Scythians, Sakas, and Kushans*, Indological Book House, Varanasi, India, 1971, first published in 1888.
2. Sir Alexander Cunningham, (Sir, Major-General, and former Director-General of the Archeological Survey of India), *Coins of the Indo-Scythians, Sakas, and Kushans*, Indological Book House, Varanasi, India, 1971, first published in 1888.
3. Sir Alexander Cunningham, (Sir, Major-General, and former Director-General of the Archeological Survey of India), *Coins of the Indo-Scythians, Sakas, and Kushans*, Indological Book House, Varanasi, India, 1971, first published in 1888.
4. Barstow, A.E., *The Sikhs: An Ethnology*, Reprinted by B.R. Publishing Corporation, Delhi, India, 1985, first published in 1928.
5. Latif, S.M., *History of the Panjab*, Reprinted by Progressive Books, Lahore, Pakistan, 1984, first published in 1891.
6. As in other compounds such as "French-Canadian", "African-American", "Indo-European" etc..., the area of origin usually comes first, and the area of arrival comes second, so that "Greco-Indian" is normally a more accurate nomenclature than "Indo-Greek". The latter however has become the general usage, especially since the publication of Narain's book "The Indo-Greeks".

M.A., PHD

Famines, Epidemics, and Public Health in the British Raj

Dr. Birendra Kumar Singh

Orissa Famine of 1866

The Orissa famine of 1866 affected the east coast of India from Madras upwards, an area covering 180,000 miles and containing a population of 47,500,000; the impact of the famine, however, was greatest in Orissa, which at that time was quite isolated from the rest of India. Causes-Like all Indian famines of the 19th-century, the Orissa famine was preceded by a drought: the population of the region depended on the rice crop of the winter season for their sustenance; however, the monsoon of 1865 was scanty and stopped prematurely. In addition, the Bengal Board of Revenue made incorrect estimates of the number of people who would need help and was misled by fictitious price lists. Consequently, as the food reserves began to dwindle, the gravity of the situation was not grasped until the end of May 1866, and by then the monsoons had set in.

Course and relief -Efforts to ship the food to the isolated province were hampered because of bad weather, and when some shipments did reach the coast of Orissa, they could not be moved inland. The British Indian government imported some 10,000 tons of rice, but they didn't reach the affected population before September. Although many people died of starvation, more were killed by cholera before the monsoons and by malaria afterwards. In Orissa alone, at least 1 million people, a third of the population, died in 1866, and overall in the region approximately 4 to 5 million died in the two-year period.

The heavy rains of 1866 also caused floods which destroyed the rice-crop in low-lying regions. Consequently, in the following year, another shortfall was expected, and the Government of British India imported approximately 40,000 tons of rice at four

times the usual price. However, this time they over-estimated the need and only half the rice was used by the time the summer monsoon of 1867 followed by a plentiful harvest, ended the famine in 1868. In the two years of the famine, the Government of British India spend approximately Rs. 95 lakhs on famine relief for 35 million units (*i.e.* one person per day); a large proportion of the cost, however, was the high price of the imported grain.

Rajputana Famine of 1869

The Rajputana famine of 1869 (also the Great Rajputana Famine, Bundelkhand and Upper Hindustan famine, Rajputana famine of 1868-70) affected an area of 296,000 square miles (770,000 km²) and a population of 44,500,000, primarily in the princely states of Rajputana, India, and the British territory of Ajmer; other areas affected included Gujarat, the North Deccan districts, the Jubbulpore division of the Central Provinces and Berar, the Agra and Bundelkhand division of the United Provinces, and the Hissar division of the Punjab. The monsoon of 1868 was late in coming and, moreover, when it came, was light and brief, lasting until only August 1868. There was shortage of fodder in most areas of Rajputana, and some areas had water shortage as well. Since the much needed grain could be brought in only on slow camel trains, the stricken areas were more or less inaccessible.

Many inhabitants of the famine-stricken regions of Rajputana (for example, two-thirds of the population of Marwar) emigrated with their livestock or herds. Initially, however, they did not go to the British territory of Ajmer, where relief works had been arranged; many wandered in search of food until they died from starvation. Late in 1868, epidemics of cholera broke out among the vulnerable population, and there was no harvest in the spring of 1869. In May 1869, many villagers, who had emigrated earlier, now returned to their villages believing that the rains that year would be early. However, the rains held off until mid-July, and, in the interim, many thousands more died of starvation. Even so, the autumn harvest promised to be abundant; however, swarms of locusts descended upon the fields and destroyed the young crops. In September and October 1869, there were heavy rains, which, although good for the spring harvest, caused an epidemic of malaria and killed many

more. Finally, the anticipated harvest of spring 1870 did arrive and ended the famine.

Having been criticized for the badly bungled relief effort during the Orissa famine of 1866, British authorities began to discuss famine policy soon afterwards, and, in early 1868, Sir William Muir, Lieutenant-Governor of Agra Province, issued a famous order stating that :

“every District officer would be held personally responsible that no deaths occurred from starvation which could have been avoided by any exertion or arrangement on his part or that of his subordinates.”

The Government of British India organized famine relief works in the British territory of Ajmer and in neighboring Agra Province of British India. In Ajmer, Rs. 49 lakhs were spent in the relief effort, Rs. 5 lakh in revenue remission, and Rs. 21 lakhs in a new scheme for agricultural credit. In Agra, another Rs. 30 lakhs were spent in relieving 29 million units (*i.e.* one person for one day). The princely states of Rajputana, however, provided very little relief: only Udaipur State spent Rs. 5 lakhs. Consequently, the immigration from the princely states into British India in the later stages of the famine began to overwhelm British efforts, and, in spite of Sir William Muir’s newly defined responsibility for each district officer, the resulting mortality was great. It is thought that over 1.5 million people died all over Rajputana during the famine

Bihar Famine of 1873–74

The Bihar famine of 1873–74 (also the Bengal famine of 1873–74) was a famine in India that

followed a drought in the province of Bihar and the neighboring provinces of Bengal and the United Provinces; it affected an area of 54,000 square miles (140,000 km²) and a population of 21.5 million. The relief effort—organized by Sir Richard Temple, the newly appointed Lieutenant-Governor of Bengal—was one of the success stories of the famine relief in British India; there was little or no mortality during the famine.

As the impending famine came to light, a decision was made at the highest level to save lives at any cost. Rs. 4 crores were spent on importing 450,000 tons of rice from Burma. Another Rs. 2.25 crores were spent in organizing relief for 300 million units (1 unit = one person for one day). In addition, for the first time, inspection of villages by the government officials was carried out in order to identify those in need of aid or employment. In Sir Richard Temple’s own description (in a contemporary correspondence), the generous aid allowed the labourers to stay in good physical condition and to return to their fields in a timely fashion when the rains finally arrived; in addition, their actions put to rest any fears among relief officials that the government handouts were making the labourers “dependent.” Road construction became a major project of the famine relief works; the *Road Cess Act of 1875*, established a fund for the “construction of roads, especially their metaling and bridging.” The construction of the Irrawaddy Valley State Railway in Burma, which began in 1874, also provided employment, in the earthworks, for many famine immigrants from

Bengal. The famine, however, proved to be less severe than had originally been anticipated, and 100,000 tons of grain was left unused at the end of the relief effort. According to some, the total government expense was 50 percent more than the total budget of a similar relief effort during the Maharashtra Famine of 1973 (in independent India), after adjusting for inflation. Since the expenditure associated with the relief effort was considered excessive at the time, Sir Richard Temple was criticized by various British officials. Taking the criticism to heart, he revised the official famine relief philosophy, which thereafter became concerned with thrift and efficiency. The relief efforts in the subsequent Great Famine of 1876–78 in Bombay and South India were therefore very modest, which in turn led to excessive mortality.

Great Famine of 1876–78

The Great Famine of 1876–78 (also the Southern India famine of 1876–78 or the Madras famine of 1877) was a famine in India that began in 1876 and affected south and southwestern India (Madras, Mysore, Hyderabad, and Bombay) for a period of two years. In its second year famine also spread north to some regions of the Central Provinces and the United Provinces, and to a small area in the Punjab. The famine ultimately covered an area of 257,000 square miles (670,000 km²) and caused distress to a population totalling 58,500,000.

The *Great Famine* was preceded by an intense drought (or “crop failure”) in the Deccan Plateau, which has been attributed to the

failure of the monsoon rains due to a very strong El Nino episode. Earlier, after the Bihar famine of 1873–74, in which mortality was avoided, the Government of Bengal and its Lieutenant-Governor, Sir Richard Temple, were criticized for excessive expenditure, which had included the costs of importing rice from Burma and providing generous charitable relief. Sensitive to any renewed accusations of excess in 1876, Temple, who was now Famine Commissioner for the Government of India, insisted not only on a policy of *laissez faire* with respect to the trade in grain, but also on stricter standards of qualification for relief and on more meager relief rations. Two kinds of relief were offered: “relief works” for able-bodied men, women, and working children, and gratuitous (or charitable) relief for small children, the elderly, and the indigent.

The insistence on more rigorous tests for qualification, however, led to strikes by “relief workers” in the Bombay presidency. Furthermore, in January 1877, Temple suggested that in Madras and Bombay, a reduced wage (the *Temple wage*) be adopted in the relief works; this consisted of 1 pounds (0.45 kilograms) of grain plus one anna for a man, and a slightly reduced amount for a woman or working child, for a “long day of hard labour without shade or rest.” The rationale behind the reduced wage, which was in keeping with a prevailing belief of the time, was that any excessive payment might create *dependency* (or “demoralization” in contemporaneous usage) among the famine-afflicted population.

However, Temple’s recommendation was opposed by W. R. Cornish, a physician who was the Sanitary Commissioner for the Madras Presidency. Cornish had investigated prison diets in India a decade earlier and was of the view that a minimum of 1.5 pounds (0.68 kg) of grain and, in addition, supplements in the form of vegetables and protein were needed for a healthy diet, especially if, in return, the individuals were performing strenuous labor in the relief works. Eventually, in March 1877, the provincial government of Madras, moved by Cornish’s argument, agreed on a compromise ration of 1.25 pounds (0.57 kg) of grain and 1.5 ounces (43 g) of protein in the form of *daal* (pulses), but not before more people had succumbed to the famine. In other parts of India, such as the United Provinces, where relief was meager, the resulting mortality was high. In the autumn and winter of 1878, an epidemic of malaria killed many more who were already weakened by malnutrition.

All in all, the Government of India spent Rs. 8 1/3 crores in relieving 700 million units (1 unit = relief for 1 person for 1 day) in British India and, in addition, another Rs. 72 lakhs in relieving 72 million units in the princely states of Mysore and Hyderabad. Revenue (tax) payments to the amount of Rs. 60 lakhs were either not enforced or postponed until the following year, and charitable donations from Great Britain and the colonies totaled Rs. 84 lakhs. However, this cost was small *per capita*; for example, the expenditure incurred in the Bombay Presidency was less than one-fifth of that in the Bihar famine of 1873–74, which affected a smaller area and did not last as long.

The mortality in the famine was exceedingly high; in the British areas alone, 5.25 to 5.5 million people died of starvation or disease. The excessive mortality of the *Great Famine* and the renewed questions of “relief and protection” that were asked in its wake, led directly to the constituting of the Famine Commission of 1880 and to the eventual adoption of the Provisional Famine Code in British India. After the famine, a large number of agricultural labourers and handloom weavers in South India emigrated to British tropical colonies to work as indentured labourers in plantations. The excessive mortality in the famine also neutralized the natural population growth in the Bombay and Madras presidencies during the decade between the first and second censuses of British India in 1871 and 1881 respectively.

The *Great Famine* was to have a lasting political impact on events in India; among the British administrators in India who were unsettled by the official reactions to the famine and, in particular by the stifling of the official debate about the best form of famine relief, were William Wedderburn and A. O. Hume. Less than a decade later, they would found the Indian National Congress and, in turn, influence a generation of nationalists such as Dadabhai Naoroji and Romesh Chunder Dutt for whom the *Great Famine* would become a cornerstone of the economic critique of the British Raj.

Indian Famine of 1896–1897

The Indian famine of 1896–1897 was a famine that began in

Bundelkhand, India, early in 1896 and spread to many parts of the country, including the United Provinces, the Central Provinces and Berar, Bihar, parts of the Bombay and Madras presidencies, and the Hissar district of the Punjab; in addition, the princely states of Rajputana, Central India Agency, and Hyderabad were affected by the famine. All in all, during the two years, the famine affected an area of 307,000 square miles (800,000 km²) and a population of 69.5 million. Although large-scale relief was offered throughout the famine-stricken regions in accordance with the Provisional Famine Code of 1883, the mortality, both from starvation and accompanying epidemics, was very high: approximately 1 million people are thought to have died as a result of the famine.

The Bundelkhand district of Agra Province experienced drought in the autumn of 1895 as a result of poor summer monsoon rains. When the winter monsoon failed as well, the provincial government declared a famine early in 1896 and began to organize relief. However, the summer monsoon of 1896 brought only scanty rains, and soon the famine had spread to the United Provinces, Central Provinces and Berar, portions of the presidencies of Bombay and Madras, and of the provinces of Bengal, Punjab, and even Upper Burma. The native states affected were Rajputana, Central India Agency, and Hyderabad. The famine affected mostly British India: of the total area of 307,000 square miles (800,000 km²) affected, 225,000 square miles (580,000 km²) lay in British

territory; similarly, of the total famine-afflicted population of 67.5 million, 62.5 million lived in British territory.

The summer monsoon rains of 1897, however, were abundant, as was the following harvest which ended the famine in Autumn 1897. However, the rains, which were particularly heavy in some regions set off a malaria epidemic which killed many people; soon thereafter, an epidemic of the bubonic plague began in the Bombay Presidency, which although not very lethal during the famine year, would, in the next decade, become more virulent and spread to the rest of India.

A decade earlier, in 1883, the Provisional Famine Code had been promulgated soon after the report of the first Indian Famine Commission was submitted in 1880. Now, guided by the Code, relief was organized for 821 million units at a cost of Rs. 7.25 crores (then approx. £4,833,500). Revenue (tax) was remitted to the tune of Rs. 1.25 crores (£833,350) and credit totalling Rs. 1.75 crores (£1,166,500) was given. A charitable relief fund collected a total of Rs. 1.75 crores (£1,166,500) of which Rs. 1.25 were collected in Great Britain.

Even so, the mortality resulting from the famine was great; it is thought that in the British territory alone, between 750,000 and 1 million people died of starvation. Although the famine relief was reasonably effective in the United Provinces, it failed in the Central Provinces, especially among tribal groups, who were reluctant to perform labor in public works in order to earn food rations, and who, according to Famine Code guidelines, did not qualify for

“charitable relief.” The Famine Commission of 1880 had made special provisions for the relief of weavers, who practised the only trade other than agriculture that employed rural Indians. The Commission had recommended that weavers be given relief by offering them monetary advances for weaving coarse cloth or wool that could then be used in poor-houses or hospitals. This was preferable, it was felt, to having them produce the finer cloth of their trade, such as silk, for which there was no demand during a famine.

However, by 1896, the rural weavers in the Bombay Presidency, who were now having to compete with the increasing number of local cotton mills, were already in dire economic straits. Consequently, when the famine began, not only were they the first to apply for relief, but also did so in numbers that were much larger than had been anticipated. Since the government could now offer only limited relief to them in their own trade because of the large capital required, the majority of weavers—either of their own accord or as a result of official dictate—sought the conventional “relief works,” which included earth-works and the breaking of rock and metal for building roads.

Farming in the dry Deccan region of the Bombay Presidency required more farm animals—typically bullocks to pull the heavier ploughs—than were needed in other, wetter, regions of India; often, up to six bullocks were needed for ploughing. For most of the first half of the 19th-century, farmers in the Deccan did not own enough bullocks to farm effectively. Consequently, many

plots were ploughed only once every three or four years. In the second half of the 19th-century, cattle numbers per farmer did increase, however, the cattle remained vulnerable to famines. When the crops failed, people were driven to change their diets and eat seeds and fodder. Consequently, many farm animals, especially bullocks, slowly starved. The famine of 1896–97 proved particularly devastating for bullocks; in some areas of the Bombay Presidency, their numbers had not recovered some 30 years later.

Epidemics

Epidemics of many diseases, especially cholera and malaria, usually accompanied famines. In 1897, an epidemic of the bubonic plague broke out as well in the Bombay Presidency and, in the next decade, would spread to many parts of the country. However, other diseases took a bigger toll during the famine of 1896–97.

Typically, deaths from cholera and dysentery and diarrhea peaked *before* the rains as large groups of people collected on a daily basis to receive famine relief. Malaria epidemics, on the other hand, usually began *after* the first rains when the famine-afflicted population left the relief-camps for their villages; there, new pools of standing water attracted the mosquito-borne virus to which their already enfeebled condition offered little resistance. The following table compares the number of deaths due to different diseases occurring in the famine year with the average number occurring in the five years preceding the famine in the Central Provinces and Berar and the Bombay Presidency. In each case, the mortality had increased during the famine year; this included the small number of officially registered suicides included in the “injuries” category below.

Death rates (per thousand) from different causes during the Indian famine of 1896–97

Cause of death	Central Provinces and Berar		Bombay Presidency	
	1891–95	1897	1891–95	1897
	Pre-famine years (average)	Famine year	Pre-famine years (average)	Famine year
Cholera	1.79	6.01	1.30	3.03
Smallpox	0.24	0.38	0.14	0.20
Fevers (especially Malaria)	21.28	40.98	21.12	24.59
Dysentery/Diarrhea	1.85	8.53	1.87	4.57
Injuries	0.56	0.79	0.31	0.37
All others and unknown	8.14	12.64	4.84	7.08
Combined Death Rate	33.86	69.34	29.58	39.84

Aftermath

Both the famine and the relief efforts were painstakingly analyzed by the Famine Commission of 1898 presided by Sir James Lyall, the Chief Commissioner of Central Provinces and Berar. The Commission affirmed the broad principles of famine relief enunciated by the first Famine Commission of 1880, but made a number of changes in implementation.

They recommended increasing the minimum wage in the “relief works,” and extending gratuitous (or charitable) relief during the rainy season. They also defined new rules for relief of “aboriginal and hill tribes” who had been found difficult to reach in 1896–97; in addition, they stressed generous remissions of land revenue. The recommendations were soon to be tested in the Indian famine of 1899–1900.

Common features of 19th-century famines in India

- There was no overall (aggregate) food shortage in India, although there were localized crop failures in the affected areas. The localized crop failures were in fact essential for the occurrence of the famine.
- The starvation deaths occurred among certain economic classes, which included landless labourers, artisans and petty traders and which constituted anywhere between 35% and 50% of the rural population. India’s agrarian economy during this time was still a *non-monetised exchange economy*. Agricultural labourers were either paid in kind (foodgrains) or partly in kind and partly in cash; similarly, artisans and service-workers were regulated by the *Jajmani* system, which consisted of a reciprocal social and economic arrangement between different castes in a village, and in which payments were made in the form of a fixed share in the harvest. Consequently, for a

large proportion of the rural population, the available food supply depended on their “employment entitlements,” or the demand among the primary (landed) food producers for their services, and this demand was the first to be affected in times of food shortage. A crop failure, therefore, could create a famine, not because it led to an aggregate shortage of food, but because it deprived a significant proportion of the population of the means to acquire food.

- In some cases, foodgrains were still being exported from the famine affected region during the time leading up to (and sometimes even after) the famine began.
- Foodgrain prices during the famine years in the affected areas were higher, but *not spectacularly higher*, than during normal years.

Famine Commissions and the Famine Code

The evidence from the 19th-century data suggests that localized crop failures led to famines not because they created aggregate food shortages, but because they drastically reduced the demand for the services of certain segments of the population and, consequently, deprived them of the means to acquire food. According to (Ghose 1982, p. 380), famines were therefore not natural phenomena, but rather a result of the breakdown, in the wake of localized crop failures, of the social and economic networks in the affected regions. The Famine Commission of 1880, appointed

by the Government of British India, described the situation with clarity and poignancy:”

“The first effect of a drought is to diminish greatly, and at last to stop, all field labour, and to throw out of employment the great mass of people who live on the wages of labour. A similar effect is produced next upon the artisans, the small shop-keepers, and traders, first in villages and country towns, and later on in the larger towns also, by depriving them of their profits, which are mainly dependent on dealings with the least wealthy classes; and, lastly, all classes become less able to give charitable help to public beggars, and to support their dependents. Such of the agricultural classes as possess a proprietary interest in the land, or a valuable right of occupancy in it, do not require as a rule to be protected against starvation in time of famine unless the calamity is unusually severe and prolonged, as they generally are provided with stocks of food or money, or have credit with money-lenders. But those who, owning only a small plot of land, eke out by its profits their wages as labourers, and rack-rented tenants-at-will living almost from hand-to-mouth, are only a little way removed from the class of field-labourers; they possess no credit, and on them pressure soon begins.”

References

- Ambirajan, S. (1976), “Malthusian Population Theory and Indian Famine Policy in the Nineteenth Century”, *Population Studies* 30 (1): 5-14
- Arnold, David & R. I. Moore (1991), *Famine: Social Crisis and Historical Change (New Perspectives on the Past)*, Wiley-Blackwell.
- Bhatia, B. M. (1991), *Famines in India:*

A Study in Some Aspects of the Economic History of India With Special Reference to Food Problem, 1860–1990, Stosius Inc/Advent Books Division.

- Dutt, Romesh Chunder (1900 (reprinted 2005)), *Open Letters to Lord Curzon on Famines and Land Assessments in India*, London: Kegan Paul, Trench, Trubner & Co. Ltd (reprinted by Adamant Media Corporation).
- Dyson, Tim (1991), “On the Demography of South Asian Famines: Part I”, *Population Studies*.
- Dyson, Tim (1991), “On the Demography of South Asian Famines: Part II”, *Population Studies*.
- Dyson, Time (ed.) (1989), *India’s Historical Demography: Studies in Famine, Disease and Society*, Riverdale MD: The Riverdale Company. Pp. ix, 296
- Famine Commission (1880), *Report of the Indian Famine Commission, Part I*, Calcutta
- Ghose, Ajit Kumar (1982), “Food Supply and Starvation: A Study of Famines with Reference to the Indian Subcontinent”, *Oxford Economic Papers, New Series* 34 (2): 368-389
- Government of India (1867), *Report of the Commissioners Appointed to Enquire into the Famine in Bengal and Orissa in 1866, Volumes I, II*, Calcutta
- Grada, Oscar O. (1997), “Markets and famines: A simple test with Indian data”, *Economic Letters* 57: 241-244
- Hall-Matthews, David (2008), “Inaccurate Conceptions: Disputed Measures of Nutritional Needs and Famine Deaths in Colonial India”, *Modern Asian Studies*.
- Hardiman, David (1996), “Usuary, Dearth and Famine in Western India”, *Past and Present* (no. 152): 113-156
- Hill, Christopher V. (1991), “Philosophy and Reality in Riparian South Asia: British Famine Policy and Migration in Colonial North India”, *Modern Asian Studies* 25 (2): 263-279
- Klein, Ira (1973), “Death in India, 1871-1921”, *The Journal of Asian Studies* 32 (4): 639-659
- McAlpin, Michelle B. (1983), “Famines, Epidemics, and Population Growth: The Case of India”, *Journal of Interdisciplinary History* 14 (2): 351-366

**PG Deptt of History,
BRA Bihar University,
Muzaffarpur**

History of Arabs in Afghanistan

Adarsh Kumar

Large groups of Sunni Arab living in the vicinity of Bokhara in Central Asia fled to northeastern Afghanistan following Russian conquests in the nineteenth century. By the 1880s they were, with the Uzbek with whom they established close ties, the second most populous ethnic group in present day Kunduz, Takhar and Baghlan provinces. Smaller groups settled in scattered communities as far west as Maimana, Faryab Province. The Arab are pastoralists who raise sheep and grow cotton and wheat. Some among the eastern groups make summer migrations of up to 300 kilometers to reach the lush high pastures in Badakhshan. Government development schemes, especially those which brought large numbers of Pushtun to the area in the 1940s, relegated the Arab to a small proportion of the population and the Arab ceased to hold a monopoly on long distance migration. Bilingual in Dari and Uzbeki, but speaking no Arabic, they continue to identify themselves as Arab although they have had no contact with the Arabs of the Middle East since the late fourteenth century.

The history of Arabs in Afghanistan spans over one millennium, from the 7th century Islamic conquest when ethnic Arab fighters battled or migrated to the area till the recent Soviet-Afghan War when they assisted fellow Muslims in fighting the Soviets and pro-Soviet Afghans. Most of the early Arabs gradually lost their Arabic hegemony and ultimately mixed with the local population, though they are still considered a cognizably distinct ethnic group according to Afghanistan's constitution and national anthem.

First Wave

At the end of the 7th century, the Umayyad Arabs entered into the area now known as Afghanistan after decisively defeating the Sassanians in Nihawand. Following this colossal defeat, the last Sassanid Emperor, Yazdegerd III, who became a hunted fugitive, fled eastward deep into Central Asia. In pursuing Yazdegerd, the route the Arabs selected to enter the area was from north-eastern Iran and

thereafter into Herat where they stationed a large portion of their army before advancing toward eastern Afghanistan. During this time, some Arabs settled in the area and married locals while adopting new customs. Other groups and contingents who elected not to settle gradually pushed eastwards but encountered resistance in areas surrounding Bamiyan. When ultimately arriving at Kabul, the Arabs confronted the Kabul Shahans who built a defensive wall, part of which still remains today.

The historical details of this battle remains largely unknown, though the Arabs were nonetheless victorious. Despite the lack of written accounts, another famous archaeological legacy of this battle remains standing in Kabul, notably the tomb of the Shah-e Do Shamshira (translated into, *The leader with the Two Swords* in Persian) next to the Shah-Do Shamshira Mosque. The site, located near Kabul's market district, was built near the area where an Arab commander died.

"Despite fighting heroically with a sword in each hand, one of the Muslim head commanders fell in battle. It is his memory that is honored by the mosque today. The two-story edifice was built in the 1920s on the order of King Amanullah's mother on the site of one of Kabul's first mosques."

Following the confrontation, the Arabs partially relinquished some of their territorial control though reasserted its authority approximately 50 years later in 750 A.D when the Abbasid caliphs replaced the Umayyads. By then, many Arabs increasingly blended with locals as the Arabic identity in region began to undergo a significant change. Arab contingents settled throughout various parts of present day Afghanistan including Wardak, Logar, Kabul and Balkh. They adopted local customs and Persian as their main language. Despite maintaining some clothing customs and attire, most of these Afghan-Arabs (or Arab-Afghans) gradually lost their original tongue of Arabic. This is confirmed in the 15th century work, Baburnama, which notes that the Arabs of Afghanistan have virtually lost the Arabic language and instead speak Persian. Although the exact number of Arab Afghans remains unknown, mostly due to ambiguous claims of descent, an 18th century academic estimated that the number of Afghan-Arabs/Arab-Afghans is at approximately 60,000 families.

Second Wave

After the Bolshevik Revolution, many Arabs residing in Bukhara and other areas of Central Asia migrated to Afghanistan where they were more able to practice their religion. One estimate indicated that approximately 30,000 Arabs lived in Bukhara during the mid-nineteenth century. The Arabs who entered into Afghanistan during this time still retained some Arabic in contrast to the Afghan Arabs who came during the first wave. Nevertheless, the Arabic they spoke was heavily mixed with Farsi and Uzbeki words. Additionally, many Arabs from the second wave were keen to mix with the local population as they adopted the languages of Northern Afghanistan, namely Uzbek, Turkmen, and Farsi. Many settled in Kunduz, Takhar and Sar-e Pol provinces. Currently, while they still view themselves as Arab, almost all the Arabs from the second wave have lost their language of Arabic and have completely blended with the local population. Many of these Afghan Arabs work in the agricultural industry, often growing cotton and wheat.

Third Wave

During the Soviet-Afghan War, many Muslims, most of them Arabs, came to Afghanistan to help Afghans fight the Marxist regime and Soviet military. Some remained and intermarried with local Afghans while others arrived with their families to Afghanistan. Kandahar is home to a sizeable Arab Cemetery that has become a frequently visited area of contemplation amongst locals who believe that touching the graves of Arab fighters and their families will

cure them of illnesses, including paralysis.

References

1. *History Of The Mohamedan Power In India* by Muhammad Qasim Hindu Oah Astarabadi Firiota, The Packard Humanities Institute Persian Texts in Translation.
2. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 181
3. Islamic Republic of Afghanistan – Office of the President
4. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 181
5. Culture and Customs of Afghanistan By Hafizullah Emadi, pg.27
6. The Survival Guide to Kabul - What to see
7. Afghanistan In A Nutshell By Amanda Roraback, pg. 9
8. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 181
9. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 182
10. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 182
11. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 183
12. An Ethnohistorical Dictionary of the Russian and Soviet Empires By James Stuart Olson, pg. 38
13. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 183
14. Arabic As a Minority Language By Jonathan Owens, pg. 184

Research Scholar, JP
University, Chapra

उपन्यास

राधारानी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
स्वामी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
आनन्दमठ	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
काशीनाथ	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	125.00
शिकारी	अगाथ क्रिस्टी	200.00
बफीली आंधी	अलेक्सान्द्र पुरिकन	125.00
यामा, भाग-1	अलैकजेंडर कुप्रिन	225.00
यामा, भाग-2	अलैकजेंडर कुप्रिन	225.00
फर्ज	राकेश चक्र	125.00
आहुति	सी. रंजन	250.00
महानायिका	सी. रंजन	300.00
द गेट वे ऑफ इंडिया	सी. रंजन	300.00
गरीबी जुर्म नहीं	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	100.00
कमाई की जगह	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
दर्द भरा दिल	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)	देवकी नन्दन खत्री	2400.00
चन्द्रकांता संतति	देवकी नन्दन खत्री	200.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

Farmers' Movements in India

Dr. Rajeev Kumar

The farmers in India had to undergo great struggle in all the states to stop exploitation by the Jagirdars and Zamindars. Some of the movements were successful, but others failed. The Kisan Sabha movement started in Bihar under the leadership of Swami Sahajanand Saraswati who had formed in 1929 the Bihar Provincial Kisan Sabha (BPKS) in order to mobilise peasant grievances against the zamindari attacks on their occupancy rights. Gradually the peasant movement intensified and spread across the rest of India. All these radical developments on the peasant front culminated in the formation of the All India Kisan Sabha (AIKS) at the Lucknow session of the Indian National Congress in April 1936 with Swami Sahajanand Saraswati elected as its first President. The farmer movements also started in 1907 under the leadership of Sardar Ajit Singh and in 1921 under Sardar Vallabhbhai Patel were successes, but others, such as the revolts in Chauri Chaura, Avadh and Mopla, were great losses. D. D. Kosambi and R.S. Sharma, together with Daniel Thorner, brought peasants into the study of Indian history for the first time."

At the global level the French Revolution had changed the course of history, as it was the working class which became the vanguard of revolution in Europe. During the first half of the 20th century, national liberation struggles started against colonisation. In these colonies, very little industry was present and their working class, if it existed at all, was still in infancy, making the impetus for these rebellions have to come from somewhere else. It was Mao's peasant revolution in China which became a catalyst for national liberation movements in many colonies, including India.

Farmer Movements in Punjab

It was in Punjab that India's first farmers' movement emerged. The role played by Ghadar party,

led by Raja Mahendra Pratap, in the political awakening of India was an important step. The Sikhs of Punjab were the first to migrate to the United States and Canada in the 19th century. They financed and helped the formation of Ghadar party which when gave the call to Indians abroad to return home and fight British imperialism, had its call immediately heeded to. The majority of those who did return, 8000 of them comprised Punjab's Sikhs. Despite its apparent failure, the Ghadar Movement was to have a powerful impact on Punjab politics and especially on the peasants. It established a tradition of militant and secular anti-imperialism, enriched in subsequent years by social radicalism, which was to continue to inspire subsequent generations. The peasant conferences were held in Lahore, Faislabad, Lyallpur and other places of West Punjab — the most famous of them being 1938-39 Long Morcha in Lahore when peasants from all over Punjab courted arrests for nine months in front of the assembly building.

The slogan of *Pagri Sambhal O jatta* (Hold your head high, O peasant) was first raised at a mass gathering in Lyallpur in 1907. Ten Thousand people — the Hindus, the Muslims and the Sikhs alike — attended this gathering.

Farmers' Movements in Gujarat

Mahatma Gandhi had led two great revolts of communities of poor Indian farmers against the tyranny of the British government and allied landlords in Champaran, Bihar, and Kheda, Gujarat. Success in both struggles had helped win the farmers economic and civil rights, and electrified India's people.

In 1920, the Indian National Congress under Gandhi's leadership launched the Non-Cooperation Movement. Millions of Indians revolted against the British, boycotting the courts, government services, schools and disavowing titles, pensions and British clothes and goods. The freedom fighters, known as *Satyagrahis*, peacefully protested authoritarian British laws, and called for India's independence. Many thousands were beaten, tortured and arrested.

Bardoli Satyagraha

Bardoli Satyagraha of 1925 in the state of Gujarat, India during the British Raj was a major episode of civil disobedience and revolt in the Indian

Independence Movement. In 1925, the taluka of Bardoli in Gujarat suffered from floods and famine, which hurt the crop produce, leaving farmers facing great financial troubles. However, the Government of the Bombay Presidency had raised the tax rate by 30% that year, and despite petitions from civic groups, refused to cancel the rise in face of the calamities. The situation for the farmers was grave enough, that they barely had enough property and crops to pay-off the tax, let alone for feeding themselves afterwards.

The Gujarati activists Narhari Parikh, Ravi Shankar Vyas and Mohanlal Pandya talked to village chieftains and farmers, and solicited the help of Gujarat's most prominent freedom fighter, Vallabhbhai Patel. Patel had previously guided Gujarat's farmers during the Kheda struggle, and had served recently as Ahmedabad's municipal president. He was widely respected by common Gujaratis across the state. Patel and Gandhi decided that the struggle be left entirely to the people of Bardoli taluka.

Governor of Bombay ignored the request made by Patel to reduce taxes but reciprocated by announcing the date of collection. Patel instructed all the farmers of Bardoli taluka to refuse payment of their taxes. Aided by Parikh, Vyas and Pandya, he divided Bardoli into several zones - each with a leader and volunteers specifically assigned. Patel also placed some Gujarati activists close to the government, to act as informers on the movements of government officials. Patel instructed the farmers to remain

completely non-violent, and not respond physically to any incitements or aggressive actions from officials. He reassured them that the struggle would not end until not only the cancellation of all taxes for the year, but also when all the seized property and lands were returned to rightful owners.

The Government declared that it would crush the revolt. Along with tax inspectors, bands of Pathans were gathered from northwest India to forcibly seize the property of the villagers and terrorize them. The Pathans and the men of the collectors forced themselves into the houses, took all property, including cattle.

The government began to auction the houses and the lands. But not a single man from Gujarat or anywhere else in India came forward to buy them. Patel had appointed volunteers in every village to keep watch. As soon as he sighted the officials who were coming to auction the property, the volunteer would sound his bugle. The farmers would leave the village and hide in the jungles. The officials would find the entire village empty. They could never find out who owned a particular house.

Members of the legislative councils of Bombay and across India were angered by the terrible treatment of the protesting farmers. Indian members resigned their offices, and expressed open support of the farmers. Even many in the Raj's offices heavily criticized the Government.

In 1928, an agreement was finally brokered by a Parsi member of the Bombay government. The Government agreed to restore the confiscated lands and properties,

as well as cancel revenue payment not only for the year, but cancel the 30% raise until after the succeeding year.

While Patel credited Gandhi's teachings and the farmers' undying resolve, people across the nation recognized his vital leadership. Gandhi and his fellow satyagrahis called him *Sardar* for the first time, which in Gujarati and most Indian languages means *Chief or Leader*. It was after Bardoli, that Sardar Patel became one of India's most important leaders.

Farmer Movements in Rajasthan

Rajasthan is known as the land of kings and palaces and whose history is replete with encomium of their kings, the land known for "Sati", the land known for its vast tracts of deserts was witness to a history in making, the successful agitation of farmers and peasants for their right to livelihood.

The twenty-two princely states of erstwhile Rajputana state did not form a common political collectivity which can be termed as a unified political action model. Each state had its own territorial area, which was exclusive politically in that it had its separate administration and army. Each state retained its cultural and linguistic distinctiveness. Political authority varied from ruler to ruler depending upon the terms of contract or covenant with the paramount power dating back to the period of subsidiary alliance of Lord Wellesley. Obviously in a state like this, the freedom movement was bound to be divided and segmented, depending upon the degree of unity and cohesiveness among political players in each

state. The two states of Jaipur and Jodhpur provided differential patterns of political movements.

Justice Kan Singh Parihar, the retired Judge of High Court of Rajasthan, has written about exploitation of farmers by Jagirdars prior to Independence as under:

“Every thing that the Kisan had, never treated as his own. In Jagir areas all cultivators were really landless. There was no tenancy law and one could be thrown away from the land one cultivated at the pleasure of Jagirdar, his ‘malik’. In most of the Jagirs a Jagirdar would in the first instance be taking fifty percent of the produce. This would be taken by actual division of the produce on the thrashing floor or by appraisal of the standing crop (kunta). Then over and above the share of the produce the Kisan had to pay numerous ‘lags’ or cesses. Together with the share of the produce known as ‘Hasil’ these cesses meant that the Kisans had to part with more than eighty percent of their produce. The findings of the Sukhdeonarain Committee in the years 1940-42 bear this out. If a Kisan had to marry his daughter he had to pay ‘Chavri Lag’, if he held a dinner then a ‘Kansa Lag’; if members of the family separated then ‘Dhunwa Lag’ and so on. If the Jagirdar had a guest then fodder for his mount had to be supplied. Then there was ‘begar’ that is forced labour, for tilling the personal lands of the Jagirdar. The homestead in which the Kisan lived in the Abadi had to be vacated in case he ceased cultivating the land. He could not alienate the plot to anyone.”

Shri Kan Singh Parihar played a great role in drafting and enactment of Marwar Tenancy Act of 1949 and Marwar Land Revenue Act of 1949. Shri Parihar's idea of fixing all tenants in cultivatory possession as Khatedar thus making all of them almost the proprietors of all their fields, wells

etc. without paying any premium or compensation and further being relieved from paying any lag bag (Cesses) etc., impacted these documents. This Marwar Tenancy Act of 1949 and Marwar Land Revenue Act of 1949 became a role model for the Rajasthan Assembly in 1955 and similar laws were passed based on these Acts, thus greatly benefiting the farmers of Rajasthan.

Shekhawati Farmers' Movement

The farmers of the Shekhawati region are considered to be the most advanced in the state of Rajasthan. The Shekhawati region has the highest literacy in the state. The most dominating farmer community in the rural areas of Shekhawati is Jat. The Jats are politically and economically very sound. The major land holdings in the present times are with Jats. Then comes the Rajput community who were the jagirdars before independence. The farmers of the region have done great struggle to come to the present status.

Before independence the conditions of the farmers were worst. The farmers of the Shekhawati region were exploited and oppressed by the Jagirdars during British Raj. They were deprived of fundamental rights. They were given inhuman treatment when the Jagirdars did not get cesses known as *lag* (tax) or *begar* (unpaid work) in time, they were given hard punishments and their crop used to be destroyed. There were 37 kinds of *begars* (work without pay) prevalent in Shekhawati. A newly married bride was forced to go first to Jagirdar.

The Shekhawati Jat farmers' movement had its genesis in the Jat Praja Pati Maha-Yagna a socio-religious festival held in January, 1934. It lasted ten days and was the biggest of its kind in Rajputana. It facilitated a widespread involvement of Jats in a community festival. Each Jat household attending it was to contribute some cash and an unspecified quantity of ghee. A total of two hundred maunds of ghee were used in the sacrificial flame. The function concluded with a triumphal elephant ride hitherto prohibited by the rules of Sikar Thikana. The success of this movement encouraged the Jats to hold more meetings on local levels and print literature to glorify Jat history. The Yagna became a dominant symbol of folklore which glorified it as the beginning of an anti-feudal struggle. The peasants demanded remissions in taxes and finally a Jat-Sikar Thikana Agreement was signed on August 23, 1934, by which the Thikana authorities conceded to abolish various lags (taxes) and agreed to provide for a mobile dispensary. The following year, the Kisan Sabha formally came into existence and under its aegis the famous Sikar Andolan of 1935 was launched. With outside mediation efforts of Jarnalal Bajaj, Sir Chhotu Ram - a renowned Jat leader of Punjab and Ratan Singh of All India Jat Mahasabha, a settlement was arrived at and the Jats were promised remissions of rent, abolition of internal cesses and an introduction of fixed rent tenure. The Jats were also promised equal opportunities in Thikana administration and were permitted to ride elephants and horses and to construct schools for their

children. The formation of a Jat Kisan Panchayat was officially sanctioned and the right to agitate for redressal of grievances in non-Khalsa areas was conceded. Much however, could not be made out of these agreements for two reasons. First, the subordinate Thikanedars of Sikar did not fully cooperate with Sikar authorities to ensure compliance with the terms of these agreements. Secondly, the beginning of settlement operations and reform of revenue administration was a time-consuming process which entailed enormous delay. This was interpreted by the Jats as a breach of agreement and hence, they indulged in acts of disorder and violence, which were perceived by Thikana authorities as signs of bad faith. In the meanwhile two unsavoury incidents led to a termination of agreements. The first, occurred at Khudi village, where the sight of Jat bridegroom riding a horse incensed the local Rajputs and the two sides readied themselves for an armed combat. The state authorities asked the two parties to disperse but the Jats refused. The state police charged and in the melee that followed, several people were injured. The second incident took place at Kudan village, where about one hundred armed Jats attacked Sikar revenue officials. The police fired upon the armed mob, which resulted in several casualties and injuries. A total of 104 Jats were arrested.

Farmers of the Shekhawati, mainly the Jats, united against oppression of Jagirdars by forming 'Sikar Jat-Kisan-Panchayat' and stopped giving "lags" or cesses to the Jagirdars. The 'Jaipur Praja-Mandal' also supported the

Shekhawati farmers' movement against abolition of Jagirdari system. The leaders of 'Bijoria-Kisan-Movement' of 1922, 1931, and 1932 supported the movement of Shekhawati farmers. The Jagirdars tried to suppress the movement in many ways. Many farmers were killed and a large number were sent to jail. A Jat farmer was beaten to death in the market of Sikar town; his dead body was thrown and insulted. This movement got support from famous Kisan leaders like, Baldev Ram Mirdha, Nathuram Mirdha and Kumbharam Arya. After a long struggle the farmers got rid of oppression and got the ownership right over the land they were cultivating.

Shekhawati farmers' movement against abolition of Jagirs got great support from outside Kisan leaders like Sir Chhotu Ram from Haryana, Kunwar Ratan Singh and Thakur Deshraj from Bharatpur, Kunwar Hukum Singh from Aangai.

Marwar Farmers' Movement

The farmers of the Marwar region are considered to be the most simple in the state of Rajasthan. The most dominating farmer community in the rural areas of Marwar is Jat. The Jats are politically and economically very sound. The major land holdings in the present times are with Jats.

Though the position of *Kisan* (farmer) in what was *Khalsa* (under the direct control of the state) was better in comparison to a Kisan of the Jagir areas, he was only a little above a beast of burden. In Jagir areas of Marwar state before independence all cultivators were

really landless. There was no tenancy Law and one could be thrown away from the land one cultivated at the pleasure of Jagirdar, his "malik". In most of the Jagirs a Jagirdar would in the first instance be taking fifty percent of the produce. This would be taken by actual division of the produce on the thrashing floor or by appraisal of the standing crop (*keunta*). The latter method proved at times more onerous as the appraisal depended on the whims of the *Kamdar*. Then over and above the share of the produce the farmer had to pay numerous "lags" or cesses. There were 64 kinds of *begars* (work without pay) prevalent in Marwar. Then the bigger Jagirdars had judicial powers including magisterial powers. Further they had their own police force besides the revenue staff. This enabled them to keep their stronghold on the farmers. Over and above this policy of divide and rule was fully practiced. By offering the temptation of giving better land for cultivation one farmer would be set against another. There were no schools worth the name in rural areas and the masses were steeped in ignorance.

The oppression of the public by traditional Samantas (chiefs) and Jagirdars (feudatories) of Marwar state made their life difficult, which led to a class war. In urban areas, Jaynarayan Vyas started agitation against oppression, under the banner of "Marwar Lok Parishad" founded on 16 May 1938. This movement was supported by National Congress. The persons who played important role in "Marwar Lok Parishad" were: Shiv Dayal Dave and Jorawar Singh Oswal of Nagaur, Rajpurohit Manji Jagarwal of Bagra, Marwar

(Jalore District), Kishanlal Sahu, Manak Chand Konari and Sari Mal of Kuchaman City, Tulsiram of Didwana, Srikishan Pandit of Kolia and Sukhdev Dipankar of Ladnu.

Rural masses of Marwar were united by Kisan Kesari-Baldev Ram Mirdha under the banner of "Marwar Kisan Sabha" founded in 1940. After the formation of Rajasthan, Baldev Ram Mirdha who had by then retired from Government service formed the "Rajasthan Kisan Sabha" and unified the *Kisans* of Rajasthan under its banner. He was its first president. Since the broad objectives of the *Kisan Sabha* and the congress were identical the congress leaders approached Baldev Ram Mirdha to unite the Rajasthan *Kisan Sabha* with the Congress. Baldev Ram Mirdha was a visionary and he realized that the two could not and should not remain separate. Therefore, he just made one demand from the national leaders that the Jagirs be abolished forthwith in Rajasthan. This was agreed to by the Congress high command with the result that the Jagirs were soon abolished. A tenancy law was passed and the cultivating farmers were made the owners of the land.

Gharsana Farmers' Movement

The tehsil town of Gharsana and the neighbouring Raola in Sriganganagar district of Rajasthan is currently site of clashes between the police and the farmers agitating for irrigation water. The farmers, and their leaders who led the agitation under the banner of Kisan Mazdoor Vyapari Sangarsh Samiti, were either nursing their injured or in hiding. About 20

injured have been admitted to the Gharsana hospital and the district hospital in Sriganganagar. The authorities said curfew was clamped in Raola as a precautionary measure as in the previous agitation by the farmers on the same issue in October-November 2004 both Raola and Gharsana had witnessed serious violence.

Earlier in October 2004, Defying prohibitory orders, hundreds of farmers had gheraoed the SDM's office at Gharsana town in Sriganganagar district, reviving their agitation for irrigation water after the October 27, police firing which claimed five lives. With a view to appeasing the agitating farmers, the Vasundhara Raje Government ordered the removal of the Divisional Commissioner of the region, Mr Ramavtar Raghuvanshi, and Superintendent of Police, Mr Sunil Dutt, while two officers of the Rajasthan Administrative Service, Mr Indra Singh Rao and Mr Hitesh Kumar, have been placed under suspension. The farmers' agitation led the Government to impose curfew in July 2005 also.

Farmers of Gharsana, at Ganganagar in Rajasthan, are on path of confrontation with the BJP government for the release of water from Pong Dam to the Phase I areas of Indira Gandhi Canal, the lifeline of farmers in the Gharsana-Raola agriculture belt. At a juncture when India is importing wheat from other countries, the state government is dissuading farmers in the region from cultivating wheat during the rabi season. The farmers have been told to sow barley or mustard, rather than wheat, which is a water-intensive crop. The movement has gained

momentum with the Kisan Mazdoor Vyapari Sangharsh Samiti, the committee of farmers, labourers and agro-traders of the region deciding to go ahead with sowing wheat. The strife over water has seen the peasants and the state administration clash often in the past three years. Seven farmers were killed and many were injured when police fired at protesters in 2004.

Peasant Movement TEVAGA in West Bengal just before Independence, 1946, Farmers of Nandigram, Satahata and Mahishadal of South Midnapore District revolt against Zamindari Pratha. They demand that 1/3 cultivated crops would get Zamindar and 2/3 is their share. Bimala Majee, Ananta Majee and Bhupal Panda were the leaders of Tevaga in South Midnapore. Hindu and Muslim peasants unitedly fight against Zaminders, Zotdars. Participation of Hindu and Muslim women were significant in Tevaga. Tevaga continues till 1949.

References

1. Bandyopadhyaya, Úekhara (2004). *From Plassey to Partition: A History of Modern India*. Orient Longman.
2. Bandyopadhyaya, Úekhara (2004). *From Plassey to Partition: A History of Modern India*. Orient Longman.
3. Dr Natthan Singh, *Jat-Itibas*, (Jat History), Jat Samaj Kalyan Parishad, F-13, Dr Rajendra Prasad Colony, Tansen marg, Gwalior, M.P, India.
4. Habib, Irfan (Seventh reprint 2007). *Essays in Indian History*. Tulika.
5. Dr Vir Singh, *The Jats- their role and contribution to the socio political life and Polity of North and north West India- Vol 2*. Edited and compiled by Dr Vir Singh
6. Justice Kan Singh Parihar, *SOUVENIR-1998 of Parivar Parichay*, page 47, Published by – The souvenir sub committee of Parivar Parichay, 4/28, Lodi Colony, New Delhi – 110003,

Muslim Conquest in the Indian Subcontinent

Nand Kishore Ram

The Muslim conquest in the Indian subcontinent mainly took place from the 11th to the 17th centuries, though earlier Muslim conquests made limited inroads into the region, beginning during the period of the ascendancy of the Rajput Kingdoms in North India, from the 7th century onwards.

Throughout its history the Indian subcontinent has been frequently subject to invasion, from the North-West by Central Asian nomadic tribes and the Persian Empire. With the fall of the Sassanids and the arrival of the Caliphates, these regions were integrated into Muslim dynasties of Central Asian heritage; initially Turkic people and later Mongol and Turco-Mongol people. Unlike earlier conquerors who assimilated into prevalent social systems, Muslim conquerors retained their Islamic identity and created legal and administrative systems that challenged and destroyed existing systems of social conduct, culture, religious practices, lifestyle and ethics.

The first foray by the new Muslim successor states of the Sassanid Empire occurred around 664 CE during the Umayyad Caliphate, led by Al Muhallab ibn Abi Suffrah towards Multan in Southern Punjab, in modern day Pakistan. Al Muhallab's expeditions were not aimed at conquest, though they penetrated only as far as the capital of the Maili, he returned with wealth and prisoners of war. This was an Arab incursion and part of the early Umayyad push onwards from the Islamic conquest of Persia into Central Asia, and within the limits of the eastern borders of previous Persian empires. The last Arab push in the region would be towards the end of Umayyad reign under Muhammad bin Qasim, after whom the Arabs would be defeated by the Rajputs at the Battle of Rajasthan in 738, and Muslim incursions would only be resumed under later

Turkic and Afghan dynasties with more local capitals, who supplanted the Caliphate and expanded their domains both northwards and eastwards.

It took several centuries for Islam to spread across India and how it did so is a topic of intense debate. Some quarters hold that Hindus were forcibly converted to Islam by the establishment of Jizya and Dhimmitude favoring Muslim citizens, and the threat of naked force. Others hold that it occurred through inter-marriage, conversions, economic integration, to escape caste structures, and through the influence of Sufi preachers.

Expansion of Trade

Islam's impact was the most notable in the expansion of trade. The first contact of Muslims with India, was the Arab attack on a nest of pirates near modern-day Bombay, to safeguard their trade in the Arabian Sea. Around the same time many Arabs settled at Indian ports, giving rise to small Muslim communities. The growth of these communities was not only due to conversion, but also the fact that many Hindu kings of south India (such as those from Cholas) hired Muslims as mercenaries.

A significant aspect of the Muslim period in world history was the emergence of Islamic Sharia courts capable of imposing a common commercial and legal system that extended from Morocco in the West to Mongolia in the North East and Indonesia in the South East. While southern India was already in trade with Arabs/Muslims, northern India found new opportunities. As the Hindu and Buddhist kingdoms of Asia were subjugated by Islam, and as Islam spread through Africa - it became a highly centralizing force that facilitated in the creation of a common legal system that allowed letters of credit issued in say Egypt or Tunisia to be honoured in India or Indonesia (The Sharia has laws on the transaction of Business with both Muslims and Kaffirs). In order to cement their rule, Muslim rulers initially promoted a system in which there was a revolving door between the clergy, the administrative nobility and the mercantile classes. The travels of explorer Muhammad Ibn-Abdullah Ibn-Batuta were eased because of this system. He served as an Imam in Delhi, as a judicial official in the Maldives, and as an envoy and trader in the Malabar. There was never a contradiction in any of his positions

because each of these roles complemented the other. Islam created a compact under which political power, law and religion became fused in a manner so as to safeguard the interests of the mercantile class. This led world trade to expand to the maximum extent possible in the medieval world. Sher Shah Suri took initiatives in improvement of trade by abolishing all taxes which hindered progress of free trade. He built large networks of roads and constructed Grand Trunk Road (1540-1544), which connected Calcutta to Kabul, of which parts of it are still in use today.

Spread of Technology

With the growth of international trade also came the spread of manufacturing technology and an urban culture. Local inventions and regional technologies became easily globalized. This was of profound importance to those parts of the world that had lagged in terms of technological development. On the other hand, for a nation like India which had had a rich intellectual tradition of its own, and was already a relatively advanced civilization, this may have been of lesser import. Although there is considerable debate amongst historians as to how much technology was actually brought into India by Muslims, there is one (albeit controversial) school of thought that argues that inventions like the water-wheel for irrigation were imported during the Muslim period. In some other cases, the evidence is much clearer. The use of ceramic tiles in construction was inspired by architectural traditions prevalent in Iraq, Iran, and in Central Asia. Rajasthan's blue

pottery was an adaptation of Chinese pottery which was imported in large quantities by the Mughal rulers. There is also the example of Sultan Abidin (1420-70) sending Kashmiri artisans to Samarqand to learn book-binding and paper making.

Cultural Influence

The divide and rule policies, two-nation theory, and subsequent partition of India in the wake of Independence from the British Empire has polarized the sub-continental psyche, making objective assessment hard in comparison to the other settled agricultural societies of India from the North West. Muslim rule differed from these others in the level of assimilation and syncretism that occurred. They retained their identity and introduced legal and administrative systems that superseded existing systems of social conduct and ethics. While this was a source of friction it resulted in a unique experience the legacy of which is a Muslim community strongly Islamic in character while at the same time distinctive and unique among its peers.

The impact of Islam on Indian culture has been inestimable. It permanently influenced the development of all areas of human endeavour - language, dress, cuisine, all the art forms, architecture and urban design, and social customs and values. Conversely, the languages of the Muslim invaders were modified by contact with local languages, to Urdu, which uses the Arabic script. This language was also known as Hindustani, an umbrella term used for the vernacular terminology of Urdu as well as Hindi, both major

languages in the Indian subcontinent today.

Muslim rule saw a greater urbanization of India and the rise of many cities and their urban cultures. The biggest impact was upon trade resulting from a common commercial and legal system extending from Morocco to Indonesia. This change of emphasis on mercantilism and trade from the more strongly centralized governance systems further clashed with the agricultural based traditional economy and also provided fuel for social and political tensions.

A related development to the shifting economic conditions was the establishment of Karkhanas, or small factories and the import and dissemination of technology through India and the rest of the world. The use of ceramic tiles was adopted from architectural traditions of Iraq, Iran, and Central Asia. Rajasthan's blue pottery was a local variation of imported Chinese pottery. There is also the example of Sultan Abidin (1420-70) sending Kashmiri artisans to Samarqand to learn book-binding and paper making. Khurja and Siwan became renowned for pottery, Moradabad for brass ware, Mirzapur for carpets, Firozabad for glass wares, Farrukhabad for printing, Sahranpur and Nagina for wood-carving, Bidar and Lucknow for bidriware, Srinagar for papier-mache, Benaras for jewelry and textiles, and so on. On the flip-side encouraging such growth also resulted in higher taxes on the peasantry.

Numerous Indian scientific and mathematical advances and the Hindu numerals were spread to the rest of the world and much of the

scholarly work and advances in the sciences of the age under Muslim nations across the globe were imported by the liberal patronage of Arts and Sciences by the rulers. The languages brought by Islam were modified by contact with local languages leading to the creation of several new languages, such as Urdu, which uses the modified Arabic script, but with more Persian words. The influences of these languages exist in several dialects in India today.

Islamic and Mughal architecture and art is widely noticeable in India, examples being the Taj Mahal and Jama Masjid.

The cultural practices of *jauhar* and *sati*, practiced by some Hindu communities, arose in response to periods of threat during the Muslim conquest to prevent kidnapping or capturing of Hindu women to be married to Muslim rulers, nobles or high officials, which was then considered a holy act of *jihād* and occurred in significant numbers.

Destruction of Temples

Nalanda

In 1193, the Nalanda University complex was destroyed by Turkish Muslim invaders under Bakhtiyar Khalji; this event is seen as the final milestone in the decline of Buddhism in India. He also burned Nalanda's major Buddhist library and Vikramshila University, as well as numerous Buddhist monasteries in India. When the Tibetan translator, Chag Lotsawa Dharmasvamin (Chag Lo-tsa-ba, 1197 - 1264), visited northern India in 1235, Nalanda was damaged, looted, and largely deserted, but

still standing and functioning with seventy students. Mahabodhi, Sompura, Vajrasan and other important monasteries were found to be untouched. The Ghuri ravages only afflicted those monasteries that lay in the direct of their advance and were fortified in the manner of defensive forts.

By the end of the 12th century, following the Muslim conquest of the Buddhist stronghold in Bihar, Buddhism having already declined in the south declined in the North as well as survivors retreated to Nepal, Sikkim and Tibet or escaped to the South of the sub-continent. Hinduism and Jainism survived because they did not have large centres of worship and devotion based around heavily fortified monasteries.

Vijayanagara

The city flourished between the 14th century and 16th century, during the height of the Vijayanagar Empire. During this time, it was often in conflict with the kingdoms which rose in the Northern Deccan, and which are often collectively termed the Deccan Sultanates. The period saw brutalities from both sides. In 1366, Bukka I captured the Muslim region of Mudkal and slaughtered all but one inhabitant. The lone survivor of this carnage is supposed to have taken the news to Mohammad Shah, the Sultan of the Bahamani sultanate. In response the sultan ravaged the Hindus. In 1565, the empire's armies suffered a massive and catastrophic defeat at by an alliance of the Sultanates, and the capital was taken. The victorious armies then razed, depopulated and destroyed the city over several

months. The empire continued in slow decline, but the original capital was not reoccupied or rebuilt.

Somanath

The first temple of Somnath existed before the beginning of the Christian era.

The second temple, built by the Maitraka kings of Vallabhi in Gujarat, replaced the first one on the same site around 649. In 725 Junayad, the Arab governor of Sind, sent his armies to destroy the second temple.

The Pratihara king Nagabhata II constructed the third temple in 815, a large structure of red sandstone. Mahmud of Ghazni attacked this temple in 1026, looted its gems and precious stones, massacred the worshippers and burned it. It was then that the famous Shivalinga of the temple was entirely destroyed.

The fourth temple was built by the Paramara King Bhoj of Malwa and the Solanki king Bhima of Gujarat (Anhilwara) between 1026 and 1042. The temple was razed in 1297 when the Sultanate of Delhi conquered Gujarat, and again in 1394. Mughal Emperor Aurangzeb destroyed the temple again in 1706.

References

- Peter van der Veer, *“Religious Nationalism: Hindus and Muslims in India”*, University of California Press, February 7, 1994.
- Memoir of the Emperor Timur (Malfuzat-i Timur) Timur's memoirs on his invasion of India; Compiled in the book: *“The History of India, as Told by Its Own Historians. The Muhammadan Period”*, by Sir H. M. Elliot, Edited by John Dowson; London, Trubner Company; 1867–1877

NET Qualified

Science and Technology in Ancient India

Dharmendra Dhari Singh

The history of science and technology in Ancient India begins with prehistoric human activity at Mehrgarh, in present-day Pakistan, and continues through the Indus Valley Civilization to early states and empires. Of note is the advent of Islam which introduced new technologies leading to a diffusion of both indigenous and foreign sciences. The British colonial rule introduced western education in India. The British system of education, in its efforts to give rise to a native class of civil servants, exposed a number of Indians to foreign institutes of higher learning. Following independence science and technology in the Republic of India has included automobile engineering, information technology, communications as well as space, polar, and nuclear sciences.

Prehistory

Prehistoric activity at Mehrgarh, an archaeological site in present-day Pakistan, has yielded evidence of domestication of plants and animals between 9000-8000 BCE. Housing in Mehrgarh consisted of unplanned groups of houses, having up to 3-4 rooms each, constructed with mud-bricks. Planned structures with provisions for storage of grains and other necessities appeared subsequently. Mehrgarh has yielded evidence of dentistry being practiced by 7000 BCE. This form of dentistry involved curing tooth related disorders with drills—operated, perhaps, by skilled bead craftsmen. Modern reconstruction of this form of dentistry has showed that the methods used were reliable and effective. Settled agriculture led to domestication of cattle and rice between 6700-4500 BC in sites such as Koldihwa in the Indo-Gangetic Plains. By 5500 BCE a number of sites similar to Mehrgarh had appeared, forming the basis of later chalcolithic cultures. The inhabitants of these sites maintained trading relations with Near East and Central Asia.

Irrigation was developed in the Indus Valley Civilization by around 4500 BCE. The size and prosperity of the Indus civilization grew as a result of this innovation, which eventually led to more planned settlements making use of drainage and sewers. Sophisticated irrigation and water storage systems were developed by the Indus Valley Civilization, including artificial reservoirs at Ginnar dated to 3000 BCE, and an early canal irrigation system from circa 2600 BCE. Cotton was cultivated in the region by the 5th millennium BCE—4th millennium BCE. Sugarcane was originally from tropical South and Southeast Asia. Different species likely originated in different locations with *S. barberi* originating in India and *S. edule* and *S. officinarum* coming from New Guinea.

By 2800 BCE private bathrooms, located on the ground floor, were found in many houses of the Indus civilization. Pottery pipes in walls allowed drainage of water and there was, in some case, provision of a crib for sitting in toilets. ‘Western-style’ toilets were also made from bricks and used wooden toilet seats on top. The waste was then transmitted to drainage systems. Large scale sanitary sewer systems were in place by 2700 BCE. The drains were 7-10 feet wide and 2 feet below ground level. The sewage was then led into cesspools, built at the intersection of two drains, which had stairs leading to them for periodic cleaning. Plumbing using earthenware plumbing pipes with broad flanges for easy joining with asphalt to stop leaks was in place by 2700 BCE.

The inhabitants of the Indus valley developed a system of standardization, using weights and measures, evident by the excavations made at the Indus valley sites. This technical standardization enabled gauging devices to be effectively used in angular measurement and measurement for construction. Calibration was also found in measuring devices along with multiple subdivisions in case of some devices. The world’s first dock at Lothal (2400 BCE) was located away from the main current to avoid deposition of silt. Modern oceanographers have observed that the Harappans must have possessed knowledge relating to tides in order to build such a dock on the ever-shifting course of the Sabarmati, as well as exemplary hydrography and maritime engineering. This was the earliest known dock found in the world, equipped to berth and service ships.

Excavations at Balakot (c. 2500-1900 BC), present day Pakistan, have yielded evidence of an early furnace. The furnace was most likely used for the manufacturing of ceramic objects. Ovens, dating back to the civilization's mature phase (c. 2500-1900 BC), were also excavated at Balakot. The Kalibangan archeological site further yields evidence of potshaped hearths, which at one site have been found both on ground and underground. Kilns with fire and kiln chambers have also been found at the Kalibangan site.

Based on archaeological and textual evidence, Joseph E. Schwartzberg (2008)—a University of Minnesota professor emeritus of geography—traces the origins of Indian cartography to the Indus Valley Civilization (ca. 2500–1900 BCE). The use of large scale constructional plans, cosmological drawings, and cartographic material was known in India with some regularity since the Vedic period (1 millennium BCE). Climatic conditions were responsible for the destruction of most of the evidence, however, a number of excavated surveying instruments and measuring rods have yielded convincing evidence of early cartographic activity. Schwartzberg (2008)—on the subject of surviving maps—further holds that: “Though not numerous, a number of map-like graffiti appear among the thousands of Stone Age Indian cave paintings; and at least one complex Mesolithic diagram is believed to be a representation of the cosmos.”

Archeological evidence of an animal-drawn plough dates back to 2500 BC in the Indus Valley

Civilization. The earliest available swords of copper discovered from the Harappan sites date back to 2300 BCE. Swords have been recovered in archaeological findings throughout the Ganges-Jamuna Doab region of India, consisting of bronze but more commonly copper.

Early Kingdoms

The religious texts of the Vedic Period provide evidence for the use of large numbers. By the time of the last Veda, the *YajurvedasaChit* (1200-900 BCE), numbers as high as 10^{12} were being included in the texts. For example, the *mantra* (sacrificial formula) at the end of the *annaboma* (“food-oblation rite”) performed during the *avamedha* (“horse sacrifice”), and uttered just before-, during-, and just after sunrise, invokes powers of ten from a hundred to a trillion. The Satapatha Brahmana (9th century BCE) contains rules for ritual geometric constructions that are similar to the Sulba Sutras.

Baudhayana (c. 8th century BCE) composed the *Baudhayana Sulba Sutra*, which contains examples of simple Pythagorean triples, such as: (3,4,5), (5,12,13), (8,15,17), (7,24,25), and (12,35,37) as well as a statement of the Pythagorean theorem for the sides of a square: “The rope which is stretched across the diagonal of a square produces an area double the size of the original square.” It also contains the general statement of the Pythagorean theorem (for the sides of a rectangle): “The rope stretched along the length of the diagonal of a rectangle makes an area which the vertical and horizontal sides make together.” Baudhayana gives a formula for the square root of two.

The earliest Indian astronomical text—named *Vednga Jyotica*—dates back to around 1200 BC, and details several astronomical attributes generally applied for timing social and religious events. The *Vednga Jyotica* also details astronomical calculations, calendrical studies, and establishes rules for empirical observation. Since the texts written by 1200 BCE were largely religious compositions the *Vednga Jyotica* has connections with Indian astrology and details several important aspects of the time and seasons, including lunar months, solar months, and their adjustment by a lunar leap month of *Adhimasa*. *Ritus* and *Yugas* are also described. Tripathi (2008) holds that ‘Twenty-seven constellations, eclipses, seven planets, and twelve signs of the zodiac were also known at that time.’

The Egyptian *Papyrus of Kabun* (1900 BCE) and literature of the Vedic period in India offer early records of veterinary medicine. Kearns & Nash (2008) state that mention of leprosy is described in the medical treatise *Sushruta Sambita* (6th century BCE). However, *The Oxford Illustrated Companion to Medicine* holds that the mention of leprosy, as well as ritualistic cures for it, were described in the Hindu religious book *Atharva-veda*, written by 1500–1200 BCE. Cataract surgery was known to the physician Sushruta (6th century BCE). Traditional cataract surgery was performed with a special tool called the *Jabamukhi Salaka*, a curved needle used to loosen the lens and push the cataract out of the field of vision. The eye would later be soaked with warm butter and then bandaged. Though this method

was successful, Susruta cautioned that it should only be used when necessary. Greek philosophers and scientists traveled to India where these surgeries were performed by physicians. The removal of cataract by surgery was also introduced into China from India. Brahmanic hospitals were established in what is now Sri Lanka as early as 431 BCE. Ashoka (reign: 273 BCE to 232 BCE) also established a chain of hospitals throughout the Mauryan empire (322–185 BCE) by 230 BCE. During the 5th century BCE, the scholar Panini had made several discoveries in the fields of phonetics, phonology, and morphology. Metal currency was minted in India before 5th century BCE, with coinage (400 BCE—100 CE) being made of silver and copper, bearing animal and plant symbols on them.

Zinc mines of Zawar, near Udaipur, Rajasthan, were active during 400 BC. Diverse specimens of swords have been discovered in Fatehgarh, where there are several varieties of hilt. These swords have been variously dated to periods between 1700-1400 BCE, but were probably used more extensively during the opening centuries of the 1st millennium BCE. Archaeological sites in such as Malhar, Dadupur, Raja Nala Ka Tila and Lahuradewa in present day Uttar Pradesh show iron implements from the period between 1800 BC - 1200 BC. Early iron objects found in India can be dated to 1400 BC by employing the method of radio carbon dating. Some scholars believe that by the early 13th century BC iron smelting was practiced on a bigger scale in India, suggesting that the date of the technology's inception may be placed earlier. In Southern India

(present day Mysore) iron appeared as early as 11th to 12th centuries BC. These developments were too early for any significant close contact with the northwest of the country.

Post Maha Janapadas—High Middle Ages (400 BCE—1200 CE)

The *Arthashastra* of Kautilya mentions the construction of dams and bridges. The use of suspension bridges using plaited bamboo and iron chain was visible by about the 4th century. The *stupa*, the precursor of the pagoda and torii, was constructed by the 3rd century BCE. Rock-cut step wells in the region date from 200-400 CE. Subsequently, the construction of wells at Dhank (550-625 CE) and stepped ponds at Bhinmal (850-950 CE) took place.

During the 1st millennium BCE, the Vaisheshika school of atomism was founded. The most important proponent of this school was Kanada, an Indian philosopher who lived around 200 BCE. The school proposed that atoms are indivisible and eternal, can neither be created nor destroyed, and that each one possesses its own distinct *viēca* (individuality). It was further elaborated on by the Buddhist school of atomism, of which the philosophers Dharmakirti and Dignaga in the 7th century CE were the most important proponents. They considered atoms to be point-sized, durationless, and made of energy.

By the beginning of the Common Era glass was being used for ornaments and casing in the region. Contact with the Greco-Roman world added newer

techniques, and local artisans learnt methods of glass molding, decorating and colouring by the early centuries of the Common Era. The Satavahana period further reveals short cylinders of composite glass, including those displaying a lemon yellow matrix covered with green glass. Wootz originated in the region before the beginning of the common era. Wootz was exported and traded throughout Europe, China, the Arab world, and became particularly famous in the Middle East, where it became known as Damascus steel. Archaeological evidence suggests that manufacturing process for Wootz was also in existence in South India before the Christian era.

Evidence for using bow-instruments for carding comes from India (2nd century CE). Early diamonds used as gemstones originated in India. Golconda served as an important early center for diamond mining and processing. Diamonds were then exported to other parts of the world. Early references to diamonds comes from Sanskrit texts. The *Arthashastra* also mentions diamond trade in the region. The Iron pillar of Delhi was erected at the times of Chandragupta II Vikramaditya (375–413). The *Rasaratna Samuccaya* (800 AD) explains the existence of two types of ores for zinc metal, one of which is ideal for metal extraction while the other is used for medicinal purpose.

The origins of the spinning wheel are unclear but India is one of the probable places of its origin. The device certainly reached Europe from India by the 14th century CE. The cotton gin was invented in India as a mechanical

device known as *charkhi*, the “wooden-worm-worked roller”. This mechanical device was, in some parts of the region, driven by water power. The Ajanta caves yield evidence of a single roller cotton gin in use by the 5th century CE. This cotton gin was used until further innovations were made in form of foot powered gins. Chinese documents confirm at least two missions to India, initiated in 647, for obtaining technology for sugar-refining. Each mission returned with different results on refining sugar.

Pingala (fl. 300-200 BCE) was a musical theorist who authored a Sanskrit treatise on prosody. There is evidence that in his work on the enumeration of syllabic combinations, Pingala stumbled upon both the Pascal triangle and Binomial coefficients, although he did not have knowledge of the Binomial theorem itself. A description of binary numbers is also found in the works of Pingala. The use of negative numbers was known in early India, and their role in situations like mathematical problems of debt was understood. Consistent rules for working with these numbers were formulated. The diffusion of this concept led the Arab intermediaries to pass it to Europe.

The decimal number system originated in India. Other cultures discovered a few features of this number system but the system, in its entirety, was compiled in India, where it attained coherence and completion. By the 9th century CE, this complete number system had existed in India but several of its ideas were transmitted to China and the Islamic world before that time. The concept of 0 as a number, and not merely a symbol

for separation is attributed to India. In India, practical calculations were carried out using zero, which was treated like any other number by the 9th century CE, even in case of division. Brahmagupta (598–668) was able to find (integral) solutions of Pell’s equation. Conceptual design for a perpetual motion machine by Bhaskara II dates to 1150. He described a wheel that he claimed would run forever.

The trigonometric functions of Sine and Versine, from which it was trivial to derive the Cosine, were used by the mathematician, Aryabhata, in the late 5th century. The calculus theorem now known as “Rolle’s theorem” was stated by mathematician, Bhaskara II, in the 12th century. In the 12th century, Bhaskara II developed the concept of a derivative and a differential representing infinitesimal change.

Indigo was used as a dye in India, which was also a major center for its production and processing. The *Indigofera tinctoria* variety of Indigo was domesticated in India. Indigo, used as a dye, made its way to the Greeks and the Romans via various trade routes, and was valued as a luxury product. The cashmere wool fiber, also known as *pashm* or *pashmina*, was used in the handmade shawls of Kashmir. The woolen shawls from Kashmir region find written mention between 3rd century BC and the 11th century CE. Crystallized sugar was discovered by the time of the Gupta dynasty, and the earliest reference to candied sugar comes from India. Jute was also cultivated in India. Muslin was named after the city where Europeans first encountered it, Mosul, in what is now Iraq, but the fabric actually originated from Dhaka in what is now Bangladesh.

In the 9th century, an Arab merchant named Sulaiman makes note of the material’s origin in Bengal (known as *Rubml* in Arabic).

Evidence of inoculation and variolation for smallpox is found in the 8th century, when Madhav wrote the *Nidana*, a 79-chapter book which lists diseases along with their causes, symptoms, and complications. He included a special chapter on smallpox (*masurika*) and described the method of inoculation to protect against smallpox. European scholar Francesco I reproduced a number of Indian maps in his magnum opus *La Cartografia Antica dell India*. Out of these maps, two have been reproduced using a manuscript of *Lokaprakasa*, originally compiled by the polymath Ksemendra (Kashmir, 11th century CE), as a source. The other manuscript, used as a source by Francesco I, is titled *Samgrahani*.

References

- Allan, J. & Stern, S. M. (2008), *coin*, Encyclopedia Britannica.
- Allchin, F.R. (1979), *South Asian Archaeology 1975: Papers from the Third International Conference of the Association of South Asian Archaeologists in Western Europe, Held in Paris* edited by J.E.van Lohuizen-de Leeuw, Brill Academic Publishers.
- Ahmad, S. (2005), “Rise and Decline of the Economy of Bengal”, *Asian Affairs*, 27 (3): 5–26.
- Arnold, David (2004), *The New Cambridge History of India: Science, Technology and Medicine in Colonial India*, Cambridge University Press.
- Baber, Zaheer (1996), *The Science of Empire: Scientific Knowledge, Civilization, and Colonial Rule in India*, State University of New York Press.
- Balasubramaniam, R. (2002), *Delhi Iron Pillar: New Insights*, Indian Institute of Advanced Studies.
- BBC (2006), “Stone age man used dentist drill”.
- Bourbaki, Nicolas (1998), *Elements of the History of Mathematics*, Springer.

Revolutionary Movement for Indian independence

Deepak Kumar Rajak

The Revolutionary movement for Indian independence is often a less-highlighted aspect of the Indian independence movement — the underground revolutionary factions. The groups believing in armed revolution against the ruling British fall into this category. The revolutionary groups were concentrated in Maharashtra, Bengal, Orissa, Bihar, Uttar Pradesh and Punjab. More groups were scattered around India.

The underlying philosophy of the revolutionary groups arose largely against the Partition of Bengal (1905), which cemented a Pan-Indian patriotic feeling, increasing in intensity, culminating in the Civil Disobedience of Gandhi. The revolutionaries more often than not considered Gandhi a hero, despite their ways being poles apart.

Beginnings

Apart from a few stray incidents, the armed rebellion against the British rulers was not organized before the beginning of the 20th century. The revolutionary philosophies and movement made its presence felt during the 1905 Partition of Bengal. Arguably, the initial steps to organize the revolutionaries were taken by Aurobindo Ghosh, his brother Barin Ghosh, Bhupendranath Datta and Raja Subodh Mallik when they formed the Jugantar party in April 1906. Jugantar was created as an inner circle of the Anushilan Samiti, which was already present in Bengal mainly as a fitness club.

Bengal

Anushilan Samiti

Established by Pramath Nath Mitra in Kolkata in 1902, Anushilan Samiti became one of the most organized revolutionary associations, especially in the

Eastern Bengal where the Dhaka Anushilan Samiti had several branches and carried out major activities. Jugantar was initially formed by an inner circle of the Kolkata Anushilan Samiti, like the Palmach of Haganah. In the 1920s, the Kolkata faction supported Gandhi in the Non-Cooperation Movement and many of the leaders held high posts in Congress.

Jugantar

Barin Ghosh was the main extremist leader. Along with 21 revolutionaries including Bagha Jatin, he started to collect arms and explosives and manufactured bombs. The headquarters of Jugantar was located at 93/a Baubazar Street, Kolkata.

Some senior members of the group were sent abroad for political and military training. One of them, Hemchandra Qanungo obtained his training in Paris. After returning to Kolkata he set up a combined religious school and bomb factory at a garden house in Maniktala suburb of Calcutta. However, the attempted murder of district Judge Kingsford of Muzaffarpur by Khudiram Bose and Prafulla Chaki (30 April 1908) initiated a police investigation that led to the arrest of many of the revolutionaries.

Bagha Jatin was one of the top leaders in Jugantar. He was arrested, along with several other leaders, in connection with the Howrah conspiracy case. They were tried for treason, the charge being that they had incited various regiments of the army against the ruler.

Jugantar, along with other revolutionary groups, and aided by Indians abroad, planned an armed revolt against the British rulers during the First World War. This plan largely depended on the clandestine landing of German arms and ammunitions in the Indian coast. This plan came to be known as the *Indo-German Plot*. However, the planned revolt did not materialize.

After the First World War Jugantar supported Gandhi in the Non-Cooperation Movement and many of their leaders were in the Congress. Still, the group continued its revolutionary activities, a notable event being the Chittagong armoury raid.

Bengal Volunteers

Bengal Volunteers was a group formed by Subhash Chandra Bose during the Kolkata session of Indian National Congress in 1928 to help the

organisation of the session. However, afterwards the group turned into a revolutionary group with notable revolutionaries like Benoy-Badal-Dinesh being its members.

Punjab

Hindustan Socialist Republican Association

Hindustan Republican Association (HRA) was established in October 1924 in Kanpur by revolutionaries like Ramprasad Bismil, Jogesh Chatterjee, Chandrashekhar Azad, Yogendra Shukla and Sachindranath Sanyal. The aim of the party was to organize armed revolution to end the colonial rule and establish in a *Federal Republic of the United States of India*. The Kakori train robbery was a notable act of mutiny by this group. The Kakori case led to the hanging of Ashfaqullah Khan, Ramprasad Bismil, Roshan Singh, Rajendra Lahiri. The Kakori case was a major setback for the group. However, the group was soon reorganized under the leadership of Chandrashekhar Azad and with members like Bhagat Singh, Bhagwati Charan Vohra and Sukhdev on 9 and 10 September 1928- and the group was now christened Hindustan Socialist Republican Association (HSRA).

In Lahore on 17 December 1928, Bhagat Singh, Azad and Rajguru assassinated Saunders, a police official involved in deadly lathi-charge on Lala Lajpat Rai. Bhagat Singh and Batukeshwar Dutt threw a bomb inside the Central Legislative Assembly. The Assembly Bomb Case trial followed. Bhagat Singh, Sukhdev and Rajguru were hanged in March 1931.

South India

Violent revolutionary activities never took root in South India. The only one was the assassination of collector of Tirunelveli (Tinnevely). On June 17, 1911, Collector of Tirunelveli, Robert Ashe was killed by R. Vanchi Aiyer, who subsequently committed suicide. This was the only one instance of political assassination by revolutionary in South India.

Outside India

India House

The India House was an informal Indian nationalist organisation that existed in London between 1905 and 1910. Initially begun by Shyamji Krishna Varma as a residence in Highgate, in North London, for Indian students to promote nationalist views and work, the house became a centre for intellectual political activities, and rapidly developed to be an organisation that became a meeting ground for radical nationalists among Indian students in Britain at the time, and of the most prominent centres for revolutionary Indian nationalism outside India. *The Indian Sociologist* published by the house was a noted platform for anti-colonial work and was banned in India as “seditious literature”.

The India house was the beginnings of a number of noted Indian revolutionaries and nationalists, most famously V.D. Savarkar, as well as others of the like of V.N. Chatterjee, Lala Har Dayal, V.V.S. Iyer, M. P. T. Acharya who were, over the next decades, key members of revolutionary conspiracies in India as well as the founding fathers of Indian

Communism. The house came to be the focus of Scotland Yard’s work against Indian seditionists, as well as the focus of work for the nascent Indian Political Intelligence Office. India house ceased to be potent organisation after its liquidation in the wake of the assassination of William Hutt Curzon Wyllie by a member of the India House by the name of Madan Lal Dhingra. This event marked the beginnings of London Police’s crackdown on the activities of the house and a number of its activists and patrons, including Shyamji Krishna Varma and Bhikaji Cama moved to Europe from where they carried on works in support of Indian nationalism. Some Indian students, including Har Dayal, moved to the United States. The network that the House founded was key in the nationalist revolutionary conspiracy in India during World War I.

Ghadar Party

Ghadar party was a predominantly Sikh organization that started operating abroad in 1913 “with the view to do-away with the British rule in India”.. The party collaborated with revolutionaries inside India and helped them get arms and ammunition. Lala Hardayal was a prominent leader of the party. The Komagata Maru incident in 1914 inspired several thousand Indians residing in the USA to sell their businesses and rush home in order to participate in the anti-British activities in India. The party had active members in India, Mexico, Japan, China, Singapore, Thailand, Philippines, Malaya, Indo-China and Eastern and Southern Africa.

During World War I, it was amongst the chief participants of the Hindu German Conspiracy.

Berlin Committee

The “Berlin committee for Indian independence” was established in 1915 by Virendra Nath Chattopadhyaya, including Bhupendra Nath Dutt & Lala Hardayal under “Zimmerman plan” with the full backing of German foreign office. Their goal was mainly to achieve the following four objectives: 1: Mobilize Indian revolutionaries abroad. 2: Incite rebellion among Indian troops stationed abroad. 3: Send volunteers and arms to India. 4: Even to Organized an armed invasion of British India to liberate the country.

Pre World War I

Alipore Bomb Conspiracy Case

Several leaders of the Jugantar party including Aurobindo Ghosh were arrested in connection with bomb-making activities in Kolkata. Several of the activists were deported to the Andaman Cellular Jail.

Howrah Gang Case

Most of the eminent Jugantar leaders including Bagha Jatin alias Jatindra Nath Mukherjee who were not arrested earlier, were arrested in 1910, in connection with the murder of Shamsul Alam. Thanks to Bagha Jatin’s new policy of a decentralised federated action, most of the accused were released in 1911.

Delhi-Lahore Conspiracy Case

The Delhi Conspiracy case,

also known as the Delhi-Lahore Conspiracy, hatched in 1912, planned to assassinate the then Viceroy of India, Lord Hardinge, on the occasion of transferring the capital of British India from Calcutta to New Delhi. Involving revolutionary underground in Bengal and headed by Rashbehari Bose, the conspiracy culminated on the attempted assassination on 23 December 1912 when a home-made bomb was thrown into the Viceroy’s Howdah when the ceremonial procession moved through the Chandni Chowk suburb of Delhi. The Viceroy escaped with his injuries, along with Lady Hardinge, although the Mahout was killed.

In the aftermath of the event, efforts were made to destroy the Bengali and Punabi revolutionary underground, which came under intense pressure for sometime. Rash Behari successfully evaded capture for nearly three years, becoming actively involved in the Ghadar conspiracy before it was uncovered, and fleeing to Japan in 1916.

The investigations in the aftermath of the assassination attempt led to the Delhi Conspiracy trial. Although Basant Kumar Biswas was convicted of having thrown the bomb and executed, along with Amir Chand and Avadh Behari for their roles in the conspiracy, the true identity of the person who threw the bomb is not known to this day.

World War I

Indo-German Conspiracy

The Indo-German Conspiracy, also referred to as the Hindu-German Conspiracy or the

Ghadar conspiracy (or Ghadr conspiracy), was formulated during World War I between Indian Nationalists in India, United States and Germany, the Irish Republicans, and the German Foreign office to initiate a Pan-Indian rebellion against The Raj with German support between 1914 and 1917, during World War I. The most famous amongst a number of plots planned to foment unrest and trigger a Pan-Indian mutiny in February 1915, in the British Indian Army from Punjab to Singapore, to overthrow The Raj in the Indian subcontinent. This conspiracy was ultimately thwarted at the last moment as British intelligence successfully infiltrated the Ghadarite movement and arrested key figures. The failed Singapore mutiny remains a famous part of this plot while mutinies in other smaller units and garrisons within India were also crushed.

World War I began with an unprecedented outpouring of loyalty and goodwill towards the United Kingdom from within the mainstream political leadership, contrary to initial British fears of an Indian revolt. India contributed massively to the British war effort by providing men and resources. About 1.3 million Indian soldiers and labourers served in Europe, Africa, and the Middle East, while both the Indian government and the princes sent large supplies of food, money, and ammunition. However, Bengal and Punjab remained hotbeds of anti colonial activities. Terrorism in Bengal, increasingly closely linked with the unrests in Punjab, was significant enough to nearly paralyse the regional administration. With

outlines of German links with the Indian revolutionary movement already in place as early as 1912, the main conspiracy was formulated between the Ghadar Party in United States, the Berlin Committee in Germany, Indian revolutionary underground in India, Sinn Fein and the German Foreign Office through the consulate in San Francisco at the beginning of World War I. A number of failed attempts were made at mutiny, among them the February mutiny plan and the Singapore mutiny. This movement was suppressed by means of a massive international counter-intelligence operation and draconian political acts (including the Defence of India act 1915) that lasted nearly ten years. Other notable events that formed a part of the conspiracy include the Annie Larsen arms plot, the Mission to Kabul that also attempted to rally Afghanistan against British India. The Mutiny of the Connaught Rangers in India, as well as by some accounts, the Black Tom explosion in 1916 are also considered minor events linked to the conspiracy.

The Indo-Irish-German alliance and the conspiracy were the target of a worldwide intelligence effort by the British intelligence agencies which was ultimately successful in preventing further attempts and plans, and in the aftermath of the Annie Larsen affair, successfully directed the American intelligence agencies to arrest key figures at the time she entered World War I in 1917. The conspiracy led to the Lahore conspiracy case in India and the Hindu German Conspiracy Trial in the USA, of which the latter at the

time was one of the longest and most expensive trials in that country. Largely subdued and suppressed by the end of the war, the movement posed a significant threat to British India during World War I and its aftermath, and was a major factor guiding The Raj's India policy.

Tehrek e Reshmi Rumal

During the war, the Pan-Islamist movement also attempted to overthrow the Raj, and came to form a close liaison with the Indo-German Conspiracy. Out of the Deobandi movement arose the Tehrek-e-Reshmi Rumal. The Deobandi leaders attempted to begin a pan-Islamic insurrection in British India during World War I by seeking support from Ottoman Turkey, Imperial Germany, Afghanistan. The plot was uncovered by Punjab CID with the capture of letters from Ubaidullah Sindhi, one of the Deobandi leaders then in Afghanistan, to Mahmud al Hasan another leaders then in Persia. The letters were written in Silk cloth, hence the name of the Silk Letter Conspiracy.

Between the wars

Chittagong Armory Raid

Surya Sen led the attempt to raid the armoury of police and auxiliary forces in Chittagong on 18 April 1930. Some attackers were soon killed or arrested in a gun-fight with the police. Pritilata Waddadar led the attack on Europran club in Chittagong in 1932. Surya Sen was arrested in 1933 and was hanged on 8 January 1934.

Central Assembly Bomb Case (1929)

Bhagat Singh and

Batukeshwar Dutt bombed in the assembly and threw leaflets stating their revolutionary philosophy. Bhagat Singh, Sukhdev and Rajguru were hanged and several other faced the verdict of imprisonment. Batukeshwar Dutt outlived all his comrades and died in July 1965 in Delhi. All of them cremated in ferozpur (Punjab, India).

Baikuntha Shukla, the great nationalist was hanged for murdering Phanindrananth Ghosh who had become a government approved which led to hanging of Bhagat Singh, Sukhdev and Rajguru. He was a nephew of Yogendra Shukla. Baikunth Shukla was also initiated into the freedom struggle at a young age taking active part in the 'Salt Satyagraha' of 1930. He was associated with revolutionary organisations like the Hindustan Seva Dal and Hindustan Socialist Republican Association. The execution of the great Indian revolutionaries Bhagat Singh, Rajguru and Sukhdev in 1931 as a result of their trial in the 'Lahore conspiracy case' was an event that shook the entire country. Phanindra Nath Ghosh, hitherto a key member of the Revolutionary Party had treacherously betrayed the cause by turning an approved, giving evidence, which led to the execution. Baikunth was commissioned to plan the execution of Ghosh as an act of ideological vendetta which he carried out successfully on 9 November 1932. He was arrested and tried for the killing. Baikunth was convicted and hanged in Gaya Central Jail on May 14, 1934. He was only 28 years old.

On 27 February, 1931, Chandrasekar Azad was killed in a

gunfight with the police. It is unclear of the eventual fate of the Association, but the common understanding is that it disbanded with the death of Chandrashekar Azad and the hanging of its popular activists: Bhagat Singh, Sukhdev and Rajguru.

Dalhousie Square Bomb Case

A bomb was thrown on the Calcutta Police Commissioner, Charles Tegart on 25 August, 1930.

Kakori Train Robbery

Chandrasekhar Azad, Ramprasad Bismil, Jogesh Chatterjee, Ashfaqullah Khan, Banwari Lal and their accomplices participated in the robbery of treasury money that was being transported by train. The looting took place between Kakori station and Alamnagar, within 40 miles (64 km) of Lucknow on 9 August, 1925. Police started an intense man-hunt and arrested a large number of rebels and tried them in the Kakori case. Ashfaqullah Khan, Ramprasad Bismil, Roshan Singh, Rajendra Lahiri were hanged, four others were sent to the Cellular Jail in Port Blair, Andaman for life and seventeen others were sentenced to long terms of imprisonment.

World War II

The scenario changed with the years. The British were thinking to quit India and religious politics came into play. The basic political background of revolutionary ideas seemed to evolve in a new direction. The organized revolutionary movements can be said to have nearly ceased by 1936, apart from some stray sparks, like

the killing of Sir Michael O'Dwyer, generally held responsible for the Amritsar Massacre, on 13 March 1940, by Udham Singh in London.

During the Quit India movement of 1942, several other activities took place in different parts of India. However, those were discrete occurrences and hardly any large scale planned terrorism took place that could shake the British administration. Meanwhile, Subhas Chandra Bose was organising an Indian National Army outside India and leading the army towards India, while at the same time the Congress was negotiating with the British. Finally India was free on 15 August 1947, virtually by non-violence against the British but, unfortunately, with lots of bloodshed, rioting and violence among the fellow countrymen (and near-future neighbours) during the partition, which was quite shocking to the past revolutionaries and also to Gandhi.

Many revolutionaries participated in mainstream politics and joined political parties like the Congress and, especially, the communist parties and took part in the parliamentary democracy that was India. On the other hand, many past revolutionaries, being released from captivity, led the lives of common men.

Non-cooperation Movement

It was started by Mahatma Gandhi with the help of the congress leaders. It was started Calcutta in 1920 the movement had two types of objectives - constructive & destructive. in the first place Mahatma Gandhi

started constructive program by popularising Khadhi or hand woven cloth to attain self-reliance. Secondly, the destructive aspect of the movement include boycott of British goods, legislatures, law courts, banks, offices, and educational institutions; and renunciation of titles and honour given by the British. It struggled up to 1922 after that it was stopped by Gandhi because of a bad incidence in which some people who took part in the movement set a police station on fire in which many police officers were killed. Gandhi ji was of opinion no violence should be there in the movement. He became angry so, he stopped the movement.

References

1. Banglapedia article by Mohammad Shah
2. Banglapedia article by Chitta Ranjan Misra and Mohammad Shah
3. The major charge... during the trial (1910–1911) was “conspiracy to wage war against the King-Emperor” and “tampering with the loyalty of the Indian soldiers” (mainly with the 10th Jats Regiment) (cf. *Sedition Committee Report*, 1918)
4. *Rowlatt Report* (§109-110)
5. *First Spark of Revolution* by A.C. Guha, pp. 424-434.
6. Gateway of India article
7. *Study of Sikhism and Punjabi migration* by Bruce La Brack, University of bcbPacifica, Stockton, California
8. Plowman 2003.
9. Hoover 1985.
10. Brown 1948.
11. Pan-Islam in British Indian Politics: A Study of the Khilafat Movement, 1918-1924. (Social, Economic and Political Studies of the Middle East and Asia). M. Naem Qureshi. pp. 79, 80, 81, 82.
12. Sufi Saints and State Power: The Pirs of Sind, 1843-1947. Sarah F. D. Ansari.

UGC NET,
Bihar University

Karma in Jainism

Lakhindra Kumar

In Jainism, karma is the basic principle within an overarching psycho-cosmology, in which human moral actions form the basis of the transmigration of the soul—constrained *within* the temporal world—until one achieves liberation from this cycle, by following a path of purification.

In Jain philosophy, karma not only encompasses the causality of transmigration, but is also conceived of as an extremely subtle matter, which infiltrates the soul—obscuring its natural, transparent and pure qualities. Karma is thought of as a kind of pollution, that taints the soul with various colours. Based on its karma, a soul undergoes transmigration and reincarnates in various states of existence—like heavens or hells, or as humans or animals.

Jains cite inequalities, sufferings, and pain as evidence for the existence of karma. Jain texts have classified the various types of karma according to their effects on the potency of the soul. The Jain theory seeks to explain the karmic process by specifying the various causes of karmic influx (*asrava*) and bondage (*bandha*), placing equal emphasis on deeds themselves, and the intentions behind those deeds. The Jain karmic theory attaches great responsibility to individual actions, and eliminates any reliance on some supposed existence of divine grace or retribution. The Jain doctrine also states that it is possible for us to both modify our karma, and to obtain release from it, through the austerities of purity of conduct.

Many scholars now hold that the doctrine of karma is a pre-Aryan theory, which was probably developed by the Zramanas, later being assimilated into brahmanical Hinduism, by the time of the Upanicads. The Jain concept of karma has been subject to criticism from rival Indian philosophies—like Vedic Hinduism, Buddhism, and Sankhya.

Philosophical Overview

According to Jains, all souls are intrinsically pure in their inherent and ideal state, possessing the qualities

of infinite knowledge, infinite perception, infinite bliss and infinite energy. However, in contemporary experience, these qualities are found to be defiled and obstructed, on account of the association of these souls with karma.

The soul has been associated with karma in this way throughout an eternity of beginningless time. This bondage of the soul is explained in the Jain texts by analogy with gold ore, which—in its natural state—is always found unrefined of admixture with impurities. Similarly, the ideally pure state of the soul has always been overlaid with the impurities of karma.

This analogy with gold ore is also taken one step further: the purification of the soul can be achieved if the proper methods of refining are applied. Over the centuries, Jain monks have developed a large and sophisticated corpus of literature describing the nature of the soul, various aspects of the working of karma, and the ways and means of attaining *moksa*.

Atomic Theory

Jainism speaks of karmic “dirt”, as karma is thought to be manifest as very subtle and microscopically imperceptible particles pervading the entire universe. They are so small that one space-point—the smallest possible extent of space—contains an infinite number of karmic particles (or quantity of karmic dirt). It is these karmic particles that adhere to the soul and affect its natural potency.

This material karma is called *dravya karma*; and the resultant emotions—pleasure, pain, love, hatred, and so on—experienced by the soul are called *bhava karma*, psychic karma. The relationship between the material and psychic karma is that of cause and effect. The material karma gives rise to the feelings and emotions in worldly souls, which—in turn—give rise to psychic karma, causing emotional modifications within the soul. These emotions, yet again, result in influx and bondage of fresh material karma. Jains hold that the karmic matter is actually an agent that enables the consciousness to act within the material context of this universe. They are the material carrier of a soul’s desire to physically experience this world. When attracted to the consciousness, they are stored in an interactive karmic field called *krmana sarira*, which emanates from the soul. Thus, karma is a subtle matter

surrounding the consciousness of a soul. When these two components—consciousness and ripened karma—interact, the soul experiences life as known in the present material universe.

Self Regulating Mechanism

According to indologist Robert J. Zydenbos, karma is a system of natural laws, where actions that carry moral significance are considered to cause certain consequences in the same way as physical actions. When one holds an apple and then lets it go, the apple will fall. There is no judge, and no moral judgment involved, since this is a mechanical consequence of the physical action.

In the same manner, consequences occur naturally when one utters a lie, steals something, commits senseless violence or leads a life of debauchery. Rather than assume that these consequences—the moral rewards and retributions—are a work of some divine judge, Jains believe that there is an innate moral order in the cosmos, self-regulating through the workings of the law of karma. Morality and ethics are important in Jainism not because of a God, but because a life led in agreement with moral and ethical principles (*mahavrata*) is considered beneficial: it leads to a decrease—and finally to the total loss of—karma, which in turns leads to everlasting happiness.

The Jain conception of karma takes away the responsibility for salvation from God and bestows it on man himself. In the words of J. L. Jaini:

Jainism, more than any other creed, gives absolute religious independence and freedom to man. Nothing can intervene between the actions which we do and the fruits thereof. Once done, they become our masters and must fructify. As my independence is great, so my responsibility is co-extensive with it. I can live as I like; but my voice is irrevocable, and I cannot escape the consequences of it. No God, his Prophet or his deputy or beloved can interfere with human life. The soul, and it alone is responsible for all it does.

Predominance of Karma

According to Jainism, karmic consequences are unerringly certain and inescapable. No divine grace can save a person from experiencing them. Only the practice of austerities and self-control can modify or alleviate the consequences of karma.

Even then, in some cases, there is no option but to accept karma with equanimity. The 2nd Century CE Jain text, Bhagavati Aradhana (1616) sums up the predominance of karma in Jain doctrine: “There is nothing mightier in the world than karma; karma tramples down all powers, as an elephant a clump of lotuses.” This predominance of karma is a theme often explored by Jain ascetics in the literature they have produced, throughout all centuries.

Paul Dundas notes that the ascetics often used cautionary tales to underline the full karmic implications of morally incorrect modes of life, or excessively intense emotional relationships. However, he notes that such

narratives were often softened by concluding statements about the transforming effects of the protagonists’ pious actions, and their eventual attainment of liberation.

The biographies of the exploits of legendary persons like Rama (Rma) and Krishna, in the Jain versions of the Ramayana and Mahabharata, also have karma as one of the major themes. The major events, characters and circumstances are explained by reference to their past lives, with examples of specific actions of particular intensity in one life determining events in the next. Jain texts narrate how even Mahavira, the 24th *tirthagkara* (ford-maker), had to bear the brunt of his previous karma before attaining *kevala jnana* (enlightenment). He attained it only after bearing twelve years of severe austerity with detachment. The cranga Sktra speaks of how Mahavira bore his karma with complete equanimity, as follows.

He was struck with a stick, the fist, a lance, hit with a fruit, a clod, a potsherd. Beating him again and again many cried. When he once sat without moving his body many cut his flesh, tore his hair under pain, or covered him with dust.

Throwing him up they let him fall, or disturbed him in his religious postures; abandoning the care of his body, the Venerable One humbled himself and bore pain, free from desires. As a hero at the head of the battle is surrounded by all sides, so was there Mahavira. Bearing all hardships, the Venerable One, undisturbed, proceeded on the road to *nirvana*.

Reincarnation and Transmigration

The hand with a wheel on the palm symbolizes the Jain Vow of Ahimsa. The word in the middle is “ahimsa”. The wheel represents the dharmacakra which stands for the resolve to halt the cycle of reincarnation through relentless pursuit of truth and non-violence.

Karma forms a central and fundamental part of Jain faith, being intricately connected to other of its philosophical concepts like transmigration, reincarnation, liberation, non-violence (*ahimsa*) and non-attachment, among others. Actions are seen to have consequences: some immediate, some delayed, even into future incarnations.

So the doctrine of karma is not considered simply in relation to one life-time, but also in relation to both future incarnations and past lives. *Uttaradhyayana-sutra* 3.3–4 states: “The *jiva* or the soul is sometimes born in the world of gods, sometimes in hell. Sometimes it acquires the body of a demon; all this happens on account of its karma. This *jiva* sometimes takes birth as a worm, as an insect or as an ant.”

The text further states 32.7: “Karma is the root of birth and death. The souls bound by karma go round and round in the cycle of existence.” The actions and emotions in current lifetime, affect the future reincarnations depending on the nature of karmas.

For example, a good and virtuous life indicates a latent desire to experience good and virtuous themes of life. Therefore, such

person attracts karma that ensure that his future births allow him to experience and manifest his virtues and good feelings unhindered. In this case, he may take birth in heaven or in a prosperous and virtuous human family. A person who has indulged in immoral deeds with a cruel disposition indicates a latent desire to experience cruel themes of life.

As a natural consequence, he will attract karma which will ensure that he is reincarnated in hell or in low life forms to enable his soul to experience the cruel themes of life. There is no retribution, judgment or reward involved but a natural consequences of the choices in life made either knowingly or unknowingly. Hence, whatever suffering or pleasure that a soul may be experiencing in its present life is on account of choices that it has made in the past. Hence, Jainism attributes supreme importance to pure thinking and moral behaviour. Apart from Buddhism, Jainism may be the only religion that does not invoke the fear of God as a reason for moral behaviour.

Four States of Existence

The Jain texts postulates four *gatis*, that is, states of existence or birth categories, within which the soul transmigrates: *deva* (demi-gods), *manucya* (humans), *naraki* (hell beings) and *tiryanka* (animals, plants and micro-organisms). These four *gatis* have four corresponding realms or habitation level in a vertically tiered Jain universe. Demi-gods occupy the higher levels where heavens are situated, humans, plants and animals occupy the middle levels

and hellish beings occupy lower levels where the seven hells are situated. Single sensed souls like *nigoda* and element bodied souls pervade the entire universe.

Nigodas are souls at the bottom of this existential hierarchy. They are so tiny and undifferentiated, that they lack even individual bodies, living in colonies and pervading the entire universe. According to Jain texts, these infinite *nigodas* are also found in the plant tissues, root vegetables and animal bodies.

Thus depending on its karmas, a soul transmigrates and reincarnates in these destinies. These four destinies are further divided into sub-categories and still smaller sub-sub categories. In all, Jain texts speak of a cycle of 8.4 million birth destinies in which souls find themselves again and again as they circle through *samsara*. In Jainism, where God has no role to play in ones destiny, these destinies are not seen as a consequence of any rewards or punishment system. They are a result of their own karmas. The ancient Jain canon, *Bhagvati sutra* 8.9.9 links specific states of existence to specific karmas. Violent deeds, killing of creatures having five sense organs, eating fish, etc. leads to birth in hell. Deception, fraud and falsehood leads to birth in animal and vegetable world.

Kindness, compassion and humble character results in human birth while austerities and practice of vows leads to birth in heaven. Each soul is thus responsible for its own predicament, as well as, its own salvation. The accumulated

karmas represent a sum total of all unfulfilled desires, attachments and aspirations of a soul. They enable the soul to experience the various themes of the lives that it desires to experience. Hence a soul may transmigrate from one life form to another for countless of years, taking with it the karmas that it has earned, until it finds conditions that bring about the required fruits. In certain philosophies, heavens and hells are often viewed as places for eternal salvation or eternal damnation for good and bad deeds. But according to Jainism, such places, including the earth are simply the places which allow the soul to experience its unfulfilled karmas.

Lesya – colouring of the Soul

According to the Jain theory of karma, the karmic matter imparts a colour (*lesya*) to the soul depending on the mental activities behind an action. The colouring of the soul is explained through the analogy of crystal, that acquires the colour of the matter associated with it. In the same way, the soul reflects the qualities of colour, taste, smell and touch of associated karmic matter, although it is usually the colour that is referred to when discussing the *lesyas*.

Uttaradhyayana-sutra 34.3 speaks of six main categories of *lesya* represented by six colours – black, blue, grey, yellow, red and white. The black, blue and grey are inauspicious *lesya* due to which the soul takes birth in various unhappy states of existence. The yellow, red and white are the auspicious *lesyas* that enable a soul to take birth in various happy states of existence.

Uttaradhyayana-sutra describes the mental disposition of persons having black and white *lesyas*:

A man who acts on the impulse of the five sins, does not possess the three *guptis*, has not ceased to injure the six (kinds of living beings), commits cruel acts, is wicked and violent, is afraid of no consequences, is mischievous and does not subdue his senses – a man of such habits develops the black *lesya*. — *Uttaradhyayana-sutra*, 34.21:22

A man who abstains from constant thinking about his misery and about sinful deeds, but engages in meditation on the law and truth only, whose mind is at ease, who controls himself, who practises the *samitis* and *guptis*, whether he be still subject to passion or free from passion, is calm, and subdues his senses—a man of such habits develops the white *lesya*. — *Uttaradhyayana-sutra*, 34.31:32

The Jain texts further describe the mental dispositions of a soul on account of *lesyas* with an example of the reactions of six travellers on seeing a fruit-bearing tree. They see a tree laden with fruits and begin to think of getting those fruits: one of them suggests uprooting the entire tree and eating the fruits; the second one suggests cutting the trunk of the tree; the third one suggests simply cutting the branches; the fourth one suggests cutting the twigs and sparing the branch and the tree; the fifth one suggests plucking only the fruits; the sixth one suggests picking up only the fruits that have fallen down.

The thoughts, words and bodily activities of each of these

six travellers are different based on their mental dispositions and are respectively illustrative of the six *lesyas*. The person with the black *lesya*, having evil disposition, thinks of uprooting the whole tree even though he wants to eat only one fruit. On the other hand, the person with the white *lesya*, having pure disposition, thinks of picking up fruits fallen on the ground sparing the tree.

Role of Deeds and Intent

The role of intent is one of the most important elements defining the theory of karma in different philosophies. In Jainism, intent is important but not an essential precondition of sin or wrong conduct. Evil intent forms only one of the modes of committing the sin. Any action done knowingly or unknowingly has karmic repercussions. In certain philosophies like Buddhism, a person is guilty of violence only if he had an intention of violence.

On the other hand, according to Jains, if an act produces violence then the person is guilty of it, whether or not he had an intention to commit it. John Koller explains the role of intent in Jainism with an example of a monk who unknowingly offers poisoned food to his brethren. According to the Jain view, the monk would be guilty of a violent act if they die of the poisoned food. But according to the Buddhist view he would not be guilty.

The crucial difference between the two views is that the Buddhist view excuses the act, categorising it as non-intentional, as he was not aware that food was poisoned,

whereas, the Jain view holds the monk as responsible due to his ignorance and carelessness. Jains argue that the monk's very ignorance and carelessness constitute an intent to do violence and imply correspondingly his guilt.

Thus the absence of intent does not absolve a person from the karmic consequences. Intent is a function of *kacaya* i.e. negative emotions and a quality of mental action. Presence of intent, acts as an aggravating factor increasing the vibrations of the soul, which results in soul absorbing more karma. This is explained by *Tattvarthasutra* 6.7: "Intentional act produces a strong karmic

bondage and unintentional produces weak, shortlived karmic bondage." Similarly, the physical act is also not an essential precondition for binding of karmas; the existence of intent is sufficient. This is explained by Kundakunda (1st Century CE) in *Samayasara* 262–263: "The intent to kill, to steal, to be unchaste and to acquire property, whether these offences are actually carried or not, leads to bondage of evil karmas." Jainism thus places an equal emphasis on the physical act as well as intent for binding of karmas.

References

1. Chapple, Christopher (1990): p. 255.
2. Jaini, Padmanabh (1998): pp. 104–06.
3. Jaini, Padmanabh (1998): p. 107.

4. Kuhn, Hermann (2001): p. 27.
5. Jaini, Padmanabh (1998): p. 112.
6. Shah, Natubhai (1998): p. 262.
7. Jhaveri, B. J. (2001): pp. 1328–29.
8. Kuhn, Hermann (2001): p. 25.
9. Tatia, Nathmal (1994): p. 55.
10. Zydenbos, Robert (2006): p. 34.
11. Zydenbos, Robert (2006) p. 35.
12. Tukul, T.K. (1980): p. 73.
13. Jaini, Padmanabh (2000): p. 76.
14. Krishan, Yuvraj (1997): p. 50.
15. Dundas, Paul (2002): p. 97
16. Dundas, Paul (2002): p. 101.
17. Dundas, Paul (2002): pp. 237–39.
18. Shah, Natubhai: p. 75.
19. Pratt, James (2007): p. 289
20. Kuhn, Hermann (2001) pp. 226–230
21. Krishan, Yuvraj (1997): p. 43.
22. Kuhn, Hermann (2001) pp.70–71
23. Kuhn, Hermann (2001) pp.64–66
24. Kuhn, Hermann (2001) p.15
25. Rankin, Aidan (2006) p.67

**Ahimsa Research
Institute, Basokund, Vaishali**

New Release

THE WORLD OF CHEMISTRY

By Dr. Sapna Kumari

Chemistry is the science concerned with the composition, structure, and properties of matter, as well as the changes it undergoes during chemical reactions. It is a physical science for studies of various atoms, molecules, crystals and other aggregates of matter whether in isolation or combination, which incorporates the concepts of energy and entropy in relation to the spontaneity of chemical processes. Modern chemistry evolved out of alchemy following the chemical revolution.